त्रैमासिक
जुलाई–सितम्बर 2001
पन्द्रह रुपये

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

इस बार विशेष

शेयर बाजार : एक मार्क्सवादी विश्लेषण

फ्रेडरिक एंगेल्स, हरपाल बराड़, तापस चक्रवर्ती, सत्यम वर्मा, प्रो. अरुण कुमार के लेख

भारतीय कृषि का संकट और नरोदवादी–राष्ट्रवादी "मार्क्सवाद"

निरंकुश दमनकारी राज्यतंत्र की ओर धकेलती आर्थिक नीतियां

कौन उबारेगा नेपाल को संकट से

चीन में नव बुर्जुआ शासकों के खिलाफ उठते आन्दोलन

अमेरिका की आपराधिक न्याय व्यवस्था • खाद्यान्न की वैश्विक राजनीति

बंधुआ मुक्ति से मुक्त बाजार व्यवस्था की गुलामी तक

सोवियत राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का एक अहम दस्तावेज

हमारा समय और सृजन का परिप्रेक्ष्य • लू शुन के गद्यगीत

एक नये क्रान्तिकारी नवजागरण–प्रबोधन की मुहिम के सहयात्री बनें!

दायित्वबोध उन बुद्धिजीवियों की एक वैचारिक पत्रिका है जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है, जो विश्व ऐतिहासिक विपर्यय एवं पुनरुत्थान के वर्तमान दौर में भी बेहतर भविष्य से नाउम्मीद नहीं हैं, जो इस बेहतर भविष्य को दूर और उसके लिए नये सिरे से लड़ाई की तैयारी को कठिन मानते हुए भी उससे किसी न किसी रूप में अपने को जोड़े हुए हैं और जो क्रान्तियों की नयी श्रृंखला की सर्जना के लिए आज एक नये क्रान्तिकारी वैचारिक–सांस्कृतिक नवजागरण एवं प्रबोधन के महाउद्यम में, जुट जाने के लिए तत्पर हैं।

विगत 7 वर्षों के दौरान इस महाउद्यम के बेहद छोटे अंग के रूप में दायित्वबोध ने अपनी यात्रा जारी रखी है। दायित्वबोध अपने मिशन में किस हद तक सफल रहा है, यह तय करने का काम हम पाठकों पर छोड़ देते हैं। हां, अपने तईं हम लगाताार असन्तोष के शिकार रहे हैं कि पत्रिका की सामग्री में विविधता और सृजनात्मकता का उस स्तर का समावेश नहीं कर पा रहे हैं, जो हमारी परिकल्पना में है। बहरहाल, हमारे तईं, यह असन्तोष जारी रहना चाहिए, तभी पत्रिका उत्तरोत्तर अधिक परिपक्व होती जायेगी।

अपनी छोटी से टीम और अनेक प्रकार की तकनीकी दिक्कतों के कारण हम दायित्वबोध को अभी नियमित नहीं कर पा रहे हैं, इसके प्रति हमारा सर्वाधिक असन्तोष है, और जाहिर है पाठकों का भी। चूंकि पूरी टीम प्रत्यक्ष राजनीतिक–सामाजिक–सांस्कृतिक जनकार्रवाइयों में भी भरपूर शिरकत करती है, इसलिए भी अक्सर अंक नियमित करने में दिक्कतें आती हैं। अपने पाठकों–सहयोगियों–शुभचिन्तकों का सहयोग हमें निरन्तर मिलता रहा है। लेकिन, अब भी पत्रिका का एक सम्पूर्ण आत्मनिर्भर आर्थिक ताना–बाना नहीं खड़ा हो सका है। पत्रिका को नियमित न बना पाने में यह भी एक अहम कारण रहा है।

इसलिए, पत्रिका को नियमित बनाने की दिशा में लगातार प्रयास जारी रखते हुए इसके आर्थिक ताने–बाने को ज्यादा टिकाऊ स्वरूप देने के लिए हम एक **'विशेष सहभागिता अभियान'** चला रहे हैं। हम अपने सभी पाठकों–सहयोगियों–शुभचिन्तकों से इस अभियान में भरपूर सहयोग की अपील करते हैं। यह सहयोग हमारी मुहिम को जारी रखने में बेहद मूल्यवान होगा।

'विशेष सहभागिता अभियान' में आप इस तरह सहयोग कर सकते हैं :

- ⇨ **पत्रिका का एक स्थायी कोष बनाने के लिए सहयोग दें।**
- ⇨ **पत्रिका की आजीवन सदस्यता लें। आजीवन सदस्यता राशि रु. 1000 है।**
- ⇨ **पत्रिका की वार्षिक सदस्यता लें। वार्षिक सदस्यता रु. 64.00 है (डाक व्यय सहित)। अपने मित्रों-सहकर्मियों को भी सदस्यता हेतु प्रेरित करें।**
- ⇨ **पत्रिका के मद में अपने मित्रों-सहयोगियों से धनराशि एकत्र करें।**
- ⇨ **पत्रिका के वितरण में हाथ बटायें।**
- ⇨ **पत्रिका के अंकों पर अपने-अपने क्षेत्रों में चर्चाएं आयोजित करें और इसकी रपट हमें भेजें।**
- ⇨ **पत्रिका से नियमित संवाद जारी रखने के लिए हमें अपनी बेबाक प्रतिक्रिया-सलाह-सुझाव भेजें।**

आप धनराशि मनीऑर्डर अथवा दायित्वबोध के नाम से चेक या ड्राफ्ट (दिल्ली या लखनऊ में देय) से भेज सकते हैं।

पता : सत्यम वर्मा, 81, समाचार अपार्टमेण्ट, मयूर विहार फेज–1, दिल्ली–110091

क्रान्तिकारी अभिवादन के साथ,

सम्पादक मण्डल, 'दायित्वबोध'

7 भारतीय कृषि का संकट और नरोदवादी-राष्ट्रवादी ''मार्क्सवाद''

उदारीकरण की आर्थिक नीतियों के भारतीय कृषि पर दुष्प्रभावों की चर्चा में गांधीवादी, पर्यावरणवादी, एन.जी.ओ. के लोग, कुलकों-फार्मरों के प्रतिनिधि किसान नेता, किसिम-किसिम के सामाजिक-जनवादी, संसदीय ''वामपंथी'' और क्रान्तिकारी वाम शिविर के घटक संगठन आजकल कमोबेश एक ही भाषा में कर रहे हैं। . ...कहा जा सकता है कि कृषि संकट पर मालिक किसान के नजरिये से, या ज्यादा से ज्यादा छोटे मालिक किसान के नजरिये से सोचने की प्रवृत्ति सिर्फ चुनावी वाममार्गियों के बीच ही नहीं, बल्कि क्रान्तिकारी वामपंथी खेमे में भी हावी दीख रही है। ...यह मार्क्स का नहीं, सिसमोंदी का नजरिया है। यह लेनिनवादी नहीं बल्कि नरोदवादी नजरिया है।

निरंकुश दमनकारी राज्यतंत्र की ओर धकेलती आर्थिक नीतियां

पिछले दस वर्षों में आर्थिक ''सुधारों'' के नाम पर लागू किये नीतिगत फैसलों से देशी और विदेशी पूंजी के खुले खेल के लिए अधिकांश पूर्वशर्तें पूरी कर ली गयी हैं। अब बारी श्रम बाजार की है। अब श्रम कानूनों में ''सुधार'' सरकार की कार्यसूची में पहले नम्बर पर आ गया है। शासक वर्ग ''सुधारों'' के दूसरे चरण की नीतियों को लागू करने के साथ ही दमन की मशीनरी को भी चाक-चौबन्द करते जा रहे हैं। देश की 'आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा' पर खतरों से निबटने के नाम पर की जा रही सारी तैयारियांपुलिस, सैन्य व अर्द्धसैनिक बलों का अत्याधुनिकीकरण, खुफिया तंत्र का आधुनिकीकरण (कुख्यात इस्रायली खुफिया एजेंसी 'मोसाद' से तालमेल) और नये-नये दमनकारी कानूनों की तैयारियांइसी दिशा में केन्द्रित हैं। **26**

चीन में उठते बवण्डर नव बुर्जुआ शासकों को एक पल भी चैन नहीं लेने दे रहे

''पूंजीवादी पथगामी अगर समाजवाद को पराजित कर सत्ता में आ भी गये तो वे कभी भी चैन की सांस नहीं ले सकेंगे।''

देङ सियाओ-पिङ के प्रतिक्रियावादी गिरोह के सत्ता में आने के साथ ही मजदूरों-किसानों के विरोधों-विद्रोहों का जो सिलसिला शुरू हुआ था वह न केवल जारी है वरन अधिक प्रचण्ड और व्यापक रूप लेता जा रहा है। **40**

शेयर बाजार : एक मार्क्सवादी विश्लेषण 15

एक दशक के भीतर दूसरे बड़े शेयर घोटाले को लेकर तमाम पत्र-पत्रिकाओं में छपे अनगिनत लेखों में घोटाले के ब्योरे हैं और घोटाला रोकने के तमाम तकनीकी किस्म के सुझाव-परामर्श दिये गये हैं, लेकिन पूंजीवाद, खासकर आज के पूंजीवाद के चरित्र से जोड़कर गहरे विश्लेषण का अभाव रहा है। ...शेयर बाजार को पूंजीवाद का हृदय, उसके स्वास्थ्य का सूचक कहा जाता है। यह बात आज भी बिल्कुल सही है। सट्टेबाजी, घपलों, घोटालों पर चल रहा आज का शेयर बाजार आज के जुआड़ी, पूरी तरह परजीवी पूंजीवाद के स्वास्थ्य की बिलकुल सही सूचना दे रहा है।

— फ्रेडरिक एंगेल्स, हरपाड़ बराड़, तापस चक्रवर्ती, सत्यम वर्मा और प्रो. अरुण कुमार के लेख

इस अंक में

आपकी बात 4

अपनी बात

भारतीय कृषि का संकट और नरोदवादी-राष्ट्रवादी ''मार्क्सवाद'' 7

विशेष खण्ड : शेयर बाजार—एक मार्क्सवादी विश्लेषण

शेयर घोटाला या जुआड़ी पूंजीवाद का सामान्य कारोबार? *–सत्यम वर्मा* 15
शेयर बाजार पूंजीवाद की परजीवी प्रकृति बढ़ते जाने का द्योतक है 17
बुर्जुआ सभ्यता और अपराध *–कार्ल मार्क्स* 18
शेयर बाजार *–फ्रेडरिक एंगेल्स* 19
मुद्रा सट्टा तथा व्युत्पत्तिक जुआखाना *–हरपाल बराड़* 20
ऐसे हुआ घोटाला *–तापस चक्रवर्ती* 22
नौकरशाही, औद्योगिक घरानों, राजनेताओं और सटोरियों की सांठगांठ का नतीजा है घोटाला *–प्रो. अरुण कुमार* 24

लेख

निरंकुश दमनकारी राज्यतंत्र की ओर धकेलती आर्थिक नीतियां *–ओमप्रकाश* 26
पूंजीवाद की कानूनी लूट को मिटाये बिना भ्रष्टाचार मिटेगा क्या? *–मुकुल* 31
स्तालिन की पुस्तक ***सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं*** की आलोचना *–माओ त्से-तुङ* 33
खाद्यान्न की वैश्विक राजनीति *–फिलिप मैकमाइकेल* 47
मई दिवस : यह है एक गाथा पर आप सबके लिए नहीं...*हावर्ड फास्ट* 55
कौन उबारेगा नेपाल को संकट से *–आलोक रंजन* 66
चीन में नव बुर्जुआ शासकों के खिलाफ उठते बवण्डर *–अरविन्द सिंह* 68
अमेरिका की आपराधिक न्याय व्यवस्था और अपराध का राजनीतिक अर्थशास्त्र *–मीनाक्षी* 72
अमेरिका का विश्वव्यापी कम्प्यूटर जासूसी तंत्र *–सत्यप्रकाश* 75
कौन उठाता है करों का बोझ *–राकेश* 76
बंधुआ मुक्ति से मुक्त बाजार व्यवस्था की गुलामी तक *–शरद कुमार* 77

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज

केन्द्रीय अध्ययन कक्षा को रिपोर्ट *–वाङ हुङ वेन* 38

संस्कृति चिन्तन

हमारा समय और सृजन का परिप्रेक्ष्य 58

साहित्य

तीन गद्यगीत / *लू शुन* 64

साहित्यिक विशालता, उदारता, स्वातंत्र्य जाति के भीतर पैठकर लोगों को तेजस्वी करते हैं। रूस की स्वतंत्रता के पहले उसका साहित्य है। उन महावीर साहित्यिकों के एक-एक रक्तकण से सहस्र-सहस्र वीर साहित्यिक समझदार पैदा हुए। हमारी हिन्दी को ऐसी ही भावना से युक्त साहित्यिकों की आवश्यकता है। सत्य की रक्षा के लिए साहित्यिक अपने प्राणों का बलिदान कर दें। सत्य वही है जो मनुष्य मात्र में है। ज्ञान में हिन्दू, मुसलमान नहीं, विस्तार ही जीवन है। फैलकर अपनी प्रतिभा, कर्म, अध्ययन, उदारता से समस्त ब्रह्माण्ड को अपनाना चाहिए। साहित्यिक उत्कर्ष और मुक्ति का यही मार्ग है।

—निराला

दायित्वबोध

वर्ष 7 अंक 4; अप्रैल-जून 2001

सम्पादक मण्डल
विश्वनाथ मिश्र
अरविन्द सिंह
ओमप्रकाश सिन्हा

सज्जा : **रामबाबू**

आवरण का चित्र : **हरिपाल त्यागी**

सम्पादकीय कार्यालय :
81, समाचार कार्यालय, मयूर विहार-एक, दिल्ली - 110 091 फोन : (011) 2711136
email: dayitvabodh@rediffmail.com

एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 60 रुपये (डाक व्यय 12 रुपए अतिरिक्त)
आजीवन : 1000 रुपये

●

सम्पादन एवं संचालन
पूर्णतः अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

कम्पोजिंग : **कम्प्यूटर प्रभाग,**
राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ-226 010

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम. आई.जी. 134, राप्तीनगर फेज–एक, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित

आपकी बात

'दायित्वबोध' का जनवरी-मार्च '01 अंक यथासमय प्राप्त हो गया था। इसमें नरेश प्रसाद भोक्ता का लेख ''औपनिवेशिक भारत में लोक भाषाओं एवं लिपियों का शिक्षा-व्यवस्था से निष्कासन' मुझे अत्यन्त महत्वपूर्ण लगा। आपने इसे छापकर अपनी जड़ों की ओर देखा है। लोक भाषाओं को बोलने वाले आज भी असभ्य एवं पिछड़े माने जाते हैं। लोक भाषाओं को मारने/नष्ट करने के औपनिवेशिक षड्यंत्र का रोना हम अर्द्धशताब्दी बीत जाने के बाद भी रो रहे हैं। गुलाम भारत की बात जाने दीजिए, लेकिन 1947 के बाद भी सत्ताधारियों के लिए भाषा कोई मुद्दा नहीं बना जबकि भाषा के मसले पर बंगलादेश का निर्माण हुआ, और पंजाब समस्या के मूल में कहीं न कहीं साम्प्रदायिक भाषायी नीति थी। स्वतंत्र भारत की किसी सरकार ने भाषायी नीति तय नहीं की। देखते ही देखते कैथी ही नहीं, न जाने कितनी क्षेत्रीय भाषाएं मर-खप गयीं जिनके अवशेष भी आज ढूंढ़े नहीं मिलते। भाषा के सम्बन्ध में आज भी हम ग्रियर्सन के आंकड़े उदाहरण के रूप में देने को विवश हैं। यह हमारी विडम्बना है। ''शिष्ट भाषा'' के रूप में हमने सर्वथा नकली भाषा का विकास किया और अब तो हिन्दी और अंग्रेजी को 'मिक्स' करके जिस नयी भाषा को नर्सरी से विश्वविद्यालयों तक पनपाया जा रहा है, वह किस नये भाषायी रूप को गढ़ेगी, यह कहना काफी कठिन है।

नौसैनिक विद्रोह से जुड़े श्री सुरेन्द्र कुमार ने निर्भीकता से साम्प्रदायिक तत्वों के चरित्र और लक्ष्य का खुलासा किया है। हम जैसे लोग इस आलेख के लिए उनके कृतज्ञ हैं।

''अपनी बात'' में आपने मौजूदा समय के कई जरूरी सवालों को उठाया है। यह सही है कि लोकवादी होने के लिए लोक जीवन और लोकसंघर्षों में गहरे तक शामिल होना पड़ेगा। लेकिन बौद्धिक विमर्श तक सीमित रहने वाले यह कर पाएंगे क्या? लगता है कि भारतीय समाज में जाति की संरचना को सारे लोगों ने स्वीकार कर लिया है और इस प्रथा को समाप्त करने के लिए संघर्ष संचालित करने की बात अब कहीं नहीं है। पिछड़े और दलित आन्दोलन का लक्ष्य अंततः जातिविहीन समाज का निर्माण होना चाहिए। राजा राममोहन राय के भीतर अन्तरविरोधों को तलाश करने का औचित्य समझ में नहीं आया। अपने समय में उनकी ऐतिहासिक भूमिका थी, और मुझे नहीं लगता कि उनके सुधारों का असर केवल बंगाली शहरी भद्रलोक तक ही सीमित था। किसी भी व्यक्ति या उसके द्वारा संचालित आन्दोलन में कहीं खामियां रह जाती हैं। उसके अपने समय और परिस्थितियों को सामने रखकर ही मूल्यांकन किया जाना चाहिए। मैं भी यह मानता हूं कि सर्वहारा क्रान्तियों की फौरी पराजय से विचारधारा पराजित नहीं हुई है। लेकिन स्थिति अत्यन्त निराशाजनक है, जिससे उबरने के लिए सच्चे क्रान्तिकारियों को लम्बा संघर्ष करना होगा।

सुधीर विद्यार्थी
संपादक 'संदर्श', बीसलपुर, पीलीभीत

एक मित्र के सौजन्य से 'दायित्वबोध' (जनवरी-मार्च 2001) पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इतनी सघन विचारसम्पन्न पत्रिका से अब तक अपने अपरिचय पर मुझे काफी पछतावा हुआ। 'दायित्वबोध' नियमित भेजने का प्रबन्ध कीजिए। सदस्यता राशि भेज भेज रहा हूं।

'अपनी बात' में इतिहास के कार्यस्थगन प्रस्तावकों' और 'युगसत्यों के सन्धानकर्ताओं की यथोचित खबर ली गयी है। विडम्बना है कि अपने ऊपर आंच आने के डर से जनसंघर्षों से अलग-थलग पड़े इन किताबी कीड़ों की एक अच्छी-खासी फसल इन दिनों लहलहा रही है। लाल बहादुर वर्मा और सुभाष गाताड़े जैसों की पराजित आत्मायें आज प्रगतिशील वामपंथी आन्दोलन के भीतर काफी प्रचुर मात्रा में प्रदूषण फैला रही हैं। क्रान्तिकारी चोला पहने इन नववाममार्गियों की आपने बिल्कुल सटीक तुलना उन रात्रिचर ''योद्धाओं'' से की है जो युद्ध की

पाठकों से,

कुछ मजबूरियों के चलते 'दायित्वबोध' का अप्रैल-जून 2001 अंक प्रकाशित नहीं हो सका। पिछले अंक (जनवरी-मार्च 2001) के बाद यह अंक आपके हाथों में है। सम्पादक

समाप्ति के बाद रात के सन्नाटे में चोरों की तरह लाशों पर झपटते और लूटपाट करते हैं। ये जमातें वृद्ध पूंजीवाद की उन वैचारिक सन्तानों से कम खतरनाक नहीं है जो आज तरह-तरह के उत्तर-सिद्धान्तों की कै कर रहे हैं।

भारतीय क्रान्ति के कई जटिल प्रश्न हैं कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास और वर्तमान की कई गुत्थियां हैं जिन्हें सुलझाना तो पड़ेगा ही, उनसे आंख चुराने से भी काम नहीं चलने वाला, लेकिन ऐसा करते समय सबसे पहला सवाल तो रुख का है, जिसे सबसे पहले हल करना पड़ेगा। मुझे लगता है कि इन गुत्थियों और प्रश्नों को सुलझाने की कोशिश करते हुए वर्मा जी और गाताडे जी जैसे लोग बेऔकात हो गये हैं। रसूल हमजातोव की प्रसिद्ध पुस्तक 'मेरा दागिस्तान' के पहले पन्ने पर एक उद्धरण है : ''अगर तुम अतीत पर पिस्तौल से गोली दागोगे तो भविष्य तुम्हारे ऊपर तोप से गोले बरसायेगा।'' ऐसे लोग जिस तरह कम्युनिस्ट आन्दोलन के अतीत की गलतियों की समीक्षा कर रहे हैं, वैसे में इनका भविष्य क्या होना है?

दलित प्रश्न, स्त्री प्रश्न, पर्यावरण प्रश्न आदिवासी प्रश्न, विस्थापन का सवाल—ये सभी गैर मुद्दे हैं, ऐसा मैं भी नहीं मानता। इन प्रश्नों पर आज सही मार्क्सवादी रुख अपनाते हुए भारतीय क्रान्ति की व्यापक परियोजना का अंग तो इन्हें बनाना ही होगा। लेकिन यह एन.जी.ओ. ब्राण्ड प्रगतिशीलों के निठल्ले विमर्श से नहीं होगा। यह ''घर के पिछवाड़े समुद्र देखकर उसमें जनान्दोलनों की लहर उठने'' का इंतजार करते हुए नहीं हो सकता। इसके लिये तो जनता के जीवन के साथ उसी तरह का रिश्ता बनाना पड़ेगा जैसा कि माओ ने निर्दिष्ट किया है, 'मछली और पानी का रिश्ता'। क्रान्तिकारी मछली के समान हैं और जनता सागर के समान। सागर से अलग होकर मछलियां तड़फड़ाकर मर जाती हैं। मुझे तो लगता है कि जो लोग जनता को संगठित करने की व्यावहारिक कार्रवाइयों से दूर हटकर 'राम झरोखा क्रान्तिकारी' बन जाते हैं, उनकी वर्गीय धुरी बहक जाती है और वर्गीय अवस्थिति अपनाने की बुनियादी मार्क्सवादी सोच के अलावा बाकी सभी तरह की सोचें उन्हें बेहद-बेहद महत्वपूर्ण लगने लगती है।

कभी-कभी मुझे चिन्ता होती है, अवसाद सा घेर लेता है, यह सोचते हुए कि प्रगतिशील आन्दोलन के भीतर इतनी भारी मात्रा में उग आये खर-पतवारों का सफाया हो भी पायेगा या नहीं। लेकिन, 'दायित्वबोध' जैसे वैचारिक 'पेस्टीसाइड' की जानकारी मिली है, अब थोड़ा आश्वस्त हो सकता हूं। मुझे अपने अभियान का हमसफर समझिये।

परमात्मा प्रसाद
शिवहर (बिहार)

कम्युनिस्ट धरोहर को लांछित करने का फलदायी धंधा

कम्युनिस्ट आन्दोलन को गरियाने का काम न जाने कब से एक फलदायी धंधा बना हुआ है। हिन्दी में यह काम कभी साहित्य में अज्ञेय और भारती के झंडे के नीचे तो कभी आज महात्मा बुद्ध की मुद्रा धारण किये हुए निर्मल वर्मा करते रहे और करते आये हैं। उनके मार्ग-निर्देशक कौन थे और कौन हैं, यह भारत की राजनीति के ककहरे से परिचित हर व्यक्ति जानता है। परन्तु दुर्भाग्य तो यह है कि खुद कम्युनिस्ट आन्दोलन से एक समय के जुड़े लोग भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन पर अपनी धरोहर का तिरस्कार करने अथवा राष्ट्रीय धाराओं से विमुख होने का आरोप लगा रहे हैं। कम्युनिस्ट आन्दोलन अपनी किन धरोहरों पर गर्व कर सकता है और करता है? तेभागा, तेलंगाना, पुनप्रा-वायलार, नौसेना विद्रोह, नक्सलबाड़ी का शंखनाद, पंजाब में आतंकवाद को विफल बनाने में कम्युनिस्टों का बलिदान..... यह सब हैं समकालीन इतिहास के मील के पत्थर। भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, चन्द्र सिंह गढ़वाली, राहुल सांकृत्यायन, ये हैं वे दीप-स्तम्भ, जो कम्युनिस्टों की धरोहर के रचयिता हैं। किसने और कब उनकी युगान्तरकारी भूमिका से इन्कार किया है?

समाजवाद की ओर उन्मुख कम्युनिस्टों से निश्चय ही अनेक और भांति-भांति की गलतियां हुई हैं। परन्तु समाजवाद की तलाश और निर्माण तो प्रयोगों की एक अटूट श्रृंखला है, जिसकी कड़ियां टूटती और जोड़ी जाती रही हैं। यह है भारत में समाजवाद के प्रगति पथ का इतिहास जो सतत प्रवहमान है और जिसे इस कारण किसी का फतवा और अन्तिम विवेचन स्वीकार्य नहीं है। विजय की आखिरी मंजिल तक पहुंचने में भारत में भी कम्युनिस्ट आन्दोलन को शायद पेरिस कम्यून, सोवियत संघ और चीन की नियतियां झेलनी पड़ेंगी। कम्युनिस्ट विचारधारा विज्ञानसम्मत होती है, जो न तो विजय की कल्पित भविष्यवाणियां करती है और न विफलता पर छाती पीटती है। इतिहास के लिए कार्य-स्थगन प्रस्तावों की जिस प्रणेता मंडली की ओर 'दायित्वबोध' (जनवरी-मार्च 2001) में इशारा किया गया है, वह यदि उपहास की नहीं तो दया की पात्र अवश्य है।

परन्तु खतरा कुछ और ही है। जिस तरह से इस समय वर्ण-व्यवस्था, जाति प्रथा, पिछड़ी और उन्नत श्रेणियों के प्रश्न को वर्ग के स्थान पर प्रतिष्ठापित किया जा रहा है और उससे पैदा फसल भी बटोरी जा रही है, वह वास्तव में इस देश के भविष्य के लिए असल खतरे की घंटी है, जहां सत्ता में जमे लोग वंचित वर्गों की राह रोकने के लिए जातिवाद के अग्निकुण्ड में तेल डाल रहे हैं। यह है असल खतरा। यहां दक्षिण अमरीका के कुछ देशों की चर्चा करना समीचीन होगा। वहां अमरीका द्वारा बिठाये गये कुछ तानाशाहों का तख्ता उलटने के लिए चर्च का उपयोग किया गया (और मजे की बात यह है कि यह काम भी अमरीका के ही इशारों पर किया गया)। नतीजा यह हुआ कि चर्च तो देर तक साथ रहा नहीं, अलबत्ता समाज की अग्रगामी शक्तियां संसदवाद के दलदल में जा धंसीं। जातिवाद आज पूंजीपति वर्ग की ही बदौलत कायम है, भले ही उसका मुखौटा मुलायम सिंह यादव हों या ठाकुर राजनाथ सिंह अथवा पंडित कलराज मिश्र या फिर स्वनामधन्य लालू प्रसाद यादव और बहिन मायावती। राजेन्द्र यादव जैसे लोग इनमें से कुछ नाम सुनकर अचेतन होकर अपने ही दीमक खाये दुर्ग द्वार पर दस्तक न देने लगें। इन छद्म समाजवादियों की असलियत लेनिन से अधिक स्तालिन ने पहचानी थी, क्योंकि लेनिन के हाथों में सत्ता की बागडोर 3-4 साल ही रही, छद्म समाजवादियों से असल लड़ाई तो स्तालिन को करनी पड़ी थी। (यह भी इतिहास का पन्ना है, जिसे भूलने की रूस को भारी कीमत चुकानी पड़ी)। परन्तु यहां लेनिन की एक चेतावनी सदैव ध्यान में रखनी होगी : **''नयी व्यवस्था (समाजवादी-अनु.) अवर्णनीय दुखों-कष्टों के बीच जन्म ले रही है, कुछ ऐसे हैं, जिनका दिमाग (हर्ष के कारण -अनु.) चकरा रहा है, कुछ ऐसे हैं जिन्हें विषाद ने घेर लिया है और कुछ ऐसे हैं जो कभी-कभी मधुर ध्वनियों तथा प्रलोभनकारी फिकरों की आड़ में मुक्ति तलाशते हैं।** (''हमारे समय का मुख्य कार्यभार'', इज्वेस्तिया, 12 मार्च 1918)।

भारत में कम्युनिज्म की पवित्र धरोहर की चर्चा करते समय क्षणिक हर्ष और विषाद

से बचने के लिए लेनिन की यह बात अत्यन्त प्रासंगिक है।

सुरेन्द्र कुमार, 208, समाचार अपार्टमेण्ट, मयूर विहार-एक, दिल्ली-91

चिर-प्रतीक्षित 'दायित्वबोध' का अंक (जनवरी-मार्च '01) मिला। यह अंक भी उसी वैचारिक परम्परा में है। मुझे कई बार लगता है कि दायित्वबोध का हरेक अंक इतना जरूरी और सूचनाओं/बहस से लैस होता है कि प्रत्येक पर अलग से विचार-गोष्ठी रखी जानी चाहिए। सम्पादकीय पता बदल गया और अब आप दिल्ली में हैं—लड़ाई और धारदार होगी।

-मनोज शर्मा, नाबार्ड नगर, मुम्बई

मैं पिछले आठ वर्षों से 'दायित्वबोध' का नियमित पाठक हूं। पत्रिका के मूल्यवान लेखों से मैं समृद्ध होता रहा हूं। यह ज्ञान के क्षेत्र में नये क्षितिज उद्घाटित करती है और हिन्दी भाषा के विकास में मददगार है। समूची पत्रिका प्रगतिशील चिन्तन के इर्दगिर्द केन्द्रित है। मैं यह गम्भीरता के साथ महसूस करता हूं कि पत्रिका के विचारों एवं मिशन को व्यापक आधार देने के लिए और इस क्षेत्र के लोगों के चिन्तन में अपनी पैठ बनाने के लिए पूर्वोत्तर भारत में आपकी टीम एक नया केन्द्र खोले। पत्रिका में सांस्कृतिक आयामों के सम्बन्ध में मार्क्सवादी चिन्तन को जगह मिलनी चाहिए जिससे आम लोगों के चिन्तन में व्याप्त अनेकानेक दिग्भ्रमों का निवारण हो सके।

- डा. सत्यपाल पोद्दार रीडर, इतिहास विभाग, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, अगरतला (ईमेल पर प्राप्त)

- 'दायित्वबोध' निरन्तर प्रतिबद्ध साहित्य का प्रतिनिधित्व कर रहा है। पर आपने अभी अपनी टीम में मुझे शामिल नहीं किया है।

- पलाश विश्वास, सोदपुर, प.बं.

- जनवरी-मार्च '01 अंक मिला। अफसोस की बात है कि अपरिहार्य कारणों से अक्टूबर-दिसम्बर 2000 अंक नहीं निकल सका। पत्रिका का तेवर उत्कृष्ट ही नहीं वरन सामग्री का चयन, देश के राजनीतिक क्षितिज की दशा-दिशा का सक्षम सिंहावलोकन दृष्टव्य है। वैश्वीकरण का आक्टोपस जनता का सुख-चैन जिस प्रकार छीन रहा है वह यक्ष प्रश्न बनकर खड़ा है। 21वीं शताब्दी की यह दशाब्दी भयानक मन्दी एवं जनता के कष्ट से कष्टतर जीवन की साक्षी बनेगी। यह अमेरिकी साम्राज्यवादी-फासिस्ट नीति के कारण उत्पन्न होगी।

- रामेश्वर प्रसाद सिंह, दरभंगा (बिहार)

-'दायित्वबोध' पत्रिका पहली बार पढ़ी मैंने। अंक है - जनवरी-मार्च 2001। 'अपनी बात'' के तहत लम्बे विचारात्मक निबन्ध में आपने पूरे तीखेपन के साथ विचारों को तथ्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। आप साधुवाद के पात्र हैं। आशा है भविष्य में भी इस तरह के लेख-निबन्ध प्रकाशित करते रहेंगे।

- अजय कुमार मिश्र, तिगड़ी, नई दिल्ली

दायित्वबोध यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश • संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, **गोरखपुर** • जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर** • विजय इन्फॉर्मेशन सेंटर, कचहरी बस स्टैण्ड, **गोरखपुर** • स्टुडेन्ट्स कार्नर, सिनेमा रोड, गोलघर, **गोरखपुर** • अक्षरा स्टेशनर्स, स्टशेन रोड, **गोरखपुर** •राहुल फाउण्डेशन, 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, **लखनऊ** • जनचेतना स्टाल, निकट काफी हाउस, हजरतगंज, **लखनऊ** (शाम पांच से साढ़े आठ) • डी-68, निराला नगर, आई.टी. चौराहा, **लखनऊ** • विमल कुमार, मैग्जीन स्टाल, निकट नीलगिरि काम्प्लेक्स, ए ब्लाक, इंदिरानगर, **लखनऊ** • इण्डियन बुक डिपो, अमीनाबाद, **लखनऊ** • विश्वनाथ मिश्र, भूमि एवं जल संरक्षण विभाग, नेशनल पी.जी.कालेज, **बड़हलगंज, गोरखपुर** • शहीद पुस्तकालय, द्वारा, डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादपुर, मऊ** • सबद, 171, कर्नल गंज (स्वराज भवन के सामने) **इलाहाबाद** • श्री मुचकुंद, प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, विश्वनाथ मंदिर गेट,बीएचयू, **वाराणसी** • अरुण कुमार चौबे, सर्वोदय बुक स्टाल, प्लेटफार्म नं. 5, रेलवे स्टेशन, **वाराणसी कैंट** • प्रो. प्यारेलाल, 139, फूलबाग कालोनी, पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय, **पंतनगर** • रामपाल सिंह, भारतीय जीवन बीमा निगम, आवास विकास, रुद्रपुर, **ऊधमसिंह नगर** • डी.के. सचान, कृषि विज्ञान केन्द्र, 243, विकास भवन, नई कलक्ट्रेट, गाजियाबाद • रवीन्द्र कुमार, भारतीय जीवन बीमा निगम, शाखा कार्यालय, **पंतनगर** • करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, (फूलबाग के सामने), **कानपुर** • प्रतिभा प्रकाशन, (पेप्सी होटल के नीचे), स्टेशन रोड, **बलिया** • राजेन्द्र प्रसाद, रेणु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, रेणुकूट, **सोनभद्र** • नेशनल न्यूज एजेन्सी, पल्टन बाजार, **देहरादून** • डा. पी.एस. कुशवाहा, ओल्ड हास्टल, सेंट जॉन्स कालेज, आगरा-2 • गार्गी विक्रय पटल, 127, न्यू आवास विकास कालोनी, **सहारनपुर**

दिल्ली • सत्यम वर्मा, 81, समाचार अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज-एक • बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, मण्डी हाउस • गीता बुक सेण्टर, शापिंग काम्प्लेक्स, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय • पत्रिका मण्डप, दिल्ली वि.वि. कोआपरेटिव स्टोर्स लि., दिल्ली विश्वविद्यालय • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मरीना होटल बिल्डिंग, कनाट प्लेस • विजय मैग्जीन स्टाल, रिजर्व बैंक के पास, संसद मार्ग • नई किरन पुस्तक भंडार, एफ-56, ओखला टैंक, हरिकेश नगर, **दिल्ली**

बिहार • समकालीन प्रकाशन, पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना** • मैग्जीन कार्नर, नाला रोड, दिनकर चौक, **पटना** • बी. प्रशान्त, कन्हौली (बी.एम.पी.-6 से पूरब), **मुजफ्फरपुर** • विद्यानन्द सिंह, वार्ड न. 4, **सुपौल** • भुवन वेणु, 'प्रतीक्षा', मधुबनी, चूनापुर रोड, **पूर्णिया**

पंजाब •सुखविन्दर, द्वारा का. दशरथ लाल, म.नं. -14, लेबर कालोनी, गिल रोड, **लुधियाना** • राणा बुक स्टोर, पी.यू.डी.ए. आफिस के पास, भागू रोड, **बठिंडा** • का. अवतार सिंह, ग्राम व पोस्ट-रायखाना, तहसील-तलवंडी साबो, जिला **बठिंडा**

हरियाणा • नरभिन्दर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, ग्रा.-पो.-संतनगर, जि.-**सिरसा** • पंकज, प्लॉट नं. 33, सेक्टर-15, **सोनीपत** • राजीव रंजन, द्वारा पाश पुस्तकालय, पुलिस लाइन **करनाल** • सुरेश जांगिड़, अक्षर धाम, सुकीर्ति प्रिंटर्स, डी.सी. निवास के सामने, करनाल रोड, **कैथल**

राजस्थान • कविता, द्वारा योगेश कुमार, 94, त्रिवेणी नगर (गोपालपुरा बाइपास), **जयपुर** • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधों की गली, एम.डी. रोड, **जयपुर** • बुक्स एंड न्यूज मार्ट, एम. आई.रोड, **जयपुर** • सुभाष शर्मा, 221, उत्तरी सुन्दरवास, **उदयपुर**

महाराष्ट्र • सतीश कालसेकर, पीपुल्स बुक हाउस, मेहर हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, **मुम्बई** • परिदृश्य प्रकाशन, 6, दादी संतुक लेन, इंजीनियर हाउस, धोबी तालाब, **मुम्बई** • शैलेश वाकड़े, विजयालक्ष्मी नगर, टीचर्स कालोनी, बल्लारपुर, **चन्द्रपुर**

हिमाचल प्रदेश • एस.आर. हरनोट, हिमाचल पर्यटन विकास निगम, रिट्ज एनेक्सी, **शिमला**

प. बंगाल • पुस्तक केन्द्र, भारतीय भाषा परिषद, शेक्सपियरसरणी, **कोलकाता** • श्याम अविनाश, पी. एन. घोष स्ट्रीट, **पुरुलिया** • बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कलकत्ता** • न्यू होराइजन बुक ट्रस्ट, 57/1, पटुआटोला लेन, **कोलकाता** • राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मन्दिर, प्रधाननगर, सिलीगुड़ी, **दार्जीलिंग** • जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो.आ. केरन, जि.-**जलपाईगुड़ी**

आन्ध्र प्रदेश • गोविन्द अक्षय, 'सारस्वत सदन', 13/6/411/2, रामसिंहपुरा, कारवान, **हैदराबाद**

मध्यप्रदेश • जयप्रकाश जायसवाल, 'पितृछाया,' अमृत सागर कालोनी, एम.आई.जी. 96-97, **रतलाम** • चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, **जगदलपुर, बस्तर** • 'विकल्प' सांस्कृतिक मोर्चा, 22, स्वास्तिक काम्प्लेक्स, रसल चौक, **जबलपुर**

नेपाल • संगम पुस्तक पसल, वीरेन्द्र नगर, थेरी अंचल, जिला-सुर्खेत, मध्य पश्चिमांचल क्षेत्र • विश्व नेपाली पुस्तक पसल, अस्पताल लाइन, बुटवल, लुम्बिनी • प्रगति पुस्तक पसल, डिल्ली बाजार, ओकालो, **काठमांडू**

अपनी बात

भारतीय कृषि का संकट और नरोदवादी–राष्ट्रवादी ''मार्क्सवाद''

यह बड़ी विचित्र बात है कि उदारीकरण के दौर की आर्थिक नीतियों के भारतीय कृषि पर जो दुष्प्रभाव सामने आ रहे हैं उनकी चर्चा गांधीवादी, पर्यावरणवादी, एन.जी.ओ. के लोग, कुलकों-फार्मरों के प्रतिनिधि किसान नेता, किसिम-किसिम के सामाजिक-जनवादी, संसदीय ''वामपंथी'' और क्रान्तिकारी वाम शिविर के घटक संगठन आजकल कमोबेश एक ही भाषा में कर रहे हैं।

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की नासमझी या अधकचरी समझ से भी अधिक यह बुनियादी वर्ग-अवस्थिति से ही विचलन है कि भूमि-सम्बन्धों और किसान आबादी के विभेदीकरण के प्रश्न को भुलाकर—या यूं कहें कि वर्ग-विश्लेषण एवं वर्ग-संश्रय के प्रश्न को ही तिलांजलि देकर, क्रान्तिकारी वाम साहित्य में आज प्रायः वर्गेतर भाषा में भारतीय कृषि के संकट और सम्भावित विनाश की चर्चा की जा रही है। आज का क्रान्तिकारी साहित्य इस चीख-पुकार से भरा दीख रहा है कि उदारीकरण की नीतियां खेती और किसानों को किसतरह तबाह कर रही है। **चर्चा प्रायः इस रूप में हो रही है कि किसान उजड़ रहे हैं! कौन से किसान उजड़ रहे हैं—बड़े या छोटे? कौन ज्यादा उजड़ रहे हैं? क्या बड़े और छोटे व मंझोले किसानों के संकट और तबाही की प्रकृति मात्रा और गुण की दृष्टि से एक सदृश है? क्या सर्वहारा क्रान्तिकारी इन सबका समान रूप से पक्षधर होगा? और फिर गांव के उजरती गुलामों—सर्वहाराओं-अर्द्धसर्वहाराओं की तबाही-बर्बादी के बारे में कौन सोचेगा? उनकी तबाही की चर्चा तो सिरे से गायब है, या फिर नगण्य है! कहा जा सकता है कि कृषि संकट पर मालिक किसान के नजरिये से, या ज्यादा से ज्यादा छोटे मालिक किसान के नजरिये से सोचने की प्रवृत्ति सिर्फ चुनावी वाममार्गियों के बीच ही नहीं, बल्कि क्रान्तिकारी वामपंथी खेमे में भी हावी दीख रही है। चाहे खाद्यान्न-आयात का सवाल हो, सब्सिडी घटाने-खत्म करने का सवाल हो या लाभकारी मूल्य का सवाल हो, हर मामले में एक ही प्रवृत्ति दीख रही है। यह एक किस्म का 'आर्थिक रोमाण्टिसिज्म' है। यह माल-उत्पादक छोटे मालिक किसान का यूटोपिया है। यह संरक्षणवाद मुख्यतः कुलक-हितपोषक है। यह मार्क्स का नहीं, सिसमोंदी का नजरिया है। यह लेनिनवादी नहीं बल्कि नरोदवादी नजरिया है।**

यह बड़ी विचित्र बात है कि उदारीकरण के दौर की आर्थिक नीतियों के भारतीय कृषि पर जो दुष्प्रभाव सामने आ रहे हैं उनकी चर्चा गांधीवादी, पर्यावरणवादी, एन.जी.ओ. के लोग, कुलकों-फार्मरों के प्रतिनिधि किसान नेता, किसिम-किसिम के सामाजिक-जनवादी, संसदीय ''वामपंथी'' और क्रान्तिकारी वाम शिविर के घटक संगठन आजकल कमोबेश एक ही भाषा में कर रहे हैं।

कुछ पराजित आत्माएं साम्राज्यवाद के नये हमले का मुकाबला राष्ट्रवाद की जमीन पर खड़े होकर करना चाहती हैं और (गांव के उजरती गुलामों के महासागर की अनदेखी करते हुए) किसानों की तबाही के खिलाफ नरोदवाद की जमीन पर खड़े होकर लड़ना चाहती हैं।

यह पूंजीवाद के जन्मकाल से ही मौजूद निम्न पूंजीवादी समाजवाद का ही एक नया संस्करण है। हम अपने बिरादरों को **'कम्युनिस्ट घोषणापत्र'** में निम्न पूंजीवादी समाजवाद की चर्चा करते हुए **मार्क्स-एंगेल्स** द्वारा कही गयी कुछ बातों को यहां उद्धृत करना चाहते हैं :

''फ्रांस जैसे देशों में, जहां आधी से अधिक आबादी किसानों की है, यह स्वाभाविक था कि जो लेखक पूंजीपति वर्ग के खिलाफ सर्वहारा वर्ग का साथ देते थे, वे पूंजीवादी शासन-व्यवस्था की अपनी आलोचना में छोटे किसानों और निम्न पूंजीपतियों के मानदण्ड का प्रयोग करते थे और मजदूर वर्ग के समर्थन में इन्हीं निचले वर्गों के दृष्टिबिन्दु से आवाज उठाते थे। निम्न पूंजीवादी समाजवाद की उत्पत्ति इसीतरह से हुई। न केवल फ्रांस में, बल्कि इंग्लैण्ड में भी इस मत के नेता सिसमोंदी थे।

''समाजवाद की इस शाखा के अनुयाइयों ने आधुनिक उत्पादन की अवस्थाओं के अन्तरविरोधों का बहुत ही बारीकी के साथ विश्लेषण किया। अर्थशास्त्रियों की ढोंगपूर्ण वकालतों का उन्होंने

पर्दाफाश किया। मशीनों के उपयोग और श्रम-विभाजन के विनाशकारी परिणाम, पूंजी और भूमि का मुट्ठीभर लोगों के हाथों में संकेन्द्रित होना, अतिउत्पादन और संकट, इन सबको उन्होंने अकाट्य रूप से प्रमाणित किया। उन्होंने निम्नपूंजीपति वर्ग और किसानों की बर्बादी की अवश्यम्भाविता, सर्वहारा वर्ग की दुर्दशा, उत्पादन में अराजकता, धन के वितरण में घोर असमानता, एक दूसरे को खत्म कर देने के लिए राष्ट्रों के बीच औद्योगिक युद्धों, पुराने नैतिक बन्धनों के विच्छेदन, पुराने पारिवारिक सम्बन्धों और पुरानी जातियों के विघटन की ओर इशारा किया।

''किन्तु अपने सकारात्मक उद्देश्यों में इस तरह का समाजवाद या तो यह चाहता है कि उत्पादन और विनिमय के पुराने साधनों को, और उनके साथ पुराने सम्पत्ति-सम्बन्धों को और पुराने समाज को फिर से कायम कर दिया जाये, या उत्पादन के और विनिमय के आधुनिक साधनों को उन्हीं पुराने सम्पत्ति-सम्बन्धों के शिकंजे में कस दिया जाये जिन्हें उन्होंने तोड़ दिया था और जिनका इन साधनों के जरिये टूटना अनिवार्य था। दोनों हालतों में यह समाजवाद प्रतिक्रियावादी और कल्पनावादी दोनों है।''

मार्क्स-एंगेल्स ने तत्कालीन पश्चिमी यूरोप की स्थितियों के आधार पर लिखा था कि ''*अन्त में जब निर्मम ऐतिहासिक वास्तविकता ने आत्मवंचना का नशा उतार दिया तो समाजवाद का यह रूप खुमारी के दौरे में आप से आप खत्म हो गया।''* लेकिन समय ने दिखाया कि यह खुमारी लेनिन के समय में रूस में भी नरोदवादियों और फिर समाजवादी क्रान्तिकारियों को किसी न किसी रूप में चढ़ी रही और आज पूंजी के भूमण्डलीकरण के दौर में, जब नवक्लासिकी पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के वर्चस्व के दावे किये जा रहे हैं, तो यह खुमारी क्रान्तिकारी वाम के बड़े हिस्से के भी सिर चढ़कर बोल रही है।

●

पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली के अन्तर्गत अलग-अलग वर्गों की तबाही की प्रकृति अलग-अलग होती है। किस वर्ग की तबाही से हम सबसे अधिक चिन्तित हैं, यह हमारी वर्गीय पक्षधरता का सवाल है।

यह आम पूंजीवादी नियम है कि बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। बड़े पूंजीपति छोटे पूंजीपति को, इजारेदार पूंजीपति गैर-इजारेदार पूंजीपति को, बड़ा इजारेदार छोटे इजारेदार को और वित्तीय एवं औद्योगिक पूंजीपति पूंजीवादी फार्मरों-भूस्वामियों-कुलकों को तबाह करने या दबाने का कोई मौका नहीं छोड़ते। आर्थिक मन्दी के इस दौर में, फार्मरों-कुलकों का रोना यह है कि कुल विनियोजित अधिशेष में उनका हिस्सा छोटा से छोटा होता जा रहा है, उन्हें अपने उत्पादों के लाभकारी मूल्य नहीं मिल पा रहे हैं, वे मुनाफा नहीं कमा पा रहे हैं, सरकारें सब्सिडी देने ओर सरकारी खरीद से हाथ खींचती जा रही हैं... वगैरह-वगैरह। सवाल यह है कि यदि बड़े मुनाफाखोर छोटे मुनाफाखोरों का हिस्सा हड़प रहे हें, यदि अपना मुनाफा बढ़ाने की हवस में कुलक और फार्मर बैंकों से कर्ज लेकर ट्रैक्टर-हार्वेस्टर खरीद रहे हें और फिर कृषि-उत्पादों के बाजार में ''अतिउत्पादन'' और मन्दी के चलते भारी घाटा उठाकर, कर्ज की किश्तें नहीं भर पा रहे हैं तो सर्वहारा क्रान्तिकारियों की हमदर्दी उनके साथ भला क्यों होनी चाहिए? क्या ये कुलक और फार्मर उजरती मजदूरों का बेरहमी के साथ शोषण-उत्पीड़न नहीं करते? बड़े मुनाफाखोर लाजिमी तौर पर छोटे मुनाफाखोरों को तबाह करेंगे। **किसी भी पूंजीवादी व्यवस्था में कृषि और उद्योग के बीच लगातार बढ़ते अन्तर और अन्तरविरोध का तथा बड़े मालिक किसानों के उद्योगपतियों से गहराते अन्तरविरोधों का रणकौशलात्मक इस्तेमाल एक बात है, लेकिन मुनाफाखोर कुलकों की तबाही से सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधियों के पेट में दर्द होने का कोई कारण समझ में नहीं आता।**

कुछ पराजित आत्माएं साम्राज्यवाद के नये हमले का मुकाबला राष्ट्रवाद की जमीन पर खड़े होकर करना चाहती हैं और (गांव के उजरती गुलामों के महासागर की अनदेखी करते हुए) किसानों की तबाही के खिलाफ नरोदवाद की जमीन पर खड़े होकर लड़ना चाहती हैं।

जहां तक छोटे और मंझोले मालिक किसान का पक्ष है, उसका चरित्र मुख्यतः उजरती मजदूर के शोषक का नहीं होता। पूंजी की मार से तबाह होकर सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा की कतारों में शामिल होना उसकी नियति होती है। अतः सर्वहारा आबादी के इस स्वाभाविक संश्रयकारी की तबाही जाहिरा तौर पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की चिन्ता और सरोकार का विषय होती है। पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी का काम छोटे-मंझोले मालिक किसानों को नरोदवादी कल्पनालोक की सैर कराने के बजाय, फौरी तौर पर राज्य से उनकी आर्थिक-राजनीतिक मांगों का समर्थन करने के

साथ-साथ उन्हें यह बताना होता है कि पूंजीवादी व्यवस्था में उनकी तबाही होनी ही है और यह कि उनके सामने एकमात्र रास्ता यही है कि वे उजरती गुलामों के साथ खड़े होकर पूंजीवाद-साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के साझीदार बनें। वस्तुगत तौर पर देखें तो कृषि क्षेत्र के छोटे माल-उत्पादकों की तबाही गांवों में वर्गों के ध्रुवीकरण को तेज कर देती है और क्रान्तिकारी संघर्ष में जनपक्ष के वर्गों की लामबन्दी आसान कर देती है। हमारा काम इस प्रक्रिया को रोकने की हवाई कोशिशें करना, या इसकी गति को मद्धम करना नहीं बल्कि मध्यम किसानों के कल्पनालोक को छिन्न-भिन्न करना होना चाहिए। हमें उन्हें यह बताना होगा कि लाभकारी मूल्य, राजकीय सब्सिडी या यहां तक कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जमीन के राष्ट्रीकरण या सहकारी खेती आदि तक से भी लाभ सिर्फ बड़े पूंजीवादी किसानों को ही पहुंच सकता है।

लेनिन ने इस प्रश्न पर कम्युनिस्ट पहुंच-पद्धति को अनेकों जगहों पर स्पष्ट करने की कोशिश की है। वह लिखते हैं : *''यदि, नरोदवादियों के कल्पनालोक में, हम वास्तविक आर्थिक कारणों को मिथ्या विचारधारा से सावधानीपूर्वक अलग करें, तो उसी क्षण पाएंगे कि सामन्ती जागीरों के टूटने से, चाहे वे बंटवारे से टूटें या राष्ट्रीकरण से या म्युनिसिपलीकरण से, सबसे अधिक लाभान्वित होने वाला वर्ग स्पष्ट तौर पर पूंजीवादी किसान ही है। राज्य-प्रदत्त ''ऋण-अनुदान'' भी पूंजीवादी किसान-समुदाय को ही सर्वाधिक लाभ पहुंचाने के लिए बाध्य हैं। ''किसान भूमि क्रान्ति'' भूस्वामित्व की पूरी व्यवस्था को शुद्ध रूप से इन पूंजीवादी फार्मों की प्रगति और समृद्धि की शर्तों के अधीन कर देने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।''* ('सामाजिक जनवाद का भूमि-कार्यक्रम', संग्रहीत रचनाएं, खण्ड 13, पृ. 318, मास्को, 1962, अंग्रेजी संस्करण)

बेशक सर्वहारा के मित्र वर्ग के रूप में छोटे किसानों की तबाही एक कम्युनिस्ट के लिए गहरी चिन्ता का विषय है। पर इसका मतलब यह कत्तई नहीं कि सर्वहारा वर्ग का संगठन, एक माल-उत्पादक के रूप में छोटे मालिक किसानों की मांगों को अपनाकर उनका दुमछल्ला बन जाये और सर्वहारा वर्ग के हरावल की भूमिका का ही परित्याग कर दे। छोटे मालिक किसानों में बड़ा मालिक बनने की भूख जगाने या छोटी लाभकारी जोत के यूटोपिया को बल देने के बजाय कम्युनिस्ट का दायित्व यह है कि वह छोटे मालिक किसानों को यह बताये कि पूंजीवादी शासन के अन्तर्गत मुद्रा की सत्ता हर हाल में उन्हें बेध डालेगी। चाहे धीमी गति से हो या तेज गति से, तबाह होकर सर्वहाराओं-अर्द्धसर्वहाराओं की कतारों में शामिल होना उनकी अपरिहार्य नियति है। आइये देखें, लेनिन इस विषय पर क्या लिखते हैं। और गौरतलब बात यह भी है कि लेनिन ने यह उस दौर में लिखा है जब रूस अभी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की मंजिल में था।

कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी का काम छोटे-मंझोले मालिक किसानों को नरोदवादी कल्पनालोक की सैर कराने के बजाय, फौरी तौर पर राज्य से उनकी आर्थिक-राजनीतिक मांगों का समर्थन करने के साथ-साथ उन्हें यह बताना होता है कि पूंजीवादी व्यवस्था में उनकी तबाही होनी ही है और यह कि उनके सामने एकमात्र रास्ता यही है कि वे उजरती गुलामों के साथ खड़े होकर पूंजीवाद-साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के साझीदार बनें।

लेनिन के शब्दों में : *''कोई पूछ सकता है : इसका हल क्या है, किसानों की स्थिति कैसे सुधारी जा सकती है? छोटे किसान खुद को मजदूर वर्ग के आन्दोलन से जोड़कर और समाजवादी व्यवस्था के लिए संघर्ष में एवं जमीन तथा उत्पादन के अन्य साधनों (कारखाने, मशीनें आदि) को सामाजिक सम्पत्ति के रूप में बदल देने में मजदूरों की मदद करके ही अपने आपको पूंजी की जकड़ से मुक्त कर सकते हैं। छोटे पैमाने की खेती और छोटी जोतों को पूंजीवाद के चतुर्दिक हमले से बचाकर किसान समुदाय को बचाने का प्रयास सामाजिक विकास की गति को अनुपयोगी रूप से धीमा करना होगा; इसका मतलब पूंजीवाद के अन्तर्गत भी खुशहाली की सम्भावना की भ्रान्ति से किसानों को धोखा देना होगाऋ इसका मतलब मेहनतकश वर्गों में फूट पैदा करना और बहुमत की कीमत पर अल्पमत के लिए एक विशेष सुविधाप्राप्त स्थिति पैदा करना होगा।''* ('मजदूर पार्टी और किसान', संग्रहीत रचनाएं, खण्ड 4, पृ. 422-23, मास्को, 1960, अंग्रेजी संस्करण)

इसी प्रश्न पर अन्यत्र लेनिन कहते हैं, *''इसलिए वर्ग-चेतन मजदूर के लाल झण्डे का पहला मतलब है, कि हम अपनी पूरी शक्ति के साथ पूरी आजादी और पूरी जमीन के लिए किसानों के संघर्ष का समर्थन करते हैंऋ दूसरे, इसका अर्थ है कि हम यहीं नहीं रुकते बल्कि इससे आगे जाते हैं। हम आजादी और जमीन के साथ ही समाजवाद के लिए युद्ध छेड़ रहे हैं। समाजवाद के लिए संघर्ष पूंजी के शासन के विरुद्ध संघर्ष है। यह सर्वप्रथम और सबसे मुख्य रूप से उजरती मजदूर द्वारा चलाया जाता है जो प्रत्यक्षतः और पूर्णतः पूंजीवाद पर निर्भर होता है। जहां तक छोटे मालिक किसानों का प्रश्न है, उनमें से कुछ के पास खुद की ही पूंजी है, और प्रायः वे खुद*

ही मजदूरों का शोषण करते हैं। इसलिए सभी छोटे मालिक किसान समाजवाद के लिए लड़ने वालों की कतार में शामिल नहीं होंगे, केवल वही ऐसा करेंगे जो कृतसंकल्प होकर सचेतन तोर पर पूंजी के विरुद्ध मजदूरों का पक्ष लेंगे, निजी सम्पत्ति के विरुद्ध सार्वजनिक सम्पत्ति का पक्ष लेंगे।'' ('किसान समुदाय और सर्वहारा', संग्रहीत रचनाएं, खण्ड 10, पृ. 42-43, मास्को, 1965, अंग्रेजी संस्करण)

इसी प्रश्न को स्पष्ट करते हुए एक और जगह पर लेनिन लिखते हैं : *''फिर भी यदि रूस में वर्तमान क्रान्ति की निर्णायक विजय जनता की पूर्ण सम्प्रभुता कायम करती है, यानी एक गणराज्य और एक पूर्ण जनवादी राज्य व्यवस्था की स्थापना करती है, तो पार्टी जमीन के निजी मालिकाने को खत्म कर देगी और सारी जमीन सामान्य सम्पत्ति के रूप में पूरी जनता को सौंप देगी।*

''इसके अतिरिक्त, सभी परिस्थितियों में रूसी सामाजिक जनवादी पार्टी का उद्देश्य, जनवादी भूमि सुधारों की चाहे जो भी स्थिति हो, ग्रामीण सर्वहारा के स्वतंत्र वर्ग संगठन के लिए—उसे समझाने के लिए कि उसका हित किसान पूंजीपति वर्ग के हित से असमाधेय रूप से विरोधी है, उसे छोटे पैमाने के मालिकाने के विरुद्ध चेतावनी देने के लिए जो, जब तक माल-उत्पादन मौजूद रहेगा, तबतक जनता की दरिद्रता दूर नहीं कर सकता और अन्त में, सभी दरिद्रता और सभी शोषण को समाप्त करने के एकमात्र साधन के रूप में एक पूर्ण समाजवादी क्रान्ति की आवश्यकता पर जोर देने के लिए—निरन्तर प्रयास करते रहना है।'' (मजदूर पार्टी के भूमि-कार्यक्रम में संशोधन', संग्रहीत रचनाएं, खण्ड 10, पृ. 194-95, मास्को, 1965, अंग्रेजी संस्करण)

लेनिन ने भूमि प्रश्न और कम्युनिस्ट पार्टी के भूमि-कार्यक्रम की चर्चा करते हुए बार-बार आगाह किया है कि पूंजी के प्रभाव में छोटे मालिक किसानों के माल-उत्पादक बन जाने के बाद खेत मजदूरों से उनके अन्तरविरोध की तथा बड़े भूस्वामियों के साथ उनकी वर्गीय पक्षधरता के पहलू की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। उन्हें उजरती गुलामों के साथ खड़ा होने के लिए सिर्फ तभी तैयार किया जा सकता है, जब वे हालात की मार और कम्युनिस्टों के प्रचार से इस बात को भली-भांति समझ लें कि कृषि में पूंजीवादी माल-उत्पादन की प्रवृत्ति के हावी होने के बाद और लगातार बढ़ती इजारेदारी की दुनिया में छोटे माल-उत्पादकों के बहुलांश की तबाही सुनिश्चित है।

छोटे मालिक किसानों में बड़ा मालिक बनने की भूख जगाने या छोटी लाभकारी जोत के यूटोपिया को बल देने के बजाय कम्युनिस्ट का दायित्व यह है कि वह छोटे मालिक किसानों को यह बताये कि पूंजीवादी शासन के अन्तर्गत मुद्रा की सत्ता हर हाल में उन्हें बेध डालेगी। चाहे धीमी गति से हो या तेज गति से, तबाह होकर सर्वहाराओं-अर्द्धसर्वहाराओं की कतारों में शामिल होना उनकी अपरिहार्य नियति है।

लेनिन के ही शब्दों में, *''पूंजीवाद के अंतर्गत छोटा मालिक किसान, वह चाहे या न चाहे, इससे अवगत हो या न हो—एक माल-उत्पादक बन जाता है। और यही वह परिवर्तन है जो मूलभूत है, क्योंकि केवल यही उसे, बावजूद इसके कि वह भाड़े के श्रम का शोषण नहीं करता, एक निम्नपूंजीपति बना देता है और उसे सर्वहारा के एक विरोधी के रूप में बदल देता है। वह अपना उत्पादन बेचता है जबकि सर्वहारा अपनी श्रम-शक्ति। एक वर्ग के रूप में छोटा मालिक किसान केवल कृषि-उत्पादों के मूल्य में वृ ही चाह सकता है और यह बड़े भूस्वामियों के साथ लगान में उसकी हिस्सेदारी और शेष समाज के विरुद्ध भूस्वामियों के साथ उसकी पक्षधरता के समान है। माल-उत्पादन के विकास के साथ ही छोटा मालिक किसान अपनी वर्ग-स्थिति के अनुरूप एक निम्न भूसम्पत्तिवान मालिक बन जाता है।''* ('कृषि में पूंजीवाद के विकास के आंकड़े', संग्रहीत रचनायें, खण्ड 22, पृ. 95-96, मास्को, 1964, अंग्रेजी संस्करण)

मार्क्स-एंगेल्स और लेनिन के लेखों में सैकड़ों जगह यह चर्चा आती है जिसके आधार पर यह नतीजा आसानी से निकाला जा सकता है कि मध्यम किसानों (या छोटे मालिक किसानों) की तबाही के प्रति कम्युनिस्ट का सरोकार किस रूप में बनना चाहिए और क्यों लाभकारी मूल्य की मांग के पक्ष में किसी भी रूप में खड़ा होना उजरत कमाने वाली बहुसंख्यक आबादी के सीधे-सीधे विरोध में जा खड़ा होना है।

इसका सबसे विद्रूप दृश्य पंजाब में दीखता है जहां के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शहरी और देहाती, प्रवासी और स्थानीय सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा के निर्मम शोषण और नारकीय जीवन की अनदेखी करते हुए खेती के संकट पर मालिक किसानों की भाषा में बात कर रहे हैं और लाभकारी मूल्य का रोना रो रहे हैं और सब्सिडी घटाये जाने पर छाती पीट रहे हैं और कृषि-उत्पादों के लिए राष्ट्रीय बाजार के दरवाजे खोल दिये जाने पर चीख-पुकार मचा रहे हैं।

जााहिरा तौर पर इसका एक मुख्य कारण यह है कि ये क्रान्तिकारीगण भारत में प्रशियाई मार्ग (जुंकर टाइप रूपान्तरण) या स्तॉलिपिन सुधारों से मिलते-जुलते ढंग से हुए बुर्जुआ भूमि-सुधारों के अस्तित्व को ही नहीं मानते, कृषि में माल-उत्पादन की प्रणाली के स्थापित वर्चस्व, एक राष्ट्रीय बाजार की मौजूदगी, ग्रामीण जीवन के पोर-पोर तक वित्तीय पूंजी की पैठ, किसान आबादी के विभेदीकरण आदि प्रातिनिधिक परिघटनाओं-अभिलाक्षणिकताओं की अनदेखी करते हैं और महज भूमि काश्तकारी व्यवस्था के कुछ पुराने रूपों और कतिपय प्राक् पूंजीवादी अवशेषों की आधार और अधिरचना में मौजूदगी के आधार पर, इस बात पर खूंटा गाड़े हुए हैं कि भारत में अभी भी मूलतः सामन्तवाद कायम है। तब फिर हमारे ये मित्र ''चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय'' की चिन्ता में पागल होकर लाभकारी मूल्य, सब्सिडी, राजकीय संरक्षण आदि-आदि की मांग उठाते हुए वस्तुगत तौर पर न सिर्फ छोटे मालिक किसानों के पैरोकार बन बैठते हैं बल्कि कुलकों के पिछलग्गू हो जाते हैं और व्यवस्था के शरणागत हो जाते हैं।

पर बात सिर्फ इतनी ही नहीं है। ये कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग-अवस्थिति से ही विचलित हो चुके हैं। ध्यान देने की बात है कि बुर्जुआ जनवारी क्रान्ति के दौर में भी, लेनिन किसानों की आजादी और जमीन की लड़ाई को पूरीतरह समर्थन देते हुए लगातार उनके बीच इस प्रचार पर बल देते हैं कि माल-उत्पादन की व्यवस्था में छोटे उत्पादक को तबाह होना ही है, कि समूची जमीन पर समूची जनता का मालिकाना और सिर्फ इतना ही नहीं, बल्कि साथ ही पूंजी और माल अर्थव्यवस्था का खात्मा ही भूमि प्रश्न का वास्तविक समाधान है। लेनिन इस बात को भी स्पष्ट करते हैं कि जमीन पर सम्पूर्ण कानूनी मालिकाना और सामन्ती निरंकुशता के विरुद्ध आजादी की लड़ाई में साथ होते हुए भी कुलक-धनी किसान बड़े माल-उत्पादक के रूप में सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी के साथ कदापि नहीं खड़े होंगे और छोटे मालिक किसान भी अपनी नियति के अहसास के बाद ही, साथ आयेंगे और वह भी हिलते-डुलते हुए। वे जमीन पर मालिकाने और आजादी की उनकी मांग का समर्थन करते हुए भी लाभकारी मूल्य जैसी मांगों को घनघोर प्रतिक्रियावादी बताते हैं और किसान आबादी के बीच बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के दौर में भी समाजवादी प्रचार पर लगातार बल देते हैं।

सवाल यह है कि यदि बड़े मुनाफाखोर छोटे मुनाफाखोरों का हिस्सा हड़प रहे हैं, यदि अपना मुनाफा बढ़ाने की हवस में कुलक और फार्मर बैंकों से कर्ज लेकर ट्रैक्टर-हार्वेस्टर खरीद रहे हैं और फिर कृषि-उत्पादों के बाजार में ''अतिउत्पादन'' और मन्दी के चलते भारी घाटा उठाकर, कर्ज की किश्तें नहीं भर पा रहे हैं तो सर्वहारा क्रान्तिकारियों की हमदर्दी उनके साथ भला क्यों होनी चाहिए? क्या ये कुलक और फार्मर उजरती मजदूरों का बेरहमी के साथ शोषण-उत्पीड़न नहीं करते?

अपनी मृत्यु से ठीक एक वर्ष पहले 1894 में **फ्रेडरिक एंगेल्स** ने कृषक समस्या पर एक बहुमूल्य मार्क्सवादी कृति की रचना की थी—**'फ्रांस और जर्मनी में किसानों का सवाल'**। हम समझते हैं कि भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को नवनरोदवादी यूटोपिया से मुक्त होने और सिसमोंदी के बजाय मार्क्स का शिष्य बनने के लिए इस कृति का अवश्य ही अध्ययन करना चाहिए। इस कृति को लिखने का एक कारण यह था कि एंगेल्स उन फ्रांसीसी समाजवादियों की गलतियों को सुधारना चाहते थे जिन्होंने **मार्सेई** में 1892 में स्वीकृत तथा 1894 में **नाण्ट** में परिवर्द्धित अपने कृषि कार्यक्रम में मार्क्सवाद से विचलित होकर अवसरवाद को रियायतें दी थीं। ये फ्रांसीसी समाजवादी छोटे मालिक किसानों को साथ लेने के लिए उनके प्रकारान्तर से मजदूर-विरोधी मांगों के भी समर्थक बन बैठे थे, ''छोटी लाभकारी जोत'' के यूटोपिया की पैरोकारी करने लगे थे तथा लाभकारी मूल्य और राजकीय संरक्षणों-रियायतों की मांग का समर्थन करने लगे थे। इस कृति को लिखने का एक और प्रत्यक्ष कारण यह था कि **फोल्मर** और अन्य अवसरवादियों ने 1894 में जर्मन सामाजिक जनवादियों की फ्रैंकफर्ट कांग्रेस में कृषि कार्यक्रम पर हुई बहस का इस्तेमाल कर धनी किसानों के समाजवादी रूपान्तरण के अपने मार्क्सवाद-विरोधी ''सिद्धान्त'' को कार्यक्रम में शामिल करने का प्रयत्न किया था।

अपनी इस महत्वपूर्ण कृति में एंगेल्स ने स्पष्ट किया है कि सर्वहारा वर्ग का हिरावल एक छोटे माल-उत्पादक के रूप में छोटे मालिक किसानों-काश्तकारों की मांगों का समर्थक नहीं हो सकता और यदि उनके यूटोपिया को समर्थन देकर उन्हें साथ ले भी लिया जाये तो कालान्तर में वे और दूर छिटक जायेंगे। एंगेल्स के मुताबिक, *''अतीतकालीन उत्पादन-पद्धति के अन्य सभी अवशेषों की भांति हमारे छोटे किसान का भी विनाश निश्चित है, उसके उद्धार की कोई आशा नहीं है। वह भावी सर्वहारा है।''* इसलिए वे इस बात पर बल देते हैं कि उसे भावी सर्वहारा के रूप में साथ लिया जाना चाहिए, न कि आज के मिल्की किसान के रूप में।

बड़े से लेकर छोटे मालिक किसानों तक के राजनीतिक प्रतिनिधि और संशोधनवादी पार्टियां

आज इस बात पर भी काफी शोर मचा रही हैं कि विदेशी खाद्यान्न व अन्य कृषि उत्पादों के लिए देशी बाजार को खोलकर सरकार ने किसानों की तबाही का रास्ता खोल दिया है। क्रान्तिकारी संगठन भी प्रायः इस चिन्ता में सुर मिला रहे हैं।

क्या यह एक सही वर्ग-दृष्टिकोण है? इसे समझने के लिए पिछली शताब्दी में यूरोप की ऐसी ही एक घटना का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा। उत्तर और दक्षिण अमेरिका के फार्मरों ने द्धमुख्यतः अपने गुलामों के श्रम के बूते पर) और भारत व अन्य उपनिवेशों के काश्तकारों को निचोड़कर प्रतिद्वंद्वियों ने पूरे यूरोप के बाजार को सस्ते गल्ले से पाट दिया था। तब इंगलैण्ड के भूस्वामियों ने इस बात की मांग की कि बाहर से खाद्यान्न आने पर रोक लगाई जाये। इस मसले पर **मार्क्स** ने अपने विचार खाद्यान्न-आयात के पक्ष में प्रकट किये थे, क्योंकि वे इसे पूंजीवादी विकास की अपरिहार्य गति का परिणाम तथा वैज्ञानिक-आर्थिक दृष्टि से प्रगतिशील कदम मानते थे। उनका मानना था कि इससे उत्पादक शक्तियों के विकास की गति तेज होगी तथा छोटे मालिकों के सर्वहारा बन जाने की अपरिहार्य नियति तेजी से फलीभूत होने के साथ ही वर्गों का ध्रुवीकरण तेज हो जायेगा।

ऊपर चर्चित अपनी कृति में भी एंगेल्स ने उपरोक्त प्रसंग का उल्लेख करते हुए बताया है कि इस स्थिति में *''बड़े भूस्वामी छोटे-छोटे किसानों के हामी बनकर मैदान में उतरते हैं और छोटे किसान अधिकतर उन्हं इसी रूप में स्वीकार करते हैं।''* एंगेल्स ने बताया है कि अभागे छोटे किसानों को उनके झूठे संरक्षकों के पिछलग्गू बनने से बचाने के लिए कम्युनिस्टों को उन्हें पूंजीवाद के अन्तर्गत उनका भवितव्य साफ-साफ बताना होगा। हां, उनके सामने यह जरूर स्पष्ट कर देना होगा कि *''...जब हमारे हाथों में राज्यसत्ता आयेगी, तब हम बलपूर्वक छोटे किसानों की सम्पत्ति द्धबामुआवजा या बिला मुआवजाऋ छीनने की ख्रजो काम हमें बड़े जमींदारों के मामले में करना पड़ेगाख्रबात भी नहीं सोचेंगे। छोटे किसानों के सम्बन्ध में हमारा कार्य प्रथमत: उनके निजी उद्यम और निजी स्वामित्व को सहकारी उद्यम और स्वामित्व में अंतरित करना होगा, और यह बलपूर्वक नहीं, बल्कि उदाहरण पेश करके तथा सामाजिक सहायता देकर किया जायेगा। कहने की जरूरत नहीं कि उस समय छोटे किसानों को ऐसे भावी लाभ, जो उन्हें आज भी स्पष्ट होंगे, दिखाने के हमारे पास प्रचुर साधन होंगे।''* ('फ्रांस और जर्मनी में किसानों का सवाल', मार्क्स-एंगेल्स : संकलित रचनायें, खण्ड 3, भाग 2, मास्को, 1978, हिन्दी संस्करण, पृ. 382)

सबसे विद्रूप दृश्य पंजाब में दीखता है जहां के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शहरी और देहाती, प्रवासी और स्थानीय सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा के निर्मम शोषण और नारकीय जीवन की अनदेखी करते हुए खेती के संकट पर मालिक किसानों की भाषा में बात कर रहे हैं और लाभकारी मूल्य का रोना रो रहे हैं और सब्सिडी घटाये जाने पर छाती पीट रहे हैं और कृषि-उत्पादों के लिए राष्ट्रीय बाजार के दरवाजे खोल दिये जाने पर चीख-पुकार मचा रहे हैं।

धनी किसानों के मामले में, जो मुख्यतः उजरती मजदूरों से काम लेते हैं और लाभकारी मूल्य की मांग करते हैं, एंगेल्स का स्पष्ट मत है कि किसी भी सूरत में उनकी इस मांग का समर्थन नहीं किया जा सकता। *''कहने की जरूरत नहीं कि मजदूरों की पार्टी को प्रथमतः उजरती मजदूरों की ओर से, यानी इन नौकरों-नौकरानियों और दिहाड़ीदार मजदूरों की ओर से ही लड़ना है। किसानों से ऐसा कोई वायदा करना निर्विवाद रूप से निषिद्ध है, जिसमें मजदूरों की उजरती गुलामी को जारी रखना सम्मिलित हो। परन्तु जब तक बड़े और मंझोले किसानों का अस्तित्व है, वे उजरती मजदूरों के बिना काम नहीं चला सकते। इसलिए छोटी जोत वाले किसानों को हमारा यह आश्वासन देना कि वे इस रूप में सदा बने रह सकते हैं, जहां मूर्खता की पराकाष्ठा होगी, वहां बड़े और मंझोले किसानों को यह आश्वासन देना गद्दारी की सीमा तक पहुंच जाना होगा।''* (वही, मार्क्स-एंगेल्स : संकलित रचनाएं, पूर्वोद्धृत खण्ड, पृ. 386)

●

पिछली आधी सदी से साम्राज्यवादियों के समर्थन से भारतीय पूंजीपति भूमि-सम्बन्धों और कृषि के पूंजीवादी रूपान्तरण की जिन नीतियों को लागू कर रहे थे, उनकी तार्कित परिणति के तौर पर, ऊपरी खुशहाल संस्तर को छोड़कर, मध्यम किसान आबादी तक धीरे-धीरे तबाह होकर शहरी-देहाती उजरती मजदूरों की कतारों में शामिल होती जा रही थी। उदारीकरण के दौर ने इसी प्रक्रिया को कई गुना तेज कर दिया है। दीर्घकालिक मंदी के संकट से पीड़ित साम्राज्यवादी नये-नये बाजारों की तलाश में पिछड़े देशों के सुदूर गांवों तक में पहुंच रहे हैं और स्वदेशी पूंजीपतियों से लेकर कुलकों-फार्मरों तक को कोने में धकेल रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांस और ब्रिटेन की

ही तरह, यहां भी छोटे मालिकाने का सुनिश्चित अंत स्पष्ट दीखने लगा है। सुनिश्चित पूंजीवादी भवितव्य की दिशा में इस त्वरण से सर्वहारा वर्ग के हिरावल भला छाती क्यों पीटें? विश्व-पूंजीवाद की नग्न-निरंकुश लुटेरी प्रकृति और परभक्षी चरित्र का भण्डाफोड़ करने की दृष्टि से आर्थिक नवउपनिवेशवाद के दौर की इस विशिष्टता की चर्चा एक बात है, पर इस अपरिहार्य परिणति को रोकने या इसकी गति मद्धम करने की कोई हवाई कोशिश कम्युनिस्ट भला क्यों करेंगे? तात्पर्य यह कि कम्युनिस्टों का दायित्व यह बनता है कि **गरीब और बदहाल मध्यम किसानों को उदारीकरण की नीतियों का विरोध अतीत की जमीन पर खड़ा होकर करने के बजाय भविष्य की जमीन पर खड़ा होकर करना सिखायें और उन्हें उजरती गुलामों की उन कतारों के साथ एकताबद्ध करने की कोशिश करें, जिनमें देर-सबेर शामिल हो जाना उनकी नियति है और जिससे बचने का एकमात्र रास्ता यही हो सकता है कि वे स्वेच्छा से अपना भविष्य उनके साथ जोड़ लें।**

यह तय है कि ऊपर के पायदानों पर खड़े देशी-विदेशी मुनाफाखोर सबसे निचले पायदान पर खड़े कृषि क्षेत्र के पूंजीपति पर व्यवस्था के संकट का सर्वाधिक बोझ डालने की कोशिश करेंगे और अधिशेष विनियोजन में उसका हिस्सा लगातार घटाने की कोशिशें करेंगे। इस प्रक्रिया में कुलकों-फार्मरों का एक अच्छा-खासा हिस्सा तबाह भी होगा, हालांकि यह भी सच है कि एक अच्छा-खासा हिस्सा पूंजी के बूते संकटों को झेल जाने की अपनी क्षमता के चलते नई स्थितियों के अनुरूप अनुकूलित करते स्वयं को बचा भी लेगा। मान लें कि भारत की पूरी खेती चन्द बड़े-बड़े फार्मरों की सहकारी समितियों, 'एग्री-बिजनेस' के स्वामी देशी-विदेशी कारपोरेट घरानों तथा राजकीय स्वामित्व वाले संस्थानों आदि के हाथों में सिमट जाने का खतरा हो तो भी सर्वहारा वर्ग के हिरावल इस प्रक्रिया को रोकने या मद्धम करने की कोशिश भला क्यों करें? इस पूरी प्रक्रिया में निहित नग्न-निरंकुश लूटमार को उजागर करना, और उसके विरुद्ध व्यापक मेहनतकश अवाम को सही, वास्तविक विकल्प प्रस्तुत करते हुए संगठित करना और फौरी, रोजमर्रे के संघर्षों को दूरगामी संघर्ष की कड़ी बनाना एक बात है और प्रक्रिया को रोकने की निष्फल कोशिश करना एक दूसरी बात है। ऐतिहासिक-वैज्ञानिक दृष्टि से, वस्तुगत तौर पर, तो ध्रुवीकरण का ज्यादा से ज्यादा तीखा होते जाना एक प्रगतिशील कदम ही होगा और उसे रोकने की कोशिश एक प्रतिगामी प्रयास होगा। उदारीकरण की नीतियों का विरोध यह स्पष्ट करते हुए होना चाहिए कि विश्व इतिहास की यही तार्किक गति है, यदि पूंजीवाद का नाश सर्वहारा क्रान्ति के द्वारा नहीं होगा तो वह इसी दिशा में आगे बढ़ेगा और यह कि पूंजीवादी चौहद्दी में दूसरा कोई विकल्प नहीं है तथा यदि कोई विकल्प है तो वह है समाजवाद। उदारीकरण की नीतियां पहले हमेशा से अधिक स्पष्ट रूप में यह सिद्ध कर रही हैं कि समाजवाद ही एकमात्र सार्थक, सम्भव और व्यावहारिक विकल्प है। हालात स्वयं निजी स्वामित्व के मानवद्रोही चरित्र को उजागर कर रहे हैं। उजरती मजदूरों और उनके बेरोजगार भाइयों की लगातार बढ़ती आबादी के बीच सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान को स्वीकारने की वस्तुगत स्थितियां अब ज्यादा से ज्यादा अनुकूल होती जा रही हैं (हालांकि इसका दूसरा पहलू यह भी है कि जटिलताएं बढ़ती जा रही हैं)।

उदारीकरण की नीतियों का विरोध यह स्पष्ट करते हुए होना चाहिए कि विश्व इतिहास की यही तार्किक गति है, यदि पूंजीवाद का नाश सर्वहारा क्रान्ति के द्वारा नहीं होगा तो वह इसी दिशा में आगे बढ़ेगा और यह कि पूंजीवादी चौहद्दी में दूसरा कोई विकल्प नहीं है तथा यदि कोई विकल्प है तो वह है समाजवाद। उदारीकरण की नीतियां यह सिद्ध कर रही हैं कि समाजवाद ही एकमात्र सार्थक, सम्भव और व्यावहारिक विकल्प है। हालात स्वयं निजी स्वामित्व के मानवद्रोही चरित्र को उजागर कर रहे हैं। उजरती मजदूरों और उनके बेरोजगार भाइयों की लगातार बढ़ती आबादी के बीच सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान को स्वीकारने की वस्तुगत स्थितियां अब ज्यादा से ज्यादा अनुकूल होती जा रही हैं

●

सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधियों की केन्द्रीय चिन्ता जाहिरा तौर पर उन उजरती और दिहाड़ीदार खेत मजदूरों की तबाही को लेकर होनी चाहिए, जिनका समाजवाद के अतिरिक्त कोई और भविष्य हो ही नहीं सकता। लेकिन क्रान्ति की मंजिल की गलत समझ, और न सिर्फ यही बल्कि नई जनवादी क्रान्ति के भूमि कार्यक्रम की भी निहायत गलत समझ के चलते, भारत के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ''जमीन जोतने वाले को'' नारे का निहायत भोंडा रूप पहले से ही अमल में लाते रहे हैं और गांव की सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी में जमीन के निजी मालिकाने की भूख एक ऐसे समय में जगाने की कोशिश करते रहे हैं जबकि आर्थिक स्थितियों ने ज्यादा से ज्यादा इस बात को साफ कर दिया है कि छोटी लाभकारी जोत एक यूटोपिया है। जमींदारी उन्मूलन के कानूनों के बाद किसानों के खेतों के मालिक बन जाने और उसकी परिणतियां सामने आने के बावजूद, कम्युनिस्ट प्रायः भूमि हदबंदी को कारगर ढंग से लागू करने और सीलिंग से निकली फाजिल जमीन, गैरमजरुआ जमीन और ग्राम-सभाओं की जमीन के पट्टे भूमिहीनों को बांटने की लड़ाई लगातार

लड़ते रहे हैं। जहां ऐसे पट्टे हुए हैं, वहां की वास्तविकता भी यही रही है कि पूंजी के अभाव में पट्टेदार गरीब या तो पट्टे में मिली जमीन के टुकड़े को बेच देते रहे हैं, या फिर उन्हें रखे रहते हुए उजरती मजदूर की जिन्दगी ही पूर्ववत बिताते रहे हैं। भारत के सही-सच्चे कम्युनिस्टों को इस प्रश्न की सही समझ के लिए रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति से लेकर समाजवादी क्रान्ति के दौर तक बोल्शेविक पार्टी के भूमि कार्यक्रमों का और चीन में क्रान्ति के बाद लागू क्रान्तिकारी भूमि सुधारों का अध्ययन करना चाहिए।

जनवादी क्रान्ति के दौर में अलॉटमेण्ट वाले काश्तार किसान भूस्वामी की जकड़ से मुक्त अपनी जोतों के मालिक हो जाते हैं और आगे चलकर उन्हें उदाहरण की शक्ति से सहकारी खेती और फिर सामूहिक खेती के लिए तैयार किया जाता है। जो गरीब व भूमिहीन किसान और बंधुआ मजदूर होते हैं, उन्हें जमीन वितरण के साथ ही सामूहिक फार्मिंग के लिए प्रेरित किया जाता है तथा जमींदारों की जब्त जमीनों पर सामूहिक फार्मों व पुराने राजकीय फार्मों और नयी तैयार खेती योग्य जमीन पर राजकीय फार्मों के भी मॉडल खड़ किये जाते हैं। कम्युनिस्टों का काम खेत मजदूरों और गरीब किसानों में जमीन की भूख जगाना नहीं बल्कि उन्हें इस बात से अवगत कराना है कि जमीन के टुकड़े उनकी किसी समस्या का समाधान नहीं कर सकते।

लेनिन इस विषय पर एकदम स्पष्ट हैं :

''जमीन के निजी मालिकाने का पूर्ण खात्मा भी पूंजी के शासन या जनता की दरिद्रता को समाप्त नहीं करेगा। यहां तक कि ऐसी जमीन पर भी, जो पूरे राष्ट्र की सम्पत्ति होगी, केवल वे ही स्वतंत्र रूप से फार्मिंग करने में समर्थ होंगे जिनके पास अपनी खुद की पूंजी होगी, जिनके पास सामान्यतः औजार, पशु, मशीनें, बीज भण्डार और धन आदि होंगे। जहां तक उनका प्रश्न है जिनके पास काम करने वाले अपने हाथों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, वे एक जनवादी गणराज्य में भी, उस समय भी जब जमीन पूरे राष्ट्र की होगी, अनिवार्य रूप से पूंजी के दास बने रहेंगे। यह विचार कि भूमि का ''समाजीकरण'' पूंजी के समाजीकरण के बगैर लागू हो सकता है, यह विचार कि पूंजी और माल-अर्थव्यवस्था के होते हुए समान भूमि काश्तकारी सम्भव है, एक भ्रान्ति है। लगभग यूरोप के सभी देशों में समाजवाद के अनुभव में ऐसे समय रहे हैं जब यह या इससे मिलती-जुलती भ्रान्तियां प्रचलन में रही हैं। सभी देशों में मजदूर वर्ग के संघर्षों के अनुभव ने व्यवहार में दिखा दिया है कि इस तरह की गलतियां कितनी खतरनाक हैं और आज यूरोप एवं अमेरिका का समाजवादी सर्वहारा खुद को इससे मुक्त कर चुका है।'' ('किसान समुदाय और सर्वहारा', संग्रहीत रचनाएं, खण्ड 10, पृ. 42-43, मास्को, 1965, अंग्रेजी संस्करण)

कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को आज नई आर्थिक नीतियों की मार झेलते कुलकों-फार्मरों का खुदाई फौजदार बनने की शर्मनाक कोशिशों से छुटकारा पाना होगा। उन्हें गांवों-शहरों के उजरती और दिहाड़ीदार मजदूरों और लगातार सड़कों पर धकेले जा रहे ओर जगह-जमीन से उजाड़े जा रहे बेरोजगारों—नये उजरती गुलामों की 'रिजर्व आर्मी' पर, सबसे पहले अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा।

कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को आज नरोदवादी कल्पनालोक में विचरण करना त्यागकर छोटे मालिक किसानों की तेजी से उजड़ती आबादी को उसकी अपरिहार्य नियति से परिचित कराते हुए उसके सामने साहस और आत्मविश्वास के साथ समाजवाद का विकल्प प्रस्तुत करना होगा। उन्हें नई आर्थिक नीतियों की मार झेलते कुलकों-फार्मरों का खुदाई फौजदार बनने की शर्मनाक कोशिशों से छुटकारा पाना होगा। उन्हें गांवों-शहरों के उजरती और दिहाड़ीदार मजदूरों और लगातार सड़कों पर धकेले जा रहे ओर जगह-जमीन से उजाड़े जा रहे बेरोजगारों—नये उजरती गुलामों की 'रिजर्व आर्मी' पर, सबसे पहले अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा। यह संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी आज कुल आबादी की आधी के आसपास पहुंच चुकी है। सर्वहारा क्रान्ति की नेतृत्वकारी ताकत उसकी मुख्य ताकत भी बनती जा रही है। मजदूरों-गरीब किसानों के बुनियादी संश्रय के इर्दगिर्द तबाह मध्यम किसानों ओर शहरी मध्य वर्ग को करीबी से ला खड़ा करने का काम आज के दौर में साम्राज्यवाद और देशी पूंजीवाद स्वयं कर रहे हैं। और हम अभी भी नरोदवाद और राष्ट्रवाद की पोली-दलदली जमीन पर पैर टिकाये हुए उनके विरुद्ध संघर्ष का आह्वान कर रहे हैं! ऐसा करते हुए यदि क्रान्तिकारी मार्क्सवादियों की भाषा और सुर-ताल-लय कुलकों-फार्मरों के नेताओं, सर्वोदयियों, एन.जी.ओ. वालों और भांति-भांति के सामाजिक जनवादियों के साथ मिलते-जुलते लग रहे हैं, तो क्या महज इतना ही काफी नहीं है कि वे अपने रणनीतिक-रणकौशलात्मक नारों-उपक्रमों के बारे में गम्भीरता के साथ पुनर्विचार करें? ●

विशेष खण्ड

शेयर बाजार : एक मार्क्सवादी विश्लेषण

एक दशक के भीतर दूसरे बड़े शेयर घोटाले के रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था को उदारीकरण की नीतियों की दसवीं वर्षगांठ पर अच्छा तोहफा मिला है। पिछले दिनों इस घोटाले को लेकर तमाम पत्र-पत्रिकाओं में छपे अनगिनत लेखों में घोटाले के ब्योरे हैं और घोटाला रोकने के तमाम तकनीकी किस्म के सुझाव-परामर्श दिये गये हैं, लेकिन पूंजीवाद, खासकर आज के पूंजीवाद के चरित्र से जोड़कर गहरे विश्लेषण का अभाव रहा है। इसलिए हमने शेयर बाजार और शेयर घोटाले का मार्क्सवादी नजरिए से विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। हमें यह इसलिए भी जरूरी लगा कि बहुत से लोगों को शेयर बाजार एक मायावी सी चीज लगती है जो उनकी समझ से परे है।

शेयर बाजार को पूंजीवाद का हृदय, उसके स्वास्थ्य का सूचक कहा जाता है। यह बात आज भी बिल्कुल सही है। सट्टेबाजी, घपलों, घोटालों पर चल रहा आज का शेयर बाजार आज के जुआड़ी, पूरी तरह परजीवी पूंजीवाद के स्वास्थ्य की बिलकुल सही सूचना दे रहा है।

सम्पादक

शेयर घोटाला या जुआड़ी पूंजीवाद का सामान्य कारोबार?

सत्यम वर्मा

भारतीय अर्थव्यवस्था में ''सुधारों'' के पहले चरण की शुरुआत के साथ ही ''बड़े सांड़'' हर्षद मेहता ने 6000 करोड़ के घोटाले का तगड़ा झटका दिया था। अब आर्थिक सुधारों के दूसरे चरण की गाड़ी जब रफ्तार पकड़ ही रही थी तो दूसरे ''बड़े सांड़'' केतन पारिख ने सांडों के पूरे झुण्ड के साथ मिलकर उसे जबर्दस्त धक्का लगाया है। अर्थव्यवस्था को हजारों करोड़ रुपये का चूना लगाने वाले इस घोटलो की कहानी आश्चर्यजनक ढंग से 1992 में हुए घोटाले से मेल खाती है। हर्षदी घोटाले की पूरी कहानी इसी अंक में तापस चक्रवर्ती के लेख ''ऐसे हुआ घोटाला'' से जानी जा सकती है। फर्क बस इतना है कि हर्षद ने बैंक रसीदों के जरिये गड़बड़ी की जबकि केतन पारिख ने बैंक पे आर्डर्स के जरिये अरबों रुपये अवैध तरीके से सट्टा बाजार में झोंक दिये।

शेयर बाजार के इस महाघोटाले की तरह-तरह की व्याख्याएं की जा रही हैं और इसकी पुनरावृत्ति रोकने के लिए किसिम-किसिम के तकनीकी सुझाव दिये जा रहे हैं। कोई इसे राजकोषीय घोटाला बता रहा है तो कोई सटोरियों का खेल। कोई सेबी और रिजर्व बैंक, वित्त मंत्रालय और सी बी आई की गड़बड़ी बता रहा है तो कोई बैंकों और सेबी कर्मचारियों को विशेष प्रशिक्षण देने की सलाह दे रहा है। बिना कुछ किये रातो-रात अमीर बनने के लालच में सबकुछ गंवा देने वाले छोटे निवेशकों के लिए चहुंओर आंसू बहाये जा रहे हैं।

अर्थव्यवस्था में शेयर बाजार की बढ़ती भूमिका और घपलों-घोटालों के सिलसिले को पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में वित्तीय पूंजी के बढ़ते वर्चस्व के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। वास्तविक यानी उत्पादन अर्थव्यवस्था आज विराट मायावी अर्थतंत्र का एक छोटा सा हिस्सा भर रह गयी है। तभी तो वास्तविक अर्थव्यवस्था घोर औद्योगिक मन्दी या ठहराव का शिकार होती है पर शेयर बाजार कुलांचे भरता दिखाई देता है। भारत के छोटे-बड़े कुल स्टाक एक्सचेंजों में हर महीने औसतन 7 लाख 96 हजार 508 करोड़ रुपये का मार्केट कैपिटलाइजेशन होता है। यानी साल में लगभग 100 लाख करोड़ रुपया शेयर बाजार की गिरफ्त में आता है। इन स्टाक एक्सचेंजों में साल भर में मात्र 30 लाख करोड़ रुपये का ही वास्तविक कारोबार होता है, बाकी 70 लाख करोड़ रुपये अनुमान के आधार पर यानी सट्टेबाजी में इधर से उधर होते रहते हैं। वित्तीय पूंजी के इस छलावे का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि भारत का सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) लगभग 20 लाख करोड़ रुपये है जबकि उसके खुद के स्टाक एक्सचेंजों में शेयर दलालों और बड़े निवेशकों के इशारों पर नाचते-नाचते उड़नछू हो जाने वाली पूंजी की कुल राशि 100 लाख करोड़ है यानी जीडीपी की लगभग पांच गुनी।

वैसे तो वित्तीय पूंजी का चलन उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं का पूंजीवाद का पर आज के दौर में यह वास्तविक यानी उत्पादन-अर्थव्यवस्था से अलग होकर एक वर्चस्वशाली सट्टाबाजारी अर्थव्यवस्था से यह मान्यता चली आ रही थी कि पूंजीवादी समाज में आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का केन्द्र मुट्ठी भर दैत्याकार बहुराष्ट्रीय निगमों के बोर्ड रूमों में होता है, वहीं अब यह केन्द्र खिसककर वित्तीय बाजार में चला गया है। आज स्थिति यह है कि साम्राज्यवादी देशों या उनके बहुराष्ट्रीय निगमों के अपने राष्ट्र से बाहर जाने वाले हर 8 डालर में से 7 डालर सट्टा बाजार में जा रहे हैं।* यहां 'पूंजीवाद के सुषेण वैध' ब्रिटिश

* यह परिघटना आज चौंकाने वाले पैमाने पर सामने आयी है लेकिन यह 'उत्तर' या 'परवर्ती' पूंजीवाद की अनोखी घटना नहीं है। इसके लक्षणों को एंगेल्स ने सौ साल पहले ही देख लिया था और 'पूंजी' खण्ड 3 में जोड़े अपने अनुपूरक में इस ओर इंगित किया था। (देखें इसी अंक का पृष्ठ 19)

अर्थशास्त्री **जान मेनार्ड कीन्स** के 1936 में कहे शब्दों को याद कर लेना उपयोगी होगा : *''उद्योग की स्थायी धारा पर उठने वाले सट्टेबाजी के बुलबुले कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकते। लेकिन स्थिति तब गम्भीर हो जाती है जब उद्योग ही सट्टेबाजी के भंवर में सतह पर तैरने वाला बुलबुला बन जाता है। जब किसी देश में पूंजी का विकास जुआघरों का उपउत्पाद (बाई प्रोडक्ट) बन जाता है, तब पूरी आशंका है कि बात बिगड़ जाये।''* कीन्स की बात आधी सदी बाद ही एक सच्चाई बन गई, पूरी विश्व अर्थव्यवस्था के लिए। और भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व अर्थव्यवस्था से ज्यों-ज्यों ज्यादा जुड़ती गयी है, त्यों-त्यों यहां भी बात बिगड़ती गई है।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी अर्थशास्त्री पाल एम. स्वीजी के शब्दों में : *''वित्त पूंजी मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने वाले उत्पादन की वास्तविक अर्थव्यवस्था के एक विनम्र सहायक की अपनी मूल भूमिका से एक बार जब अलग हो जाती है, तब यह अपरिहार्यतः सट्टेबाजी की पूंजी बन जाती है। पूर्ववर्ती कालों में कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि सट्टेबाजी की पूंजी, जो उतनी ही पुरानी परिघटना थी जितना कि स्वयं पूंजीवाद, इतनी आगे बढ़ जायेगी कि एक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर कौन कहे, समूचे विश्व पर अपना प्रभुत्व कायम कर लेगी। लेकिन ऐसा हो चुका है।''*

पिछले दो दशकों में दुनिया में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी हुई है। 1990 के अंत तक दुनिया में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की मात्रा 15 खरब डालर से भी अधिक हो चुकी थी और इसमें पिछले दस वर्षों में करीब चार गुना की वृद्धि हुई है। पर यह निवेश वास्तविक उत्पादनजीवनयापन के लिये जरूरी चीजों के उत्पादन में नहीं हो रहा है। यह बात अत्यधिक महत्वपूर्ण ढंग से पूंजीवाद के खोखलेपन, असमर्थता और वार्धक्य को उजागर करती है कि यह निवेश विनिर्वाण एवं कच्चे माल के दोहन जैसी उत्पादक गतिविधियों से काफी दूर हटकर वित्त (खासकर तरह-तरह की सट्टेबाजी और ऋण देना), जमीन-जायदाद, बीमा, मीडिया, विज्ञापन और सेवा के अन्य दायरों में विस्तारित हुआ है। भूमण्डलीकरण के दौर में आकर पूंजीवाद का अनुत्पादक, परजीवी, परभक्षी और मानवद्रोही चरित्र जितना नंगा हुआ है उतना शायद पहले कभी नहीं था। गैर उत्पादक गतिविधियों में पूंजी निवेश के विस्तार और पूंजी निवेश के भूमण्डलीय उफान के परिणामस्वरूप तीसरी दुनिया के देशों में एक ओर तो विदेशी पूंजी की पहुंच और पकड़ पहले हमेशा से अधिक व्यापक और गहरी हुई है, पर दूसरी ओर इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं का वास्तविक विकास (उत्पादक कार्रवाइयों के सन्दर्भ में) उतना नहीं हुआ है जितना वित्तीय गतिविधियों का हुआ है।

सामान्यतया वित्तीय प्रसार वास्तविक अर्थव्यवस्था में समृद्धि के साथ ही होता रहा है, पर पिछले करीब 20 वर्षों से जारी नये दौर की असलियत यह है कि वित्तीय प्रसार स्वस्थ वास्तविक अर्थव्यवस्था की जगह ठहराव पर पल रहा है। भूमण्डलीय वित्त बाजारों की तेजी और विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी एवं अस्थिरता का सहअस्तित्व परस्पर विरोधी लगता है, पर ऐसा है नहीं। दरअसल, बुनियादी आवश्यकताओं की चीजों व सेवाओं का उत्पादन करने वाली वास्तविक अर्थव्यवस्था पर आज इजारेदार घरानों का एक बहुत छोटा हिस्सा काबिज है। यही बात भारत के सन्दर्भ में भी है। इस वास्तविक अर्थव्यवस्था का ढांचा ऐसा है कि यह भारी मुनाफा पैदा करती है पर साथ ही नीचे की आबादी की आय पर यही व्यवस्था एक निश्चित सीमा बांध देती है। अतः बाजार का दायरा एक सीमा से नहीं बढ़ सकता और वस्तुओं के उत्पादन की क्षमता का विस्तार करने में मुनाफे की गुंजाइश नहीं रह जाती। तब ये इजारेदार घराने वित्तीय सम्पत्ति में निवेश शुरू कर देते हैं। सत्तर के दशक में अर्थव्यवस्था में ठहराव आने पर यही हुआ। परम्परागत वित्तीय गतिविधियां ठहराव के इस दौर में धीमी हो गईं। वित्तीय संचालक नये व्यवसाय की खोज में थे। ऐसी स्थिति में वास्तविक अर्थव्यवस्था से पलायन कर रही पूंजी वित्तीय क्षेत्र में खपने लगी। वास्तविक उत्पादन की प्रक्रिया से और औद्योगिक पूंजी के बड़े पार्टनर की स्थिति से सापेक्षतः स्वतंत्र वित्तीय पूंजी, और गुब्बारे की तरह फूलता हुआ तथा पारे की तरह अस्थिर एक ऐसा वित्तीय तंत्र अस्तित्व में आया, जैसा पहले कभी नहीं था।

●●●

पहली नजर में, शेयर बाजार पूंजीवादी समाज की वास्तविक आर्थिक गतिविधि से एकदम अलग-थलग प्रतीत होता है। सट्टा बाजार की तेजी के दिनों में शेयरों की कीमतें आसमान छूती होती हैं और फिर इनमें अचानक गिरावट आ जाती है जैसा कि घोटाले के दौरान हुआ। शेयर बाजार में चन्द दिनों या घण्टों में ही करोड़ों-अरबों का नफा-नुकसान हो जाता है। यह सब कुछ उस वास्तविक आर्थिक गतिविधि की रफ्तार और प्रक्रियाओं से बहुत भिन्न होता है जो अपेक्षाकृत अधिक सुस्थिर गति से चलती रहती है तथा काफी धीमी दर से घटती या बढ़ती है। लेकिन फिर भी शेयर बाजार के प्रचण्ड उतार-चढ़ाव पूंजीवादी समाज के वास्तविक मूलाधार पर ही टिके होते हैं, अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन और उजरती श्रम के शोषण के आधार पर ही टिके होते हैं।

शेयर बाजार पूंजीपतियों को अपने उद्यमों के प्रसार और आधुनिकीकरण हेतु धन इकट्ठा करने का रास्ता प्रदान करता है। यदि कोई कम्पनी अपने स्टाक को बाजार में निर्गत करती है और इसके शेयर बिक जाते हैं तो इन शेयरों का खरीदार उस कम्पनी के उत्पादन के साधनों के स्वामित्व में कोई हिस्सा नहीं पाता। शेयर धारक कम्पनी द्वारा भुगतान किये जाने वाले लाभांश में हिस्सा पाने का अधिकार मात्र खरीद रहा होता है। शेयर खरीदने वाला भावी अतिरिक्त मूल्य उत्पादन में हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार खरीदता है। शेयरों की कीमतें भावी लाभप्रदता को प्रदर्शित करती हैं।

एक बार शेयर बाजार में आ जाने पर शेयरों का एक हद तक स्वतंत्र अस्तित्व हो जाता हैं। शेयरों की बिक्री और पुनःबिक्री की जा सकती है। इस तरह से, कोई भी व्यक्ति कम्पनियों द्वारा भुगतान किये जाने वाले लाभांश का इन्तजार किये बिना ही सही मौका ताड़कर शेयरों की खरीद बिक्री से मुनाफा कमा सकता है। बेशक, शेयर कीमतों का आधार अब भी कम्पनी की भावी लाभप्रदता में ही निहित होता है लेकिन यह लाभप्रदता स्वयं ही ढेर सारे कारकों पर निर्भर करती है जिनका सही-सही पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता। ये खुद कम्पनी से सम्बन्धित कारकों या नई तकनोलाजी की स्थिति और उस क्षेत्र में प्रतियोगिता से लेकर अर्थव्यवसाी के आम उतार-चढ़ाव या राजनीतिक ''अस्थिरता'' के खतरों तक कुछ भी हो सकते हैं। इस अनिश्चिता के आधार पर शेयरों की सट्टेबाजी शुरू होती है। दृश्य पटल पर सटोरिये, तेजड़िये और मंदड़िये आ जाते हैं जो थोड़े समय में मुनाफा पीट लेने के लिए लगातार दांव-पेंच करते रहते हैं और कम्पनियों से लाभांश बटोरने के द्वारा नहीं बल्कि शेयरों की

खरीद-बिक्री से मुनाफा कमाते रहते हैं।

इस प्रकार, सट्टा बाजार के दो अंग हैं जो एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। एक प्राथमिक बाजार होता हे जहां कम्पनियां पूंजी जुटाने की गरज से स्टाक के नये शेयर जारी करती हैं। दूसरा द्वितीयक बाजार होता है जिसमें वर्षों पूर्व जारी किये गये शेयर बार-बार बेचे जाते रहते हैं। इन सौदेबाजियों में सटोरिये शेयर-कीमतों में परिवर्तनों को अपने मुनाफे में तब्दील करने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार, शेयरों में ''निवेश'' पर दो प्रकार की आमदनी होती है। एक है सट्टेबाजी की आमदनी। शेयरों की खरीद इस उम्मीद में की जाती है कि इनकी कीमतें ऊपर चढ़ेंगी। दूसरे प्रकार की आमदनी कम्पनी द्वारा अपने स्टाक के शेयरों पर भुगतान किया गया लाभांश है। यही वह आधार है जिस पर सट्टेबाजी की आमदनी की मायावी दुनिया जन्म लेती है।

आज दुनिया भर के शेयर बाजार एक-दूसरे से नजदीकी से जुड़े हुए हैं। दुनिया आज पहले हमेशा से कहीं अधिक एकीकृत है। दुनिया के किसी कोने में किसी भी बड़ी आर्थिक या राजनीतिक घटना का प्रभाव तेजी से राष्ट्रीय सीमाओं को पार करके सारी दुनिया में फैल जाता है। किसी भी देश की, खास तौर से किसी शक्तिशाली पूंजीवादी देश की अर्थव्यवस्था या राजनीतिक स्थिति में कोई भी गड़बड़ या संकट तेजी से कई गुना बढ़ जाता है और फैल जाता है। भारतीय अर्थव्यवस्था के दरवाजे विदेशी पूंजी के लिए ज्यादा से ज्यादा खुलते जाने के साथ ही विश्व अर्थव्यवस्था की हलचलें तो इसे प्रभावित करने ही लगी हैं, विदेशी वित्तीय कार्टेलों के 'लूटो और भागो' वाले हमले भी इसे झेलने पड़ रहे हैं। केतन पारिख के घोटाले में विदेशी वित्तीय कम्पनियों की खास भूमिका थी जो सफाई से अरबों रुपया निकाल ले गईं। अकेले मार्च महीने में शेयर बाजार के 700 अंक गिरने से 1,46,000 करोड़ रुपये का नुकसान हुआ। पिछले वर्ष 3 अप्रैल को मारीशस के रास्ते आने वाली विदेशी काली पूंजी की करामात से सेंसेक्स सीधे 361 अंक नीचे आ गया था जिससे करीब 60,000 करोड़ रुपये की पूंजी उड़नछू हो गयी। इस घटना के पीछे वे विदेशी संस्थागत निवेशक थे जिन्हें खुश करने के लिए वित्त मंत्री ने 'विशेष टैक्स हालिडे' घोषित किया था। दुनिया भर में सट्टेबाजी के सबसे बड़े अड्डे 'नैसडैक' (यानी सूचना प्रौद्योगिकी और मीडिया आदि के शेयरों का अमरीका स्थित शेयर बाजार) से भी भारतीय अर्थव्यवस्था को जोड़ दिया गया है।

शेयर बाजार पूंजीवादी व्यवस्था की उन पुरानी व्याधियों के लक्षणों को प्रकट कर देता है जो पूंजीवादी प्रणाली के अन्तर्निहित अन्तर-विरोध के कारण पैदा होती हैं। यह पूंजीवाद के असाध्य रोग के लक्षणों को उजागर कर देता है। दूसरी तरफ, शेयर बाजार में होने वाली उथल-पुथल और घोटाले पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं तथा पूंजीवाद के संकटों को और बढ़ा देते हैं। साथ ही, शेयर बाजार पूंजीपति वर्ग की परजीवी प्रकृति को तीखेपन के साथ उभाड़कर सामने ला देता है। फैक्टरियों और कम्पनियों के मालिक पूंजीपति भी वास्तविक उत्पादन से कटे होते हैं लेकिन शेयर बाजार में निवेशकों और सटोरियों की गतिविधियां तो वास्तविक उत्पादन से और भी दूर होती हैं।

पूंजीवाद का मूलभूत संकट ''अति उत्पादन'' का संकट है। इसके नाते मुनाफे की दर में गिरावट आ जाती है। वास्तविक अर्थव्यवस्था में मन्दी के दिनों में एक प्रवृत्ति होती है कि अधिक से अधिक मुद्रा शेयर बाजार में सट्टेबाजी के कारोबार में लगने लगती है। अतिरिक्त मूल्य का एक बड़ा हिस्सा उत्पादक गतिविधियों में निवेशित होने और पूंजी में परिणत होने के बजाय शेयर बाजार में सट्टेबाजी के लाभों के लिए प्रयुक्त होने लगता है और ''काल्पनिक पूंजी'' में तब्दील हो जाता है। मुद्रा की भारी आवक के साथ ही शेयर-कीमतें ऊपर चढ़ जाती हैं। बाजार पर सटोरिये छा जाते हैं जो शेयरों के भारी हिस्से रोककर और अपर्याप्त आपूर्ति की दशा उत्पन्न करके शेयरों की कीमतें बढ़ाने की फिराक में रहते हैं। यदि शेयर बाजार में तेजी लम्बे समय के लिए रह जाती है तो शेयरों की कीमतें ''अस्वाभाविक रूप से'' चढ़ जाती है। फिर एक समय आता है जब बाजार में घोर निराशा छा जाती है। हर कोइ गिरावट को लेकर चिन्तित हो जाता है और कोई भी घटना, चाहे आर्थिक क्षेत्र में हो या राजनीतिक क्षेत्र में, एक वित्तीय ध्वंस ला सकती है। जिस क्षण कोई बड़ा दलाल, समय रहते निकल लेने के चक्कर में अपने शेयरों को बचेना शुरू करता है, उसी क्षण वित्तीय ध्वंस की शुरुआत हो जाती है। हर कोई शेयर बेचना चाहता है लेकिन खरीदार कुछ ही होते हैं। शेयरों की कीमतें तेजी से नीचे आ गिरती हैं। ''अस्वाभाविक रूप से'' ऊंची कीमतें ''संशोधित'' हो जाती हैं। एक ही दिन में अरबों रुपये स्वाहा हो जाती हैं। जैसा कि 3 अप्रैल 2000 को या पिछले मार्च में हुआ।

यहां यह बात साफ कर देनी जरूरी है कि शेयर बाजार के वित्तीय ध्वंस में जो कुछ गंवाया जाता है वह वास्तविक पूंजी या वास्तविक सम्पत्ति नहीं होती। सट्टेबाजी न तो तो वास्तविक पूंजी को बढ़ाती है और न ही इसे नष्ट करती है। फिर भी सटोरियों और निवेशकों

शेयर बाजार पूंजीवाद की परजीवी प्रकृति बढ़ते जाने का द्योतक है

पूंजीवादी उत्पादन के विकास के साथ उद्यमों का पैमाना बढ़ जाता है। विशाल उद्यमों को चलाने के लिए आवश्यक विशाल पूंजी अकेले जुटा पाना पूंजीपति के लिए मुश्किल होता है। कई पूंजीपतियों द्वारा मिलकर ज्वाइंट स्टाक कारपोरेशन बनाने की जरूरत सामने आती है। ज्वाइंट स्टाक कारपोरेशन एक ऐसा उद्यम होता है जिसमें कई लोगों की पूंजी संयुक्त रूप से लगी होती है। बड़ी पूंजी द्वारा मध्यम और छोटी पूंजी को नियंत्रित करने और पूंजी का मनमाफिक इस्तेमाल करने का यह एक महत्वपूर्ण जरिया है।

ज्वाइंट स्टाक कम्पनी अपने स्टाक या शेयर जारी करती है और उन्हें खरीदने वाले शेयरधारक बन जाते हैं। शेयरधारकों को अपने शेयरों के अनुपात में उद्यम के मुनाफे में से हिस्सा पाने का अधिकार होता है। शेयरों से होने वाली आय लाभांश (डिविडेंड) कहलाती है।

शेयरों के मालिक पूंजीपति को काम करने की कोई जरूरत नहीं। वह सारा दिन मस्ती कर सकता है और लाभांश के सहारे ऐशो-आराम से रह सकता है। शेयरधारक अक्सर शेयरों का सट्टा भी करते हैं। शेयर बाजार में बेईमानी भरी प्रतिस्पर्धा का बोलबाला होता है। ब्याज की पर्ची काटकर और शेयरों की सट्टाबाजारी करके गुजारा करने वालों का पैदा होना पूंजीवाद की परजीवी प्रकृति के बढ़ते जाने को दर्शाता है।

—राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (शंघाई टेक्स्टबुक), खण्ड-एक

का नफा और नुकसान काफी वास्तविक होता है। वे मुद्रा कमाते हैं और मुद्रा गंवाते हैं। वित्तीय ध्वंस की स्थिति में हजारों लोग भारी रकमें गंवा बैठते हैं और सैकड़ों दिवालिया हो जाते हैं और बैंक से कर्ज ली गयी रकमों का भुगतान कर पाने लायक नहीं रह जाते। नतीजतन बैंक खुद ही मुसीबत में पड़ जाते हैं और कुछ तो दिवालिया हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप एक वास्तविक वित्तीय संकट शुरू हो जाता है। सम्पूर्ण अर्थव्यवसीा भी प्रभावित हो जाती है और इसकी मन्दी गहारा जाती है। हजारों सटोरियों और निवेशकों द्वारा अरबों गंवा चुकने के साथ ही उपभोक्ता बाजार में मांग भी प्रभावित हो जाती है। शेयर बाजार का संकट वास्तविक अर्थव्यवस्था को चपेट में लेने लगता है।

अतीत के झटकों से पूंजीपति वर्ग ने शेयर बाजार में भी कुछ सबक सीखे। अब शेयर बाजार तत्परता से राज्य द्वारा नियंत्रित किये जाते हैं। सट्टेबाजी के कारोबार के लिए शेयर बाजार में उपलब्ध ऋण पर एक हद तक सरकार का नियंत्रण रहता है। उधार लिये गये धन की कुल राशि, जो शेयरों की खरीद के लिए इस्तेमाल की जा सकती है, अपेक्षतया काफी कम होती है। इसका मकसद शेयर कीमतों की अनपेक्षित तेजी को रोकने के साथ ही संकट को शेयर बाजार से पूरे वित्तीय क्षेत्र में फैल जाने से रोकना भी है। लेकिन ये सब भी शेयर बाजार में झटकों और घोटालों को दूर नहीं कर पा रहे हैं। भारत में प्रतिभूति एवं विनिमय बोर्ड (सेबी) का गठन और रिजर्व बैंक का हस्तक्षेप भी अब तक इस मामले में नाकाम ही रहा है। अर्थशास्त्री कंवलजीत सिंह के शब्दों में ये बम्बइया फिल्मों की पुलिस की तरह मौके पर तब नमूदार होते हैं जब चोर अपना काम करके निकल चुके होते हैं।

और जब घोटाले का दायरा इतना बड़ा हो कि उसमें शेयर दलाल, स्टाफ एक्सचेंज का शीर्ष प्रबन्धन, संस्थागत निवेशक, कोआपरेटिव, प्राइवेट और सार्वजनिक बैंकों का शीर्ष नेतृत्व, विभिन्न कम्पनियों के मालिकों से लेकर अंडरवर्ल्ड सरगना तक शामिल हों तो इसे घोटाला नहीं सामान्य कारोबार ही कहा जाना चाहिए। अनुत्पादक कार्रवाइयों, कृत्रिम समृद्धि और अंधी जुएबाजी के आज के दौर में शेयर बाजार ऐसा ही हो सकता है।

पहले नियोजित अर्थव्यवस्था में भी शेयर बाजार में घपले-घोटाले चलते रहते थे लेकिन सीमित पैमाने पर। लेकिन उदारीकरण ने तमाम तरह के आर्थिक अपराधों के लिए दरवाजा खोल दिया। और सबसे बढ़कर, ये वैसे अपराध नहीं हैं जिनकी विपरीत गति के रूप में समाज में उत्पादकता बढ़ती है, नये आविष्कार होते हैं। अपराध तो पूंजीवाद के लिये जरूरी है। चोरियां न हों तो तरह-तरह के तालों का उद्योग ही खत्म हो जाये। और सबसे बड़े अपराध— पूंजीवादी युद्ध तो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को सबसे बड़ी संजीवनी देते हैं। लेकिन आज हो रहे ये आर्थिक अपराध जुआघर की धोखाधड़ी और ठगी है, पूरी तरह अनुत्पादक हैं। काले धन की समान्तर अर्थव्यवस्था की ही तरह अर्थव्यवस्था का एक अच्छा-खासा हिस्सा घपलों-घोटालों से ही चल रहा है। एक धोखे का भाण्डा फूटता है तो दूसरे, उससे भी बड़े घोटाले की पृष्ठभूमि बननी शुरू हो जाती है।

शेयर बाजार मुख्यतः आज एक सट्टा बाजार, एक जुआघर ही है। और ऐसा कौन सा कैसिनो है जिसमें घपले और धोखाधड़ी न होती हो। इस जुआघर को नियम-कायदों से चलाये जाने की दुहाई देने वालों से हम जानना चाहते हैं कि वे एक पवित्र कैसिनो की आशा क्यों करते हैं। मजदूर के श्रम की लूट में घर बैठे हिस्सा बंटाने और रातोंरात अमीर बन जाने के लालच में शेयर बाजार में अपनी कमाई खपा देने वाले छोटे निवेशकों के लिए हाय-तौबा मचाने के बजाय उन्हें शेयर बाजार के वास्तविक रूप को लोगों के सामने रखना चाहिए। शेयर बाजार को चुस्त-दुरुस्त करके छोटे निवेशकों को इस जुआघर में फिर से खींच लाने के लिए वे इतने बेताब क्यों हैं?

वास्तविकता यह है कि शेयर बाजार के घोटाले ने आज पूंजीवाद के घोर अनुत्पादक, परजीवी, जुआड़ी और मानवद्रोही चरित्र को उघाड़कर रख दिया है। आज का यह वृद्ध या परवर्ती पूंजीवाद लेनिन के समय से भी अधिक मरणासन्न है। बहुतेरे लोग, जो भूमण्डलीकरण के दौर में विश्व पूंजीवाद के भीतर आन्तरिक पुनर्गठन की नयी क्षमता देख रहे हैं वे पूंजीवादी उत्पादन तंत्र के बुनियादी अन्तरविरोधों के विकास को देख पाने में शायद इसलिए अक्षम हैं कि अपनी पराजित मनोदशा को इस वस्तुगत सच्चाई पर प्रक्षेपित कर रहे हैं। आज साम्राज्य-वाद अगर जिन्दा है तो सिर्फ अपनी जड़ता की शक्ति पर और दुनिया के पैमाने पर सर्वहारा क्रान्तिकारी ताकतों की फिलहाली कमजोरी के दम पर। विश्व पूंजीवाद के 'आन्तरिक पुनर्गठन' की सभी कोशिशें सिर्फ भावी सामाजिक विस्फोटों की जमीन तैयार कर रही हैं। क्या इसके संकेत जगह-जगह नहीं दीख रहे हैं।

बुर्जुआ सभ्यता और अपराध

अपराध पूंजीवादी जीवन की एकरसता और सुरक्षा भाव को तोड़ता है। इस तरह से वह इसे ठहराव का शिकार बनने से रोकता है और इसमें कठिन तनाव और चपलता पैदा करता है जिसके बिना प्रतियोगिता का डर भी कम पड़ जाता है। इस तरह वह उत्पादक शक्तियों को प्रेरित करता है। जहां अपराध श्रम के बाजार से अतिरिक्त आबादी के एक हिस्से को अपने साथ हटा लेता है और इस तरह मजदूरों के बीच की प्रतियोगिता को कम करता हैउस निश्चित बिन्दु तक ताकि मजदूरों के वेतन न्यूनतम से नीचे न गिरेंवहीं अपराध के विरुद्ध संघर्ष इस आबादी के एक दूसरे हिस्से को अपने भीतर शामिल कर लेता है। इस प्रकार अपराधी प्राकृतिक सन्तुलनकारी के रूप में सामने आता है और अनेक उपयोगी/ जरूरी पेशों के लिए रास्ता खोल देता है।

उत्पादक शक्तियों के विकास पर अपराध के प्रभाव को विस्तार से दिखाया जा सकता है। यदि चोर नहीं होते तो क्या कभी ताले अपने वर्तमान सतर तक पहुंच पाते? यदि जालसाज न होते तो क्या बैंक नोटों की छपाइ इस प्रवीणता के स्तर तक पहुंच पाती? यदि व्यापारिक धोखाधड़ी न होती तो क्या सामान्य व्यापार में सूक्ष्मदर्शियों का उपयोग सम्भव होता? क्या व्यावहारिक रसायनशास्त्र मालों में मिलावट का आभारी नहीं है? अपराध सम्पत्ति पर लगातार नये-नये हमलों के जरिए सुरक्षा के नये-नये तरीकों की जरूरत पैदा करता है और इसीलिए उसी प्रकार उत्पादक है जैसे मशीनों के आविष्कार के लिए हड़तालें। और यदि हम व्यक्तिगत अपराधों के दायरे को छोड़ दें तब भी क्या बिना राष्ट्रीय अपराधों के वैश्विक बाजार अस्तित्व में आया होता? बल्कि क्या राष्ट्र भी जन्मे होते?

— कार्ल मार्क्स

(बुर्जुआ सभ्यता और अपराध)

शेयर बाजार

('पूंजी' खण्ड 3 का अनुपूरक)

फ्रेडरिक एंगेल्स

लेनिन से भी पहले स्वतंत्र प्रतिस्पर्धात्मक पूंजीवाद के दौर में इजारेदारी (monopoly) के प्रकट हो रहे लक्षणों को फ्रेडरिक एंगेल्स ने 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में नोट किया था। वित्तीय पूंजी के बढ़ते प्रभुत्व और शेयर बाजार की भूमिका में हो रहे परिवर्तनों को उन्होंने इंगित किया था।

यूं तो उधार और लेनदारी-देनदारी के माध्यम के रूप में शेयर बाजार पूंजीवाद के शुरू से ही मौजूद था। लेकिन बाद में इसकी भूमिका बदल गयी। 'पूंजी' खण्ड 3 के अध्याय 27 में कार्ल मार्क्स ने पूंजीवादी समाज में शेयर बाजार पर लिखा था। मार्क्स की 1883 में मृत्यु के बाद 'पूंजी' का सम्पादन करते समय एंगेल्स ने अपने जीवन के संध्याकाल में नई उभर रही परिघटनाओं के मद्देनजर शेयर बाजार पर एक अनुपूरक जोड़ने की जरूरत महसूस की थी।

एंगेल्स ने अपनी तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि से उद्योगों को शेयर बाजार के मातहत होते जाने को ही नहीं देख लिया था बल्कि उसी समय इस बात को भी रेखांकित किया था कि विदेशों में ज्यादातर पूंजीनिवेश शेयरों के रूप में ही हो रहा है। उन्होंने पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों में ही यह देख लिया था कि उपनिवेशों की लूट वित्तीय पूंजी के आधिपत्य को ही और मजबूत बनाने का काम कर रही है।

'पूंजी' खण्ड 3 में जोड़ा गया यह अनुपूरक शेयर बाजार की अन्तर्वस्तु को समझने के लिए आज भी बुनियादी सूत्र देता है। और गहराई में जाने के लिए पाठक 'पूंजी' खण्ड 3 के अध्याय 27 'पूंजीवादी उत्पादन में उधार की भूमिका' पढ़ सकते हैं। स्थानाभाव के कारण हम उसे यहां प्रकाशित नहीं कर पा रहे हैं। सम्पादक

1. पूंजीवादी उत्पादन में शेयर बाजार की स्थिति सामान्य रूप में खण्ड 3, भाग 5, विशेषकर अध्याय से स्पष्ट है। लेकिन 1865, जब यह पुस्तक लिखी गयी थी, के बाद एक ऐसा अंतर आ गया है, जो आज शेयर बाजार को कहीं अधिक और लगातार बढ़ती भूमिका प्रदान करता जाता है, और जो अपने विकास के साथ-साथ समस्त, औद्योगिक और ऐसे ही कृषिजन्य, उत्पादन, और सारे वाणिज्य, संचार साधनों और ऐसे ही विनिमय के कृत्यों को भी शेयर बाजार के कर्ता-धर्ताओं के हाथों में संकेन्द्रित करता जाता है, जिससे शेयर बाजार स्वयं पूंजीवादी उत्पादन का सबसे प्रमुख प्रतिनिधि बन जाता है।

2. 1865 में शेयर बाजार पूंजीवादी व्यवस्था में अभी एक गौण तत्व ही था। सरकारी बांड अधिकांश विनिमय प्रतिभूतियों को द्योतित करते थे और उनका कुल योग भी अभी अपेक्षाकृत कम ही था। इसके अलावा, संयुक्त पूंजी बैंक भी थे, जिन्हें महाद्वीप और अमरीका में तो प्रमुखता प्राप्त थी और जिन्होंने इंगलैण्ड में भी अभिजात निजी बैंकों को आत्मसात करना अभी शुरू ही किया था, किन्तु en masst (समूचे तौर पर) जो अभी अपेक्षाकृत महत्वहीन ही थे। रेलों के शेयर आज की तुलना में अब भी अपेक्षाकृत कमजोर थे। ज्वाइंट स्टाक कम्पनी के रूप में अब भी बहुत कम ही प्रत्यक्षतः उत्पादक प्रतिष्ठान थेऔर, बैंकों की ही भांति, वे सबसे अधिक निम्नतर देशोंजर्मनी, आस्ट्रिया, अमरीका, आदि में ही थे। ''कर्ता की आंख'' अब भी एक सर्वव्यापी अंधविश्वास थी।

उस समय शेयर बाजार अभी वह जगह ही था, जहां पूंजीपति एक दूसरे की संचित पूंजी को छीनते थे और जिसका श्रमिकों से सिर्फ पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के सामान्य भ्रष्टकर प्रभाव के एक नये प्रमाण और इस काल्विनी सिद्धान्त की पुष्टि के नाते ही सरोकार था कि पूर्वविधान (उर्फ मौका) इस जीवन में भी सौभाग्य और दुर्भाग्य, सम्पन्नता, अर्थात आनन्द और शक्ति, और विपन्नता, अर्थात निर्धनता और दासता का निर्धारण करता है।

3. अब बात दूसरी है। 1866 के संकट के बाद से संचय लगातार बढ़ती तेजी के साथ होता रहा है, जिससे किसी भी औद्योगिक देश में, इंगलैण्ड में तो और भी, उत्पादन का प्रसार संचय के प्रसार का साथ नहीं दे सका है, या एकल पूंजीपति के संचय का स्वयं अपने व्यवसाय को बढ़ाने में उपयोग नहीं किया जा सकता है ; मसलन, 1845 में भी इंगलैण्ड का सूती उद्योग ; रेलों के घोटाले। इस संचय के साथ rentier, उन लोगों की संख्या भी बढ़ती गयी, जो व्यवसाय के नियमित तनाव से आजिज आ गये थे और इसलिए अपने को कम्पनियों के निदेशकों अथवा शासकों के नरम धंधों से ही बहलाना चाहते थे। और तीसरे, द्रव्य पूंजी के रूप में तिरती इस राशि के निवेश को सुगम बनाने के लिए वहां भी सीमित देयता कम्पनियों के नये विधिक रूपों की स्थापना की गयी, जहां अभी तक ऐसा नहीं किया गया था, और अंशधारी की देयता को भी, जो पहले असीमित थी। (ज्यादा या कम) घटा दिया गया (1890 में जर्मनी की संयुक्त पूंजी कम्पनियां। अभिदान 40 प्रतिशत!)।

4. तदुपरान्त उद्योग का संयुक्त पूंजी कम्पनियों में क्रमिक रूपान्तरण। एक के बाद दूसरी शाखा की यही गति होती है। सबसे पहले लौह उद्योग में, जहां विराट कारखाने अब आवश्यक है (उसके भी पहले खदानें, जहां वे पहले ही शेयरों के आधार पर संगठित नहीं थीं)। इसके बाद रसायन उद्योग, और इसी प्रकार मशीन निर्माण कारखाने। महाद्वीप पर वस्त्र उद्योग ; इंगलैण्ड में सिर्फ लंकाशायर के कुछ क्षेत्रों में ही (ओल्डहैम कताई मिल, बर्नली बुनाई मिल, आदि, सिलाई सहकारिताएं, लेकिन अभी यह प्रारम्भिक अवस्था ही है, क्योंकि अगले संकट के आने के साथ ये दुबारा मालिकों के हाथों में पड़ जायेंगी), बियर निर्माणशालायें (कुछ साल पहले आंग्ल पूंजी को बेची गयी अमरीकी बियर निर्माणशालाएं, फिर गिन्नीज, बैस, आल्साप)। इसके बाद ट्रस्ट, जो संयुक्त प्रबन्ध के अधीन विराट उद्यमों की

स्थापना करते हैं (जैसे युनाइटेड ऐल्कली)। साधारण अकेली फर्म अधिकाधिक व्यवसाय को उस बिन्दु पर लाने की प्रारम्भिक मंजिल ही होती चली जाती है, जहां वह इतनी बड़ी हो जाती है कि ''संस्थापित'' हो सके।

इसी प्रकार व्यापार में भी है : लीफ्स, पार्सस, मार्लीज, मारिसन, डिल्लन सभी (बतर्ज सहकारी दूकान) सहकारिता की ओट में ही नहीं।

इसी प्रकार इंगलैण्ड तक में बैंक तथा अन्य उधार प्रतिष्ठान। बेशुमार नये बैंक, सभी के शेयर परिसीमित। पुराने बैंक तक, जैसे..*, आदि सात वैयक्तिक अंशधारियों के साथ सीमित कम्पनियों में परिवर्तित हो गये हैं।

5. कृषि के क्षेत्र में भी ऐसा ही है। अत्यधिक विस्तारित बैंक, विशेषकर भांति-भांति के नौकरशाहाना नामों से जर्मनी में, अधिकाधिक बंधकधारी होते जा रहे हैं ; उनके शेयरों के साथ भू-सम्पत्ति का वास्तविक उच्च स्वामित्व शेयर बाजार को अंतरित हो जाता है, और फार्मों के लेनदारों के हाथों में पड़ने के मामले में तो यह बात और भी सही है। यहां प्रेयरी प्रदेशों की कृषि क्रान्ति बहुत प्रभावोत्पादक है; अगर यह जारी रहती है, तो उस समय का अनुमान लगाया जा सकता है कि जब इंगलैण्ड की ओर फ्रांस की भी जमीन शेयर बाजार के कब्जे में पहुंच जायेगी।

6. सारा विदेशी निवेश अब शेयरों के रूप में है। इंगलैण्ड का ही उल्लेख किया जाये, तो अमरीकी रेलें, नार्थ एंड साउथ (शेयर बाजार की सूची देखें), गोल्डबर्गर, आदि।

7. फिर उपनिवेशन। आज यह विशुद्धतः शेयर बाजार का पूरक है, जिसके हितार्थ यूरोपिय शक्तियों ने कुछ साल पहले अफ्रीका का विभाजन किया, और फ्रांसीसियों ने ट्यूनिस तथा तोंकिन को जीता। अफ्रीका सीधे पट्टे पर कम्पनियों को दे दिया गया (नाइजर, दक्षिण अफ्रीका, जर्मन दक्षिण-पश्चिमी तथा जर्मन पूर्वी अफ्रीका), और मैशोनालैण्ड तथा नेटाल को रोड्स ने शेयर बाजार के लिए दबोच लिया।

---

*अस्पष्ट। यह 'ग्लिन एंड कम्पनी' हो सकता है, जो एक बैंक था। - सं.

मुद्रा सट्टा तथा व्युत्पत्तिक जुआखाना

हरपाल बराड़

पूंजी के संचय में संकट आने, जिसका लक्षण पूंजी का अति-उत्पादन और लाभकारी निवेश के घटते हुए अवसर होते हैं, जिनसे लाभ कम हो जाता है और बाजार एवं कच्चे माल हेतु प्रतिस्पर्द्धात्मक संघर्ष तीव्र हो जाता है, के साथ-साथ क्षयशील एवं परजीवी पूंजीवाद, अपने लाभों को समाप्त होने से बचाने के प्रयास स्वरूप, विदेशों में निवेश करने तथा अतिरिक्त पूंजी को स्टाक मार्केट या सट्टे में लगाने का रास्ता अपनाता है। अमरीका के छह बड़े बैंकों तथा ब्रिटेन के चार बड़े बैंकों की 40 प्रतिशत आय मुद्राओं और प्रतिभूतियों के व्यापार से ही आती है। हम इस बात का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सीधे विदेशी निवेश (एफडीआई) में किस प्रकार वृद्धि हुई है। (1985 तथा 1995 के मध्य चार गुना हो गया)। उत्पीड़ित राष्ट्रों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रतिभूति निवेश (portfolio investment) में केवल पिछले छः वर्षों के दौरान ही सात गुनी वृद्धि हुई है।

वित्तीय संस्थानों तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा राष्ट्रीय मुद्राओं के चलन पर (hedge), जुआ खेलने और सट्टा लगाने के कारण विदेश विनिमय व्यवस्था से प्रतिदिन 1230 अरब डालर का प्रवाह होता है। वास्तविक उत्पादन से अभूतपूर्व स्वायत्तता के कारण वित्तीय प्रणाली आर्थिक स्थिरता के लिए बहुत बड़ा खतरा बनी हुई है, क्योंकि यह पूरी व्यवस्था में सार्वभौमिक पैमाने पर 'सफलता' और 'असफलता' का वितरण पलक झपकते ही या कम्प्यूटर की एक 'की' (key) दबाते ही कर देती है। सार्वभौमीकरण की वर्तमान पागल दौड़ से पहले भी वित्त पूंजी राष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय नियमों से बाहर कारोबार चलाती रही है। वेने एल्वुड ने अगस्त 1993 के 'न्यू इन्टरनेशनल' में लिखते हुए सही टिप्पणी की थी :

''*मुद्रा व्यापारियों और कारपोरेट बॉण्ड डीलरों को प्रधानता प्राप्त है। तेज रफ्तार कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी ने मुक्त-प्रवाह वाली मुद्राओं में करोड़ों-अरबों डालरों के साथ मिलकर एक समेकित लेकिन अराजक सार्वभौमिक वित्तीय बाजार पैदा कर दिया है। वाल स्ट्रीट बॉण्ड रेटिंग एजेंसियां जब अपने फैसले सुनाती हैं तो दिल्ली से कैनबरा तक के वित्त मंत्री कांप जाते हैं। कम्प्यूटर की बोर्डों पर बैठे पच्चीस वर्ष के लड़के राष्ट्रों के भाग्य को नियंत्रित करते हैं। सरकारें ब्याज दरें बढ़ाती हैं जो सट्टेबाजों को आकर्षित करने के साथ-साथ उत्पादक निवेश को हतोत्साहित करती हैं। और टोक्यो, लन्दन व न्यूयार्क में बैठे धन-प्रबन्धकों, जो बजट घाटों से नफरत करते हैं, को खुश करने के लिए सामाजिक कार्यक्रमों में कटौती की जाती है।* ('मल्टीनेशनल्स एण्ड द सबवर्जन आफ सॉवरेनिटी')

अब बजाए इसके कि सट्टेबाज केन्द्रीय बैंकरों के पास लाइन लगाये खड़े रहें, स्थिति यह है कि बैंकर सट्टेबाजों को अपनी ओर आकर्षित करने की कोशिशों में लगे हैं। अगर सट्टेबाज यह फैसला करते हैं कि किसी मुद्रा को गिरना चाहिए तो वह निश्चित रूप से गिरती है। जार्ज सोरोस ने 1992 में ब्रिटिश पौंड और इटली की मुद्रा लीरा के विरुद्ध डच-मार्क पर 10 अगर डालर की शर्त लगाई। इन मुद्राओं में गिरावट आई और उसने 'क्वाण्टम फंड', जिसका कि वह प्रमुख है, के लिए केवल दो सप्ताह में एक अरब डालर का शुद्ध मुनाफा कमाया। परिणामस्वरूप 16 सितम्बर 1992 (काला बुद्धवार) को, ब्रिटेन को, इसके बावजूद कि पौण्ड के समर्थन में बैंक आफ इंग्लैण्ड ने करोड़ों-अरबों खर्च किये, विनिमय दर प्रणाली (ईआरएम) को छोड़ना पड़ा। इसका प्रभाव ऐसा ही था मानो वित्त मंत्री ने ''व्यक्तिगत रूप से सरेआम सारे अस्पतालों और स्कूलों को समुद्र में फेंक दिया हो।'' (16 सितम्बर 1992 को ईआरएम से पौण्ड स्टर्लिंग के बेचारगी और मजबूरी में निकाले जाने पर सैमुएल ब्रिटन की टिप्पणी)।

मुद्रा बाजार अथवा व्युत्पत्तिक जुआखाने का घाटा वास्तव में स्कूलों और अस्पतालों को समुद्र में फेंकने जैसा ही है, यह बात केलीफोर्निया की ओरेंज काउंटी द्वारा उठाये गये 1.5 अरब डालर के घाटे से स्पष्ट होती है। इस काउंटी ने ब्याज संवेदी व्युत्पत्तियों में निवेश हेतु 14 अरब डालर का ऋण लिया था, ब्याज दरों के बढ़ने पर यह शर्त हार गई। इस समाचार से यह बात भी सामने आई कि अन्य स्थानीय सरकारों द्वारा वहन किये जा रही व्युत्पत्तियां (derivatives) और घाटे किस सीमा तक पहुंच गये हैं। परिणाम यह हुआ कि 7 दिसम्बर 1994 को सामान्यतः कम अस्थिर 1200 अरब म्युनिसिपल बॉण्ड मार्केट में एक पाइंट से अधिक की गिरावट आई। जहां तक ओरेंज काउंटी का मामला है, उसने सार्वजनिक सेवाओं यथा स्कूलों के खर्चो में भारी कटौती की।

निजी वित्तीय संस्थानों के पास अत्यधिक शक्तिशाली देशों से भी अधिक उत्कृष्ट वित्तीय संसाधन हैं, जिससे कि ब्याज एवं विनिमय दरों पर नियंत्रण रखना बुर्जुआ सरकारों के लिए लगभग असंभव हो गया है। मौद्रिक नीति तथा केन्द्रीय बैंकों पर अधिकार रखने वाले अग्रणियों में से एक एलन मेजलर के अनुमानानुसार यदि विश्व के केन्द्रीय बैंक किसी विशिष्ट मुद्रा की सट्टेबाजों के आक्रमण से रक्षा करने की ठान लें तो अधिक से अधिक वे प्रतिदिन 14 अरब डालर ही संचारित कर सकेंगे, जो कि प्रतिदिन विदेश विनिमय प्रणाली द्वारा प्रवाहित होने वाली 1000 अरब डालर से भी अधिक की राशि की तुलना में बहुत छोटी राशि है (जोएल कुर्जमान द्वारा 'द् डैथ आफ मनी' में उद्धृत, न्यूयार्क, साइमन एण्ड शुस्टर)।

''कारोबार में लगाई जाने वाली 800 अरब डालर (अब 1000 अरब डालर से अधिक) की राशि का अधिकांश... अति अल्पावधि के... कुछ घंटों से लेकर कुछ दिनों और अधिक से अधिक कुछ हफ्तों के... सट्टा निवेश में लगाया जाता है... यह धनराशि अधिकांशतः किसी और काम में नहीं, बल्कि केवल पैसा कमाने में लगाई जाती है... यह इतनी बड़ी राशि है, जो जापान के नौ बड़े निगमों--जबकि उनकी अत्यधिक कीमत लगाई गई है--को सीधे खरीदने के लिए काफी है, जिनमें निप्पन टेलीग्राफ एण्ड टेलीफोन, जापान के सात बड़े बैंक और टोयोटा मोटर्स शामिल हैं... यह धनराशि आप्शंस ट्रेडिंग (options trading), शेयर बाजार सट्टे और ब्याज दरों के व्यापार में लगाई जाती है, यह धनराशि अल्पावधि वित्तीय अन्तरपणन (arbitrage) सौदों में लगाई जाती हैं, जहां एक निवेशक एक एक्सचेंज से इस उम्मीद में बाण्ड्स अथवा मुद्राओं जैसे उत्पाद खरीदता है कि उन्हें मुनाफे के साथ दूसरे एक्सचेंज में बेच देगा, यह काम कभी-कभी इलैक्ट्रानिक्स के जरिए साथ-साथ भी हो जाता है।'' (वही, पृ. 64 एवं 149)।

केवल इतना ही नहीं। क्षयशील, परजीवी और मरणासन्न पूंजीवाद अपने मुनाफों में तेजी से आने वाली गिरावट को रोकने के निराशापूर्ण प्रयास में सट्टेबाजी के नित नये तरीके ईजाद कर रहा है। 'बैरिंग्स' के समाप्त होने से 23000 अरब डालर प्रतिवर्ष के व्युत्पत्तिक जूए का पता चला (जरा इसकी तुलना विश्व भर में उत्पादक सावधि पूंजी के कुल स्टाक के मूल्य से कीजिए, जो कि 27 मार्च 1993 के 'इकानामिस्ट' के अनुमान के अनुसार लगभग 20,000 अरब डालर है), जहां पर सुपर बैंक और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों बड़े खिलाड़ी (जुआरी) हैं।

व्युत्पत्तिक अनुबंध वे शर्ते या बाजियां हैं, जो शेयर मूल्यों, मुद्रा मूल्यों, ब्याज दरों और यहां तक कि सम्पूर्ण शेयर बाजार के सूचकांकों पर लगाई जाती हैं। 1970 के दशक के अन्तिम दिनों तक ब्याज दरों पर भविष्य के अनुबंध नहीं होते थे; इस समय ब्याज दरों पर अनुबंधों का मूल्य अमरीका के सकल राष्ट्रीय उत्पाद (सी एन पी) के आधे से भी अधिक है (देखिये जोएल कुर्जमान, 'वही' पृ. 128)।

क्योंकि व्युत्पत्तियां (derivatives) एक गुंजाइश पर खरीदी जाती हैं, जिनमें कि खरीदार को सम्पूर्ण राशि का भुगतान करने के बजाय प्रारम्भ में अत्यधिक वित्तीय प्रभावन के विरुद्ध थोड़ी सी राशि जमा करानी पड़ती है, इसलिए वे ''सट्टेबाजों तथा बेईमान विक्रेताओं (दूसरे शब्दों में इजारेदार पूंजीपतियों) के हाथों में... जोखिम पैदा करने के लिए एक शक्तिशाली उत्तोलन प्रणाली बन गई है'' (कैराल लूमिस, 'अनटैंग्लिंग द् डेरीवेटिव्ज मेस', फार्चून, 20 मार्च 1995)।

उत्पादक निवेश करने के इच्छुक लोगों के लिए वित्तीय प्रणाली की अस्थिरता अप्रिय और नापसंदीदा होती है, लेकिन सट्टेबाजों के लिए ऐसी अस्थिरता ही अवसर प्रदान करती है, इसके बगैर उनका आगे बढ़ता तो दूर, बचे रहना भी असंभव है।

सट्टेबाजी के परिणामस्वरूप अमरीका के 10 बड़े बैंकों की परिसम्पत्तियों के अनुपात में गैर ब्याज आय 1985 से बढ़कर दोगुनी हो गयी है। लन्दन शहर में व्युत्पत्तिक बाजार उसके व्यवसाय के किसी भी अन्य क्षेत्र से अधिक तेजी से बढ़ रहा है। अमरीका के बाहर के बड़े व्युत्पत्तिक बााजार अर्थात 'लन्दन इंटरनेशनल फाइनेन्शियल फ्यूचर्स' और 'आप्शन्स एक्सचेज' में पिछले सात वर्षो के दौरान अनुबंधों के परिमाण में 10 गुना वृद्धि हुई है।

10 फरवरी 1996 के 'इकानामिस्ट' में मैथ्यू बिशप ने लिखा कि यद्यपि derivatives एक लम्बे समय से मौजूद हैं फिर भी *''हाल ही के वर्षों में derivatives के बारे में जो नया घटित हुआ है वह इनके व्यवसाय का परिणाम, उत्पादों का व्यापक चयन, प्रयोक्ताओं की बढ़ती हुई संख्या एवं विविधता तथा उन उद्देश्यों की रेंज हैं, जिनके लिए इनका प्रयोग किया जा रहा है। पच्चीस वर्षों में सार्वभौमिक वित्तीय बाजार में इतना परिवर्तन आया है जो कि एक देहाती दुकान के एक 'शापिंग मॉल' में परिवर्तित होने के बराबर है। 1986 में व्युत्पत्तिक बाजारों का कुल मूल्य 1000 अरब डालर से कुछ अधिक था, जबकि 1994 में बढ़कर यह 20,000 अरब डालर हो गया।''*

उन्होंने आगे लिखा कि 'शिकागो बोर्ड आफ ट्रेड' 'हरीकेन फ्यूचर्स' बेचता है, जिन पर विनिर्दिष्ट अवधियों और स्थानों में तूफान से सम्बन्धित दावों से जुड़ी एक राशि का भुगतान किया जाता है। वॉल स्ट्रीट फर्में भी ''एक्ट ऑफ गॉड बॉण्ड्स'' विकसित कर रही हैं, जो कि परम्परागत ऋण हैं, इस अन्तर के साथ कि इसमें एक शर्त यह भी होती है कि प्राकृतिक आपदा की स्थिति में फर्म की कुछ देयताएं माफ हो जाती हैं। आप ब्राजील, मैक्सिको, अर्जेण्टीना, वेनेजुएला, नाइजीरिया आदि जैसे देशों द्वारा जारी किये गये 'ब्रैडी बाण्डस' के माध्यम से तीसरी दुनिया के ऋण पर भी जुआ खेल सकते हैं।

सम्पूर्ण पूंजीवादी वित्तीय प्रणाली के समक्ष व्युत्पत्तिक बाजार के जुए के कारण उपस्थित अस्थिरता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए मि. बिशप लिखते हैं :

''व्युत्पत्तियों (derivatives) से जुड़े जोखिमों में सर्वाधिक चर्चित जोखिम (systemic) व्यवस्थागत है : यानी यह

संभावना कि व्युत्पत्तिक अनुबंध में हारने पर एक बैंक समाप्त हो सकता है, जिसका कि सम्पूर्ण सार्वभौमिक वित्तीय व्यवस्था पर हानिकारक प्रभाव पड़ेगा। इसी वजह से दुनिया भर में वित्तीय नियंताओं को डरावने सपने दिखाई देने लगे हैं। अपनी नींद में सुधार लाने के लिए वे पहले ही बैंकों की व्युत्पत्तिक (derivative) गतिविधियों के पूर्ण प्रकटीकरण की मांग कर चुके हैं और उनसे यह मांग भी कर चुके हैं कि वे संभाव्य घाटों को पूरा करने के लिए पर्याप्त पूंजी सुरक्षित रखें। और अधिक नियंत्रण की तैयारियां जारी हैं।'' ('अ ब्रीफ हिस्टरी आफ डेरीवेटिव्ज़ : इट इज़ नाट द आइडिया दैट इज़ न्यू, इट इज़ द वाल्यूम')।

हम किसी बुर्जुआ लेखक से यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि वह इतनी आसानी से यह मान लेगा कि परिमाण (quantity) गुण (quality) में परिवर्तित हो चुका है, यानी यह कि पूरी व्यवस्था नियंत्रण से बाहर निकलती जा रही है और यह कि, ट्रेवर रैने के शब्दों में, *''कभी सट्टा उत्पादन की पीठ पर एक बुलबुला था और अब उत्पादन सट्टे की पीठ पर एक बुलबुला बन चुका है।''* ('मेल्टडाउन,' एफआरएफआई, अक्टूबर/नवम्बर 1995)।

'हार्वर्ड बिजनेस रिव्यू' के अनुमानों के अनुसार विश्व में उत्पादक अर्थ व्यवस्था में चलाये जा रहे प्रत्येक डालर के मुकाबले में इस समय शुद्ध वित्त के क्षेत्र में 20 डालर से 50 डालर तक चलाये जा रहे हैं। ये आंकड़े पूंजीवाद के उच्चतम चरण-साम्राज्यवाद के परजीवी और क्षयशील स्वभाव की एकदम सही तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। आज के वार्षिकी भोगी वास्तव में ''कूपन कतर कर'' जीविका चलाते हैं, किसी भी उद्यम में किसी प्रकार से भाग नहीं लेते, और इस शताब्दी के अन्तिम वर्षों में उत्पादन से उससे बहुत अधिक अलग-थलग हो गये हैं, जितना कि इस शताब्दी के आरम्भ में थे। ये वह परजीवी हैं जो सम्पत्तिहरण हेतु जरूरत से ज्यादा पक गये हैं।

यही वे परिस्थितियां हैं, जिनमें कि बुर्जुआ लेखकों को भी यह मानना पड़ा कि *''सार्वभौमिक वित्तीय व्यवस्था एक ऐसे परजीवी परभक्षी के रूप में परिवर्तित हो चुकी है, जो कि अपने मेजबान—उत्पादक अर्थव्यवस्था का मांस खाकर जिन्दा है।''*

(शेष पृष्ठ 25 पर)

ऐसे हुआ घोटाला

तापस चक्रवर्ती

('साम्य' पत्रिका के विशेष आयोजन 'साम्य' पुस्तिका में छपे तापस चक्रवर्ती के लेख 'यात्रा : स्कैम से अयोध्या तक' के सम्पादित अंश हम यहां 'साम्य' से साभार प्रकाशित कर रहे हैं। 1992 में हर्षद मेहता की अगुवाई में हुए 6000 करोड़ के शेयर घोटाले के बाद लिखा गया यह लेख घोटाले की पूरी प्रक्रिया को बहुत स्पष्ट ढंग से उघाड़कर रखता है। पिछले दिनों केतन पारिख की अगुवाई में हुए घोटाले को भी इसकी रोशनी में आसानी से समझा जा सकता है।

लेखक ने शेयर घोटाले को अयोध्या में बाबरी मस्जिद विध्वंस से जोड़ा है और इन दोनों मेंएक में लालची निवेशक और दूसरे में धर्मान्ध कारसेवक के रूप मेंभारतीय मध्यवर्ग की भागीदारी की पड़ताल की है। हम लेखक से क्षमासहित उनके लेखक का केवल वह अंश यहां प्रस्तुत कर रहे हैं जो घोटाले की पूरी कहानी बताता है। पूरा लेख पाठक 'साम्य' पुस्तिका (सम्पादक, विजय गुप्त) या आह्वान कैम्पस टाइम्स (1-15 अगस्त व 16-31 अगस्त, 1993) में पढ़ सकते हैं। सम्पादक

एस.एल.आर. का जादू उर्फ सिस्टम का घोटाला

हमारे बैंकों में रोज जमाकर्ताओं का पैसा जमा होता रहता है। एक कानून के तहत, हर हफ्ते में जमा हुई राशि का एक बड़ा हिस्सा (38 प्रतिशत) बैंकों से निकलकर सरकार के पास चला जाता है। इन पैसों की जगह सरकार इन ''उधारों'' की हुण्डियां बैंकों को दे देती है।। इन हुण्डियों के अनुसार, 60, 90 या 180 दिनों बाद सरकार बैंकों को यह पैसा ब्याज सहित लौटाकर अपनी हुण्डियां छुड़वा लेती है। इन हुण्डियों को हर बैंक हर हफ्ते ''खरीदता'' या ''बेचता'' है, ताकि उस बैंक में जमा राशि का निर्धारित हिस्सा (38 प्रतिशत) सरकार को देने का कानून निभ सके। इस हिस्से को एस एल आर (स्टेट्यूटरी लिक्विडिटी रेशियो) कहा जाता है। इस हिस्से को अलग सरकारी हुण्डियों में रखने का मकसद यह है कि किसी बैंक को अगर अचानक अपने जमाकर्ताओं को पैसों की बड़ी राशि लौटानी पड़ जाये तो वह बैंक ये हुण्डियां भुनाकर सरकार से पैसा ले सके। यह कानून दुनिया के सभी बैंकों में किसी न किसी रूप में चलता है। हमारे यहां इन हुण्डियों की ब्याज दरें बहुत कम होती हैं, मगर कानून को निभाने के लिए बैंकों को इन्हें ''खरीदना'' पड़ता है, बैंकों और सरकार के बीच हर हफ्ते इन हुण्डियों के लेन-देन का व्यापार चलता रहता है। साथ ही साथ बैंक ये हुण्डियां एक दूसरे से भी खरीदते-बेचते रहते हैं, यह पूरा व्यापार ए एस एल आर कानून की बदौलत है। इन हुण्डियों की तादाद बहुत होती है, और इन कागजों का वजन ही इतना हो जाता है कि ट्रकों में लादकर ले जाना पड़ता है। यह सब दुनिया भर के बैंकों के रोजमर्रा कार्यकलाप का एक हिस्सा है।

प्रायः हर रोज ट्रकों को एक दूसरे बैंकों तक दौड़ाने के बजाय बैंकों ने एक सुविधाजनक उपाय निकाला था। उपाय यह था कि हुण्डियों को भेजने-लाने के बजाय सिर्फ लिखा-पढ़ी से ही काम हो जाये। हुण्डियों की मात्रा और कीमत फोन पर तय करके, बेचने वाला बैंक खरीदने वाले बैंक को एक कागजी रसीद भिजवाकर पैसे मंगवा लेता था। ऐसा हर बैंक करता था। इस तरह हर बैंक के पास कुछ हुण्डियां वे होती थीं जो बिक चुकी हैं, और उनकी जगह खरीदने वाले बैंकों से मिली रसीदें होती थीं। उपाय के अनुसार यह तय किया गया था कि महीने या तिमाही के बाद सभी बैंक आपसी समायोजन (रिकौनसिलिएशन) कर लेंगे, और

बिकी हुण्डियों को खरीदार बैंकों के पास भिजवाकर रसीदे कैंसल कर दी जायेगी। समायोजन के बाद फिर वही सिलसिला शुरू होगा, अगले महीने या तिमाही तक। हुण्डियों और रसीदों के रोज-रोज लेन-देन का काम माथापच्ची का है। इसलिए बैंकों ने दलालों का इस्तेमाल करना शुरू किया। दलाल यह लेन-देन करते थे और उन्हें इस दलाली का कमीशन मिलता था।

यह था ''सिस्टम''। 1969 के बैंक राष्ट्रीकरण के बाद इस एस एल आर के व्यापार में बरकत होने लगी, ओर 1990 तक यह व्यापार कई अरबों-खरबों तक का हो गया था। घोटाला इस सिस्टम में घटा।

लाभ ही लाभ

शुरू इस तरह हुआ : समय-समय पर देश में पैसे की कुल मात्रा को कंट्रोल में रखने के लिए अन्य उपायों के अलावा रिजर्व बैंक के पास एक और उपाय हैएस एल आर हुण्डियों की ब्याज की दरों को घटाना या बढ़ाना। कुछ दलालों ने वित्त मंत्रालय और रिजर्व बैंक के अधिकारियों के साथ सांठगांठ कर ली, और उन्हें इन ब्याज दरों के बदलाव की पूर्व सूचना मिलने लगी। ठीक वैसे ही जैसे बजट से पहले कुछ उद्योगपतियों को आने वाले करों के बारे में पूर्व सूचनायें मिल जाती रही हैं। दलालों ने इन गोपनीय पूर्व सूचनाओं का लाभ उठाया। उन्होंने अपने ग्राहक बैंकों के सामने एक आकर्षक प्रस्ताव रखा। उन्होंने कहा, देखिये आपको तो इन हुण्डियों पर पूर्व निश्चित ब्याज ही मिलेगा लेकिन अगर आप इस व्यापार को हमें आपकी मार्फत न करके खुद अपने तहत करने दें तो हम आपको इस निश्चित ब्याज से अधिक लाभ दे सकते हैं, और साथ ही साथ हम आपका एस एल आर भी निर्धारित सीमा में रखते रहेंगे।

बैंकों को साफ मालूम था कि ये दलाल घोटाला कर रहे हैं, लेकिन औपचारिक तौर पर कोई उन पर कानून तोड़ने का इल्जाम नहीं लगा सकता था। एस एल आर की कम ब्याज दरें उन्हें वैसे भी खटकती ही आयी थी लिहाजा वे मान गये। इस पर दलाली ने फिर कहा, देखिये अब हम आपसे व्यापारी के तौर पर कहते हैं कि आप हमें व्यापारिक उधार दीजिये जिससे हम इन हुण्डियों का व्यापार खुद अपने तौर पर कर सकें। यह साफ था कि यह दोहरा घोटाला है, लेकिन औपचारिक तौर पर गैरकानूनी भी नहीं। आखिर व्यापारियों को उनके धंधों के लिए उधार देना बैंकों का ही असली धंधा है। फायदा ही होगा। दलालों ने तय किया कि इन उधारों का ब्याज हुण्डियों के ब्याज से ज्यादा ही रहेगा। इस तरह दलाल बैंकों के पैसे से ही बैंकों में हुण्डियां खरीदने-बेचने लगे, और पूर्व सूचनाओं के आधार पर कानूनन मुनाफा कमाने लगे। बैंकों का भी हाल पहले से अच्छा था। एक ओर उनका एस एल आर कानूनन बनी सीमाओं में रहने लगा, और दूसरी ओर दलालों की दी गयी पूंजियों के ब्याज की आमदनी हुण्डियों के ब्याज से ज्यादा रहने लगी। धीरे-धीरे दलालों ने सिर्फ हुण्डियों के एवज में ही नहीं, बल्कि बिकी हुई हुण्डियों की रसीदों के एवज में भी उधार लेना शुरू कर दिया। हां, भुगतान-चुकतान के समय जिस बैंक की जितनी हुण्डियां और रसीद बनती थीं, उतनी उस बैंक को पहुंचा दी जाती थीं। रसीदों की एवज में बैंकों द्वारा उधार देना औपचारिक तौर पर भी गैरकानूनी था। लेकिन भुगतान-चुकतान पर रसीदें (कैंसिल) निरस्त कर दी जाती हैं इसीलिए इसे एक अन्तरिम बात कहकर नजरअन्दाज कर दिया जाने लगा। सबको लाभ ही लाभ था। पूर्व सूचना देने वालों को भी।

बेईमानी का खेल

फिर बात और गहराई। एस एल आर के लिए नियुक्त दलाल सिर्फ इन्हीं हुण्डियों का धंधा नहीं करते थे। यह तो उनका साइड धंधा था। उनका बरसों से चला आ रहा असली धंधा तो शेयरों की खरीद-फरोख्त का था। स्कैम को अच्छी तरह समझने के लिए शेयर बाजार की दुनिया का मूल तंत्र समझ लेना जरूरी है। मूलतः यह सट्टा है। स्टॉक एक्सचेंजों में, और उनसे बाहर व्यक्तिगत रूप में भी, हर रोज कम्पनियों के शेयर बेचे-खरीदे जाते हैं और इनके मोल-भाव हर रोज तय होते हैं। इस व्यापार में प्रत्यक्ष रूप में दलालों की भूमिका सीधी-सादी दलाली की है। ये शेयरों की खरीद-फरोख्त के कमीशन एजेन्ट हैं, और खरीददारों और बेचने वालों के बीच सौदा कराते हैं और सौदों पर थोड़ा सा कमीशन लेते हैं। जैसा लकड़ी, कोयला वगैरह के दलाल करते हैं। यह सब जानी मानी और पुरानी बात है। लेकिन इसी में एक और पुरानी पर कम जानी गयी बात है, वह है दलालों में से कुछ दलाल, दलाल के अलावा खिलाड़ी भी होते हैं। इनको आपरेटर कहा जाता है। ये आपरेटर दलाल, कभी-कभार अपने बूते पर या फिर अधिकतर समय अन्य पूंजी वाले आपरेटरों के लिए, शेयर बाजार में सक्रिय खेल खेलते हैं। खेल ऐसा होता है कि पहले किसी कम्पनी के शेयर को जानबूझ कर लगातार खरीदने की बोली लगाते हैं। इससे उस शेयर की कीमत बढ़ने लगती है,। देखादेखी आम खरीदार भी इस चढ़ते शेयर को खरीदना चाहते हैं। इससे दाम और भ्झी बढ़ते हैं। जब इस भेड़चाल से शेयर का दाम काफी ऊपर चढ़ जाता है तब आपरेटर दलाल अपने खरीदे हुए शेयर चढ़े दाम पर बेच देते हैं, और अपना मुनाफा कमा लेते हैं। लेकिन दलालों द्वारा जब यह बेचा जाता है तभी इस शेयर का दाम भी घटने लगता है। देखादेखी आम खरीदार अब विपरीत भेड़चाल में आते हैं। दाम क्रैश हो जाता है। आपरेटर अपना काम कर गये होते हैं, पर बाकी आम खरीदार, जिन्होंने चढ़ते दाम देखकर अपना पैसा इन शेयर पर लगाया होता है, डूब जाते हैं। जाहिर है, आपरेटरों का यह खेल खेलने के लिए बहुत पूंजी होनी चाहिए। और ठीक यहीं पदार्पण किया एस एल आर के दलालों ने।

अगली कड़ी यूं जुड़ी, या जोड़ी गयी कि एस एल आर की हुण्डियों व रसीदों का समायोजन (रिकौन्सीलियेशन) महीने या तिमाही के अन्त में न होकर पिछड़ने दिया जाने लगा। हालत ऐसी हो गई कि बैंकों के हाथ में कुछ हुण्डियां या रसीदें बिक चुकी होती थीं, इन्हीं में से कुछ एक बार फिर खरीदी जा चुकी होती थीं, और इन्हीं खरीदी व बेची जा चुकी हुण्डियों व रसीदों के एवज में दलालों को कई उधार दिये जा चुके होते थे या कई उधार वापस हो चुके होते थे-- पर इन सबका हिसाब किताब नहीं हुआ होता था। किसको कितना देना है या लेना है यह किसी को नहीं पता था--दलालों के अलावा। ऐसी अवस्था में जाली रसीदें भी बना दी गयीं, और जाली रसीदों के एवज में भी दलालों ने बैंकों या बैंकों की मार्फत अन्य कम्पनियों, संस्थानों आदि से उधार लेना शुरू कर दिया। यह सारा पैसा शेयर बाजार में खेलने के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा। यह स्कैम का चरम उत्कर्ष था।

उत्कर्ष या अपकर्ष

उत्कर्ष की स्थिति का संदर्भ था भारत सरकार का आर्थिक सुधार। भारत सरकार ने विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की शर्तों के मुताबिक देश के पूरे आर्थिक ढांचे को

बदलना शुरू कर दिया। आपरेटर दलालों द्वारा चढ़ाये शेयर बाजार के ढांचे में बदलाव को शुभ लक्षण समझा जाने लगा। आशावादिता यथार्थ लगने लगी। शेयर बाजार खूब चढ़ा। आपरेटर दलालों के पास और भी ज्यादा पैसा आने लगा। बीसियों बैंक, कम्पनियां, सरकारी निगम और संस्थाएं, पूंजीपति सब इन दलालों की मार्फत मुनाफा चाहने लगे। अपना-अपना प्राकृतिक धंधा छोड़कर, ये सब अपनी और जनता की पूंजी दलालों के हाथ देकर शेयर बाजार में धंधा कराने लगे। इन सबको मालूम था कि शेयर बाजार का चमत्कारी उफान सरकार के आर्थिक सुधारों की वजह से नहीं है और न ही उफान भारतीय कम्पनियों के शेयरों की असली कीमतों की वजह से है। लेकिन तात्कालिक मुनाफा कमाने की चाह में सब मिलकर यह सिस्टम चलाते गये। बहुत खिंच जाने के बाद, जैसा होना निश्चित था, जब एक कड़ी प्रकाश में आयी तो एक-एक करके सारी कड़ियां टूटने लगी। पूरा ढांचा ढह गया। शेयर बाजार गिरा। स्कैम सम्पन्न हुआ।

स्कैम में जो पैसों का तांडव हुआ, वह पैसा कहां से आया? दलालों को दिये गये उधार प्रत्यक्ष रूप से तो बैंकों से आये। पर बैंकों के पास पैसा कहां से आया? साधारण जमाकर्ताओं से। साधारण जमाकर्ता कौन हैं? आम जनता नहीं। बैंकों में जमा करने लायक पैसा देश के कितने निवासियों के पास होता है? आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, पर साफ है ये जमाकर्ता देश के उच्च और मध्यम वर्ग से ही हैं। 1991 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार ये निवासी करीब एक करोड़ हैं, यानी कुल जनसंख्या का लगभग दो प्रतिशत। और असाधरण जमाकर्ता कौन हैं? वही लोग, संगठन, संस्थायें, और कम्पनियां जिन्होंने अपना-अपना पैसा बैंकों में ''डिपाजिट'' या ''इनवेस्ट'' किया। ये हैं कुछ दर्जन। इनका पैसा कहां से आता है? सरकारी संस्थानों, उपक्रमों आदि का पैसा आता है सरकारी बजट से। और बाकी कम्पनियों का पैसा आता है आम जनता की जेबों से, जो इन कम्पनियों का बना माल खरीदती है। और, आखिर में, सरकार के पास पैसा कहां से आता है? तीन रास्तों से एक, जनता पर लगे टैक्स से, दो एस एल आर द्वारा बैंकों से, और तीन, नोट छापकर।

●

नौकरशाही, औद्योगिक घरानों, राजनेताओं और सटोरियों की सांठगांठ का नतीजा है घोटाला

● प्रो. अरुण कुमार

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. अरुण कुमार का लेख उदारीकरण की नीतियां लागू होने के बाद से शेयर बाजार में घपलों-घोटालों की संख्या में बेतहाशा बढ़ोत्तरी और वित्तीय तंत्र के बढ़ते अपराधीकरण को उजागर करता है। इस स्थिति को सुधारने के उनके सुझावों से असहमति हो सकती है पर घोटाले के पूरे तंत्र को समझने में यह लेख बहुत मददगार है। सम्पादक

नयी अर्थव्यवस्था यानी मुक्त अर्थव्यवस्था की शुरुआत 1991 में पी वी नरसिम्हा राव के समय हुई। उससे पहले शेयर बाजार में निजी क्षेत्र की इतनी अहमियत नहीं थी, जितनी अब है। तब सार्वजनिक क्षेत्र ही मायने रखता था। लेकिन आज पूंजी उगाहने में निजी क्षेत्र का महत्व पहले की तुलना में बहुत बढ़ा है। शेयर बाजार, दरअसल, दो तरह के होते हैं प्राथमिक एवं द्वितीयक। प्राथमिक शेयर बाजार में नयी परियोजनाओं एवं नये निवेश के लिए पूंजी इकट्ठा की जाती है, जबकि द्वितीयक शेयर बाजार ही है, जिसमें सट्टेबाजी पहले भी होती थी, अब भी होती है। अब इसकी मात्रा ज्यादा बढ़ गयी है।

1991 से पहले विदेशी पूंजी शेयर बाजार में नहीं के बराबर आती थी, पर अब वह बड़ी मात्रा में आ रही है। सरकार एवं उसकी वित्तीय संस्थाओं का नियंत्रण भी खत्म होता जा रहा है। जबकि 1991 से पहले उसका पूरा नियंत्रण होता था। पुरानी अर्थव्यवस्था में भी 'इनसाइड ट्रेडिंग' होती थी, लेकिन सरकारी नियंत्रण खत्म होने से अब इसमें बेतहाशा वृद्धि हुई है। उसी तरह सरकारी वित्तीय संस्थायें पहले भी बाजार में तेजी लाने और उसे चढ़ाने का प्रयास करती थीं, पर 1991 के बाद नियंत्रण कमजोर पड़ने के बावजूद उन्होंने बाजार को और चढ़ाने में सहायता की है। यहां यह जानना आवश्यक है कि 'इनसाइड ट्रेडिंग' क्या है? किसी कम्पनी का शेयर की कीमत क्या हो, यह कम्पनी की मुनाफा, उसके प्रबन्धन एवं ऐसी ही अन्य चीजों पर निर्भर करता है। पर जो चीज सबसे ज्यादा काम करती है और सामने आती है, वह यह 'उम्मीद' है कि आगे क्या स्थिति होगी। इसके बढ़ने और घटने से शेयर की कीमत तय होती है। उम्मीद बढ़ी, तो कीमत बढ़ जायेगी और घटते ही कीमत गिर भी जायेगी। इसे बढ़ाना या घटाना सट्टेबाजी का काम है। इससे वे मुनाफा कमाते हैं और कम्पनी के मालिक भी फायदे में होते हैं। जब किसी कम्पनी को अपना शेयर बेचना होता है तो वह जानबूझकर बाजार में उम्मीद बढ़ा देती है। इस तरह की जोड़-तोड़ अंदरूनी सूचनाओं के आधार पर होती है, जिसकी भनक सट्टेबाजों को रहती है और वे 'इनसाइड ट्रेडिंग' करते हैं। प्रायः सट्टेबाज कम्पनियों के मालिकों से मिले रहते हैं, जिससे उन्हें पहले ही जानकारी हो जाती है कि कम्पनी का व्यापार प्रदर्शन कैसा है और उसी आधार पर वे शेयरों को खरीदते, बेचते एवं फायदा उठाते हैं। यहीं से शेयर बाजार में घोटाले शुरू होते हैं।

1991 के बाद से बाजार में कम्पनियों के विलय एवं अधिग्रहण आदि तेजी से चल रहे हैं। यदि किसी कम्पनी को दूसरी कम्पनी के प्रभाव या अधिग्रहण से बचाना है, तो शेयर की कीमत जोड़-तोड़ से ऊपर चढ़वा देना होगा, ताकि खरीदने वाला ज्यादा पैसा दे। उसी तरह कम्पनी को डुबोना है, तो उसके शेयरों की कीमत कृत्रिम माहौल बनाकर गिरा दी जाती है। तेजड़िया एवं मंदड़िया यही काम करते हैं। जब कीमत कृत्रिम तरीके से बहुत ज्यादा बढ़ जाती है, तो अचानक वह धड़ाम से नीचे भी गिरती है। इसकी वजह देर तक उसका बरकरार नहीं रह पाना है। फलतः शेयरों की कीमतों में आयी भारी गिरावट घोटाले की जन्मपत्री बनती

है। सट्टेबाजी इस घोटाले का एक हिस्सा है। इस तरह के घोटालों में नौकरशाही-औद्योगिक घरानों एवं राजनेता—तीनों का संयुक्त हाथ होता है। यह त्रिगुट फायदे के लिए विभिन्न कम्पनियों का शेयर मूल्य बढ़ाने या घटाने में दिलचस्पी रखता है। 1994-95 के लगभग अंबानी की रिलायंस कम्पनी ने वित्त मंत्रालय एवं यू टी आई पर दबाव डालकर 800-900 करोड़ रुपये के शेयर खरीद लिये थे। बाद में इस कम्पनी का शेयर भाव गिरने से यूटी आई को जबर्दस्त घाटा हुआ था। पर ऐसा नहीं है कि रिलायंस ने इसके बाद सरकारी शेयर खरीदने बन्द कर दिये। सरकार किसी की हो, हर पार्टी में उसके प्रवक्ता हैं। कांग्रेस में प्रणव मुखर्जी हैं तो भाजपा में प्रमोद महाजन एवं मुलायम सिंह यादव की पार्टी में अमर सिंह।

जब नयी अर्थव्यवस्था की शुरुआत हुई, उसके एक साल के अंदर हर्षद मेहता कांड सामने आया। भारतीय रिजर्व बैंक की जानकी रमण समिति की रिपोर्ट के मुताबिक उस शेयर घोटाले से तीन हजार करोड़ रुपये का नुकसान हुआ था, पर प्राइवेट सर्वेक्षणों के मुताबिक यह नुकसान इससे कहीं जयादा था। तब इस घोटाले की जांच के लिए संयुक्त संसदीय समिति (जेपीसी) का गठन किया गया था, जिसका निष्कर्ष था कि शेयर बाजार का नियमन एवं सट्टेबाजी पर नियंत्रण व निगरानी बेहद जरूरी है। अतः भारतीय प्रतिभूति एवं विनिमय बोर्ड (सेबी) का गठन किया गया। लेकिन इसके बावजूद घोटाले वगैरह रुके नहीं। कृषि एवं पौधों के लिए फर्जी कम्पनियां उग आयीं और बाद में ग्रेनाइट की और उसके बाद 1998 से सूचना-प्रौद्योगिकी के नाम पर घोटालेबाजों की चांदी हो गयी। इन फर्जी कम्पनियों ने करोड़ों का वारा-न्यारा किया, पर इनका कुछ नहीं बिगड़ा। अब एक बार फिर 9 साल बाद केतन पारिख नामक दलाल ने सेबी की पोल खोल दी है कि यह एक नख-दंत विहीन साधन है। कृत्रिम तरीके से केतन पारिख के कारण शेयर बाजार के पूरे शेयरों की कीमत 6 लाख करोड़ रुपये से बढ़कर बहुत तेजी से 11 लाख करोड़ रुपये तक पहुंच गयी, पर जल्द ही यह कीमत गिरकर सात लाख रुपये पर आ गयी। इसमें आम आदमी ने जो निवेश किया है, उसे बड़ी क्षति हुई है। हालांकि अभी यह बताना मुश्किल है कि यह क्षति कितनी है।

हर्षद मेहता कांड के समय तत्कालीन वित्त मंत्री मनमोहन सिंह ने कहा था कि शेयर बाजार के उतार-चढ़ाव से वे अपनी नींद खराब नहीं करेंगे। इससे शेयर बाजार में सट्टेबाजों को प्रोत्साहन मिला था। 28 फरवरी, 1992 को हर्षद मेहता के ठिकानों पर छापे पड़े थे जिसे मनमोहन सिंह ने रुकवा दिया था, ताकि शेयर बाजार पर गलत असर न पड़े और हर्षद मेहता की फाइल भी दबा दी थी ताकि शेयर बाजार ऊपर उठे। जब उसी साल अप्रैल में यह मामला फूट पड़ा, तब फाइल सामने आयी। मैं मानता हूं कि हर्षद मेहता कांड में मनमोहन सिंह भी बड़े दोषी हैं। उसी तरह जब केतन पारिख के घर और दफ्तर पर छापा पड़ा, तो वित्त मंत्री यशवन्त सिन्हा समेत दिल्ली के कुछ बड़ी राजनीतिक हस्तियां परेशान हो गयीं। श्री सिन्हा ने तुरन्त छापा रुकवा दिया, क्योंकि इस खबर से शेयर बाजार तेजी से नीचे गिरता, पर इससे बाजार में यह अफवाह फैली कि केतन पारिख का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता और वित्त मंत्री भी उसकी मृट्ठी में है। इस कारण पारिख की साख भी हर्षद मेहता की तरह बढ़ी है और कुछ दिनों पहले नये शेयर घोटाले की जांच के लिए जिस जेपीसी का गठन किया गया है, वह भी पहले की तरह टांय-टांय फिस्स हो जायेगी। हां, भारतीय रिजर्व बैंक को इस पर अपनी रिपोर्ट देनी चाहिए, जिसमें पूरी वित्तीय संरचना शामिल हो।

शेयर बाजार को उदारीकरण के दौर में अपनी अर्थव्यवस्था को मापने की इकाई के रूप में देखना सही नहीं होगा। हर्षद मेहता ने जब बाजार को चढ़ाया था, तब औद्योगिक विकास दर बाजार के विपरीत घट रही थी। बिना सट्टेबाजी के कोई कम्पनी एक दिन में कैसे 10 फीसदी गिर या उठ सकती है। 1996-97 के बाद विदेशी पूंजी हमारे शेयर बाजार में आने से अमरीका के शेयर बाजार का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा है। वहां बाजार के चढ़ने पर यहां भी बाजार चढ़ता है और वहां मंदी आने पर अपना बाजार ही मंदा पड़ जाता है, जबकि हमारी अर्थव्यवस्था से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि शेयर बाजार में कितना काला धन लगा है पर बाजार पर काला धन का असर बहुत ज्यादा है क्योंकि सट्टेबाजी में कालेधन का उपयोग सबसे ज्यादा होता है। नशीली दवा, हीरा, सोना आदि के अवैध व्यापार से आया पैसा शेयर बाजार में ही सबसे ज्यादा लगता है। इस कारण आधिकारिक व्यापार में (जो सुबह दस बजे से शाम छह बजे तक चलता है) काले धन को सफेद या सफेद धन को काले धन में बदला जाता है। अतः जब तक कालेधन की अर्थव्यवस्था को नियमित एवं नियंत्रित नहीं किया जायेगा और व्यापार, वित्तीय क्षेत्र, राजनीति एवं नौकरशाही में जवाबदेही की भावना नहीं आयेगी, शेयर घोटाले चलते रहेंगे और आगे फिर किसी हर्षद मेहता या केतन पारिख से आपका साबका पड़ेगा। ●

(**'हस्तक्षेप'** से साभार)

मुद्रा सट्टा और व्युत्पत्तिक जुआखाना

(पृष्ठ 22 का शेष)

(कोर्टन, पृ. 193)।

यह निष्कर्ष उस निष्कर्ष से मुश्किल से भिन्न होगा, जो कि 1916 में लेनिन ने निकाला था कि ''*...पूंजीवाद का विकास उस चरण तक आ गया है, जहां यद्यपि उपभोक्ता वस्तु के उत्पादन का अभी तक 'वर्चस्व' है और उसे आर्थिक जीवन का आधार समझा जा रहा है, लेकिन वास्तव में इसकी स्थिति गौण हो गई है और अधिकतर लाभ वित्तीय छल-कपट के 'पंडितों' को पहुंचता है। इस छलकपट और धोखेबाजी के मूल में समाजीकृत उत्पादन रहता है, लेकिन मानव जाति की अत्यधिक प्रगति, जिससे कि यह समाजीकरण प्राप्त हुआ है, का लाभ सट्टेबाजों को मिलता है... बाद में हम देखेंगे कि 'इन आधारों पर' पूंजीवादी साम्राज्यवाद के प्रतिक्रियावादी, पेटी-बुर्जुआ आलोचक किस प्रकार 'मुक्त', 'शान्तिपूर्ण' और 'ईमानदाराना' प्रतिस्पर्धा की ओर वापस लौटने का सपना देख रहे हैं।*'' (साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था, पृ. 26-27)।

और इसके बावजूद मि. कोर्टन को यह कहने में कठिनाई महसूस नहीं होती कि मार्क्सवाद एक 'हेय मौत' मर चुका है तथा उसका खण्डन किया जा चुका है। वह भी साम्राज्यवाद के उन प्रतिक्रियावादी, पेटी बुर्जुआ आलोचकों में से हैं, जो '' 'मुक्त', 'शान्पूिर्ण' और 'ईमानदाराना' प्रतिस्पर्धा में वापस जाने का सपना देख रहे हैं।''

(हरपाल बराड़ की पुस्तक **'साम्राज्यवाद : पतनशील, परजीवी, मरणासन्न पूंजीवाद'** का एक अध्याय, परिदृश्य प्रकाशन से साभार)

आर्थिक ''सुधारों'' का दूसरा चरण

निरंकुश दमनकारी राज्यतंत्र की ओर धकेलती आर्थिक नीतियां

● **ओमप्रकाश**

पिछली 18-19 मई को 37वें भारतीय श्रम सम्मेलन में प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने भारतीय नियोक्ता परिषद (इंडियन इम्प्लार्यस कौंसिल) और केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के प्रतिनिधियों के बीच जिस ढिठाई के साथ ''उदारीकरण''—निजीकरण की नीतियां जारी रखने और श्रम कानूनों में बदलाव की जरूरत पर भाषण पिलाया उसे सिर्फ भाजपा की पूंजीपरस्ती के रूप में समझना भूल होगी। दरअसल यह आर्थिक ''सुधारों'' के दूसरे चरण में देशी-विदेशी पूंजी की वह आसन्न जरूरत है जो वाजपेयी के सिर पर चढ़कर बोल रही थी। यह महज इत्तफाक है कि जब इस जरूरत को पूरा करने का वक्त आया है तो वाजपेयी अपने सहयोगी दलों की मदद से प्रधानमंत्री पद पर विराजमान हैं। देश की बुर्जुआ राजनीति की अन्य किसी भी धारा के नुमाइन्दे—कांग्रेस, जनता दल, लोकमोर्चा या यहां तक कि संसदीय वामपंथियों के नुमाइन्दे भी इस समय अगर सरकार में बैठे होते तो वे वाजपेयी के ही तेवर और अन्दाज में इस जरूरत को पूरा करते। कम से कम जहां तक आर्थिक दिशा में चलने के लिए नरसिंहराव-मनमोहन सिंह सरकार ने जो लीक बनायी उसे संयुक्त मोर्चा सरकार ने और साफ-सुथरा और चौड़ा बनाया तथा वाजपेयी के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन की सरकार ने इसे राष्ट्रीय राजमार्ग में तब्दील कर दिया। इसपर अब सिर्फ बीच-बीच में कुछ 'स्पीड ब्रेकर' रह गये हैं, जिन्हें तोड़फोड़ कर समतल-सपाट बनाने का काम दूसरे चरण में किया जाना है, जिससे देशी-विदेशी पूंजी का रथ बिना हिचकोले खाये सरपट भाग सके। श्रम कानूनों में बदलाव भी इन्हीं 'स्पीडब्रेकरों' को साफ करने की तैयारी है।

पहले चरण के अन्तर्गत निजी पूंजी के निर्बन्ध संचलन पर नेहरूकालीन मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीति के तहत लगाये गये प्रतिबन्धों को ढीला करने और आयात प्रतिस्थापन की नीतियों की दिशा उलटने के लिए शुरुआती कदम उठाये गये। इस 'लाइसेंस-कोटा-परमिट राज' के तथाकथित समाजवादी आग्रहों से पीछा छुड़ाने के लिए जनमत तैयार करना और निजीकरण-उदारीकरण की दिशा में शुरुआती कदम उठाते

शासक वर्ग ''सुधारों'' के दूसरे चरण की नीतियों को लागू करने के साथ ही दमन की मशीनरी को भी चाक-चौबन्द करते जा रहे हैं। देश की 'आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा' पर खतरों से निबटने के नाम पर की जा रही सारी तैयारियां—पुलिस, सैन्य व अर्द्धसैनिक बलों का अत्याधुनिकीकरण, खुफिया तंत्र का आधुनिकीकरण (कुख्यात इस्रायली खुफिया एजेंसी 'मोसाद' से तालमेल) और नये-नये दमनकारी कानूनों की तैयारियां—इसी दिशा में केन्द्रित हैं।

नीतियों और इन नीतियों को लागू करने के लिए राज्य की दमन-मशीनरी के इस्तेमाल की बात है, बुर्जुआ वर्ग के सभी राजनीतिक नुमाइन्दों में इस पर पूरी एका है। जब से ''सुधारों'' की प्रक्रिया शुरू हुई है तब से अब तक केन्द्र और राज्यों की विभिन्न सरकारों के कामकाज के तजुर्बों के आधार पर कोई औसत राजनीतिक समझ का व्यक्ति भी इस नतीजे पर पहुंच सकता है।

आर्थिक ''सुधारों'' का पहला चरण मुख्यतः अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक के संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम के तहत देश की अर्थव्यवस्था में व्यापक परिवर्तनों (macro economic changes) का चरण था जिसकी शुरुआत 1991 में नरसिंह राव-मनमोहन सिंह कम्पनी द्वारा नयी उद्योग व आर्थिक नीतियों की घोषणा के साथ हुई थी। इस पहले चरण में जोर मुख्यतः इस बात पर था कि देशी निजी एकाधिकारी पूंजी के निवेश के लिए नये-नये क्षेत्र मुहैया कराने की खातिर रास्ते साफ करना। साथ ही, अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के निर्बन्ध आगमन के लिए तमाम बन्दिशों को हटाना। दूसरे शब्दों में, देश की अर्थव्यवस्था को विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ पूरी तरह समेकित करना। इस हुए इसके विरोध और प्रभावों की सामर्थ्य एवं विस्तार का आकलन करते हुए फूंक-फूंककर आगे बढ़ना पहले चरण की खासियत थी। सवाल चाहे सार्वजनिक क्षेत्रों के निजीकरण का हो, तथाकथित ''वित्तीय अनुशासन'' कायम करने के नाम पर सब्सिडियों में कटौती करने का हो या विदेशी पूंजी के लिए दरवाजे खोलने का, सरकार कुछ हिचकते-हिचकते, आगा-पीछा देखते हुए आगे बढ़ रही थी। देशी पूंजीपतियों के चैम्बर और मुद्राकोष-विश्वबैंक के अधिकारी सरकार की इसी हिचक को ''राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी'' कहकर अक्सर आलोचना भी करते थें लेकिन, अब यह चरण बीत चुका है। शासक वर्ग अब फैसलाकुन ढंग से निर्द्वंद्व होकर आगे बढ़ रहा है। बिना ज्यादा आगा-पीछा सोचे।

''सुधारों'' का दूसरा चरण अर्थव्यवस्था में किये गये व्यापक परिवर्तनों को आगे बढ़ाते हुए अब सूक्ष्म परिवर्तनों की शुरुआत करना है। इसके तहत अब अर्थव्यवस्था के अलग-अलग क्षेत्रों में पहले चरण के ''सुधारों'' को गहराई तक ले जाना है। कहने की जरूरत नहीं कि इन दोनों चरणों के बीच कोई चीन की दीवार नहीं है। पहले चरण में भी दूसरे चरण के कुछ काम निपटाये जाते रहे हैं और दूसरे चरण में भी पहले चरण के

बचे-खुचे काम निपटाये जायेंगे।

दूसरे चरण की घोषणा मौजूदा सरकार ने पदभार ग्रहण करते ही कर दी थी। वित्तमंत्री के रूप में यशवन्त सिन्हा द्वारा पेश किये गये चार बजटों और इस सरकार के अन्य नीतिगत निर्णयों में जो आक्रामकता दिख रही है वह दूसरे चरण की विशिष्टता है। कामकाज सम्हालते ही इस सरकार ने बीमा विधेयक व पेटेंट विधेयक को पास करने में एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया। संसद में विपक्षी दलों के हुल-हपाड़े के कारण जब बीमा विधेयक लटकता रहा तो सरकार ने अध्यादेश जारी करने में भी कोताही नहीं की। सार्वजनिक उपक्रमों के विनिवेश की प्रक्रिया में हर रुकावट को परे हटाने के लिए यह सरकार किस सीमा तक जाने के लिए तैयार है, इसे मॉडर्न फूड और बाल्को प्रकरण से साफ-साफ समझा जा सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र के ये दोनों उपक्रम फायदे में चल रहे थे, लेकिन इन्हें कौड़ियों के मोल बेच दिया गया। इन दोनों उपक्रमों को पहले से तयशुदा पूंजीपतियों को बेचने के लिए तमाम औपचारिकताओं और कानूनी प्रक्रियाओं की धज्जियां उड़ाते हुए जो घपलेबाजियां सरकार ने कीं वे भी इस सरकार के हमलावर इरादों को ही जाहिर करते हैं।

नेहरूकालीन तथाकथित कल्याणकारी बोझ को उतार फेंकने की प्रक्रिया को भी यह सरकार फैसलाकुन मुकाम पर पहुंचा देना चाहती है। अपने हर बजट के जरिये यशवन्त सिन्हा इस दिशा में लम्बी छलांग भरते हुए आगे बढ़ते जा रहे हैं। अपने ताजा 'न्यू डील' (वर्ष 2001-2002 के बजट को यशवन्त सिन्हा ने यही नाम दिया था) में इसका एक समयबद्ध कार्यक्रम पेश किया गया है। जैसे— मार्च 2002 तक पेट्रोलियम पदार्थों पर हर तरह की सब्सिडी खत्म करना, अप्रैल 2006 तक चरणबद्ध ढंग से यूरिया पर सब्सिडी पूरी तरह खत्म करना, अगले वर्ष (2002) चीनी के व्यापार में वायदा कारोबार को लागू करना और फिर चीनी की खरीद-बिक्री पर पूरा सरकारी नियंत्रण हटा लेना, यहां तक कि दवाओं के मूल्यों पर भी सरकारी नियंत्रण को पूरी तरह हटा लेना। इसी बजट में एक अहम फैसला यह भी किया गया है कि भारतीय खाद्य निगम अब खाद्यान्नों की खरीदारी नहीं करेगा। केन्द्र सरकार ने इस काम से हाथ खींचकर अब इसे राज्य सरकारों के मत्थे मढ़ दिया है। फिलहाल पंजाब और हरियाणा को फार्मर-कुलक लाबी के दबाव में इस मामले में छूट दी गयी है। अन्य राज्य सरकारें भी हालांकि इस फैसले को लागू करने में आनाकानी कर रही हैं, लेकिन इजारेदारी पूंजी का दबाव उनपर भारी पड़ेगा और उन्हें देर-सबेर इस फैसले को मानना ही पड़ेगा। इस फैसले को अमली जामा पहनाने के लिए बजट में खाद्यान्न भण्डारण के क्षेत्र में निजी पूंजी को प्रोत्साहित करने के लिए करों में छूट की घोषणा की गयी है और राज्य सरकारों को भी भण्डारण के खर्चों में मदद की घोषणा की गयी है।

पहले चरण के व्यापक आर्थिक परिवर्तनों को निर्णायक मंजिल में पहुंचाते हुए आयात-निर्यात नीति 2001-2002 के जरिये सभी 1429 वस्तुओं के आयात पर मात्रात्मक प्रतिबन्धों को पूरी तरह उठा लिया गया है। पिछले एक अप्रैल को जब इस नीति की घोषणा की गयी तो देश के बाजार में विदेशी मालों की भरमार के खतरे से निबटने के लिए वाणिज्य मंत्रालय ने 300 संवेदनशील वस्तुओं के आयात पर निगरानी रखने ओर उनकी समीक्षा के लिए एक 'वार रूम' गठित किया था लेकिन डेढ़ महीने के भीतर ही इसका बोरिया-बिस्तर बांध दिया गया। इसके साथ ही निजीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए एक ताजा निर्णय द्वारा सरकार ने रक्षा उपक्रमों में 26 प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी पूंजीनिवेश की अनुमति भी दे दी है। बिजली के निजीकरण के लिए वर्ष 2001-2002 के बजट में बाकायदा एक रूपरेखा पेश करते हुए वित्त मंत्री ब्लैकमेलिंग के अन्दाज में राज्य सरकारों को फरमान जारी कर चुके हैं कि अगर राज्यों ने जल्दी इस काम को अंजाम नहीं दिया तो केन्द्रीय सहायता में भारी कटौती कर दी जायेगी। बाल्को सौदे के निपट जाने के बाद अब बचे-खुचे सार्वजनिक उपक्रमों की विनिवेश प्रक्रिया को भी गति पकड़ा दी गयी है। बजट में सरकार ने चालू वित्त वर्ष में विनिवेश से 10,000 करोड़ रुपये अर्जित करने का लक्ष्य निर्धारित किया है।

पिछले दस वर्षों में आर्थिक ''सुधारों'' के नाम पर लागू किये इन तमाम अहम नीतिगत फैसलों से घरेलू बाजार का एक ऐसा परिदृश्य उभर चुका है जहां अब देशी और विदेशी पूंजी के खुले खेल के लिए

पिछले दस वर्षों में आर्थिक ''सुधारों'' के नाम पर लागू किये अहम नीतिगत फैसलों से देशी और विदेशी पूंजी के खुले खेल के लिए अधिकांश पूर्वशर्तें पूरी कर ली गयी हैं। अब बारी श्रम बाजार की है। अब श्रम कानूनों में ''सुधार'' सरकार की कार्यसूची में पहले नम्बर पर आ गया है।

तालिकाएक

रोजगार उपलब्धता के आधार पर कारखानों का वर्गीकरण*

कारखाना वर्ग (रोजगार उपलब्धता के आधार पर)	कारखानों की संख्या	प्रतिशत	मजदूरों की संख्या (हजार में)	प्रतिशत
0-49	97,676	72.6	1,650	17.0
50-99	17,908	13.3	1,218	12.5
100-199	9,962	7.4	1,351	13.9
200-499	5,881	4.4	1,805	18.6
500-999	2,085	1.5	1,405	14.5
1,00-1,999	715	0.5	958	9.9
2,000-4,999	275	0.3	784	8.1
5000 से अधिक	54	....	536	5.5
योग	134,556	100	9,707	100

* वर्ष 1996-97 का आंकड़ा

स्रोत : टाटा स्टैटिस्टिकल आउटलाइन आफ इंडिया, 2000-2001

तालिकादो

कुछ प्रमुख आर्थिक संकेतकों की वृद्धि दर

वर्ष (1993-94 की कीमतों पर)	सकल घरेलू उत्पाद	कृषि उत्पादन	औद्योगिक उत्पादन
1981-82	6.1	5.6	9.3
1990-91	5.4	3.8	8.2
1991-92	0.8	-2.0	0.6
1992-93	5.3	4.1	2.3
1993-94	6.2	3.8	6.0
1994-95	7.8	4.9	8.4
1995-96	7.6	-2.7	12.8
1996-97	7.8	9.1	5.6
1997-98	5.0	-5.4	6.6
1998-99	6.8	7.5	4.0
1999-00	6.4	-0.7	8.2
2000-2001*	6.0	1.5	6.0

* अनुमानित

स्रोत : टाटा स्टैटिस्टिकल आउटलाइन आफ इंडिया, 2000-2001

अधिकांश पूर्वशर्तें पूरी कर ली गयी हैं। अब बारी श्रम बाजार की है। पूंजी के मुक्त संचलन के रास्ते में अब सबसे बड़ी बाधा श्रम का ''लचीला''न होना है। देश में फिलहाल लागू श्रम कानून अब प्रमुख रूप से पूंजी के गले की फांस बने हुए हैं। ''सुधारों'' के इस दूसरे चरण में अब श्रम कानूनों में ''सुधार'' सरकार की कार्यसूची में पहले नम्बर पर आ गया है।

श्रम कानूनों में ''सुधार'' : ''सुधारों'' के दूसरे चरण की पहली प्राथमिकता

इस साल का बजट पेश करते हुए वित्तमंत्री यशवन्त सिन्हा ने एक नयी परम्परा की शुरुआत करते हुए **औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 5 (बी)** और **ठेका मजदूर अधिनियम** में बदलाव की जो घोषणा की उससे यह स्पष्ट हो गया कि श्रम कानूनों में बदलाव ''सुधारों'' के दूसरे चरण में सरकार की सर्वोच्च प्राथमिकताओं में से एक है। खासकर यह देखते हुए कि पूर्व श्रम मंत्री रवीन्द्र वर्मा की अध्यक्षता में दूसरा श्रम आयोग पहले ही गठित हो चुका था और इस साल के अन्त तक उसे अपनी रिपोर्ट दे देनी है, सरकार की इस हड़बड़ी का अर्थ समझा जा सकता है। सरकार के गठन के समय ही देश के बड़े पूंजीपतियों के चैम्बरों ने अपनी जो मांगे रखी थीं उनमें यह मुद्दा प्रमुख था। साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी के नुमाइन्दे भी सरकार पर जल्द से जल्द ''श्रम बाजार को लचीला'' बनाने के लिए दबाव बनाये हुए हैं। इसमें भी देशी इजारेदार पूंजीपति इसके लिए ज्यादा ही बेचैन हैं क्योंकि वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि घरेलू अैर विश्व बाजार की प्रतिस्पर्द्धा में वे अपनी पूंजी और तकनोलाजी के दम पर नहीं टिक सकते। उनकी सबसे अधिक निर्भरता सस्ते श्रम पर ही है। इसलिए पुराने श्रम कानून (जो तमाम सीमाओं के बावजूद एक हद तक रोजगार सुरक्षा प्रदान करते हैं) देशी पूंजीपतियों के लिए एक-एक दिन भारी पड़ रहे हैं। श्रम के मामले में हाथ खुले करने की यही बेताबी थी जिसके चलते यशवन्त सिन्हा को बजट प्रावधानों के जरिये श्रम कानूनों में बदलाव करने की नीतिगत घोषणा करनी पड़ी।

श्रम कानूनों में बदलावों का ठीक-ठीक स्वरूप क्या होगा यह तो श्रम आयोग की रिपोर्ट आने पर पता चल सकेगा लेकिन अब तक जो संकेत मिले हैं उनके आधार पर यह बेहिचक कहा जा सकता है कि मौजूदा श्रम कानूनों के तहत प्राप्त सीमित रोजगार सुरक्षा एवं अन्य सुविधायें अधिकतम सम्भव सीमा तक छीन ली जायेंगी। अकेले औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 5 (बी) में संशोधन का प्रस्ताव ही यह संकेत दे देता है।

बजट की घोषणा के अनुसार 1000 से कम मजदूरों वाली औद्योगिक इकाइयों के मालिकानों को मजदूरों की छंटनी या तालाबन्दी करने के लिए सरकार से इजाजत लेने की जरूरत नहीं होगी। मौजूदा कानून के तहत यह संख्या 100 है। अगर यह प्रस्ताव कानून बन गया तो कारखाना अधिनियम के तहत पंजीकृत कुल 1,34,556 कारखानों के कुल 97 लाख 7 हजार मजदूरों में से 76.5 प्रतिशत यानी कुल 74 लाख 29 हजार कारखाना मजदूरों को रोजगार सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं रहेगी (देखें तालिका - एक)। यह पंजीकृत कारखानों की स्थिति है, पर कौन नहीं जानता कि लगभग इतनी या इससे भी अधिक तादाद उन कारखानों की है जिनके मालिकान कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकरण नहीं कराते। अवैध ढंग से कारखाने चलाते हैं, जिनमें रोजगार सुरक्षा की पहले से ही कोई गारण्टी नहीं है। यहां मजदूर मालिक की मर्जी पर काम करते हैं। प्रस्तावित बदलाव के बाद अब पंजीकृत कारखानों के मजदूरों को कागजों पर ही सही प्राप्त अधिकार छीन लिये जायेंगे। वैसे मौजूदा कानूनों के तहत हासिल ये अधिकार भी मजदूरों को उसी हद तक मिल पाते थे, जिस हद तक उनकी संघर्ष क्षमता होती थी। लेकिन अब यह गुंजाइश भी खत्म हो जायेगी।

इसी तरह, मौजूदा ठेका मजदूर कानून भी एक हद तक मालिकों के हाथ बांधता है। ठेकेदार के पंजीकरण कराने की बाध्यता से लेकर

तालिकातीन

सकल घरेलू उत्पाद में विभिन्न क्षेत्रों का योगदान (प्रतिशत)

वर्ष (वर्तमान कीमतों पर)	कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र	उद्योग	सेवा क्षेत्र
1980-81	38.1	25.9	36.0
190-91	31.0	29.3	39.7
1991-92	31.3	27.8	40.9
1992-93	32.6	28.3	41.1
1993-94	33.6	23.7	42.7
1994-95	33.0	24.5	42.5
1995-96	30.8	25.6	43.6
1996-97	31.5	24.9	43.6
1997-98	30.4	24.7	44.9
1998-99	31.2	23.6	45.2

स्रोत : टाटा स्टैटिस्टिकल आउटलाइन आफ इंडिया, 2000-2001

तालिकाचार

संगठित क्षेत्र में रोजगार वृद्धि दर (प्रतिशत)

वर्ष (मार्च में समाप्त)	सार्वजनिक क्षेत्र	निजी क्षेत्र	सम्पूर्ण
1981	2.7	2.3	2.6
1991	1.5	1.3	1.4
1992	0.8	2.2	1.2
1993	0.6	---	0.4
1994	0.6	1.0	0.7
1995	0.1	1.6	0.5
1996	-0.2	5.6	1.5
1997	0.7	2.1	1.1
1998	-0.7	0.7	-0.3

स्रोत : टाटा स्टैटिस्टिकल आउटलाइन आफ इंडिया, 2000-2001

अन्य कई प्रकार की बाध्यताएं हैं, जिनसे पूंजीपति पूरी तरह छुटकारा पाना चाहते हैं। वे अमेरिकी शैली में 'हायर एण्ड फायर' का अधिकार चाहते हैं यानी जब वे चाहें काम पर रखें, जब चाहें निकाल बाहर करें।

ट्रेड यूनियन ऐक्ट' में भी संशोधन कर सरकार मजदूरों की यूनियनें गठित करने की प्रक्रिया को इतना कठिन और अधिकारों को अधिकतम संभव सीमा तक सीमित कर देना चाहती है जिससे मजदूर आन्दोलन की सम्भावनायें और कारखानेदारों पर कानूनी दायित्व कम से कम हो सकें। साथ ही वह इस बात का इन्तजाम भी करना चाहती है जिससे मजदूर वर्ग के भीतर बाहर से क्रान्तिकारी विचारधारा का प्रवेश करने के रास्ते भी संकरे हो जायें। ऐसे ही अन्य अनेक ''सुधार'' प्रस्तावित हैं जिनका ठोस शक्ल देने का काम श्रम आयोग के जिम्मे है।

''भूमण्डलीकरण की जरूरतों के अनुसार श्रम कानूनों में बदलाव'' और ''लचीले श्रम'' की जुमलेबाजियों का यही अर्थ है।

बढ़ता सामाजिक ध्रुवीकरण और निरंकुश दमन तंत्र की ओर बढ़ते कदम

पिछले एक दशक की यात्रा के बाद आज देश का शासक वर्ग जहां खड़ा है वहां से आगे बढ़ने के लिये राज्य मशीनरी को अधिकाधिक दमनकारी बनाते जाना भी उसकी जरूरत बन चुकी है। निजीकरण-उदारीकरण के सामाजिक नतीजे अब सतह पर आ चुके हैं। नये श्रम कानूनों के लागू होने के बाद हालात और विस्फोटक होते जायेंगे। व्यापक सामाजिक असन्तोष सामाजिक विस्फोटों के सिलसिले के रूप में फूटेंगे, यह तय है। शासक वर्ग भी इसे बखूबी समझता है, इसलिए उसने अपनी तैयारियां भी शुरू कर दी हैं।

सामाजिक ध्रुवीकरण कितनी तेज रफ्तार से हो रहा है, सामाजिक असन्तोष कितनी तेजी के साथ घनीभूत हो रहा है, इसका अनुमान सिर्फ कुछ तथ्यों से ही लगाया जा सकता है।

तालिका तीन और चार पर एक नजर डालने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों से अर्थव्यवस्था का विकास किस दिशा में उन्मुख है। स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था ठहराव की शिकार है। ''सुधारों'' की प्रक्रिया शुरू होने के बाद एक-दो वर्षों को छोड़ दिया जाये तो कृषि उत्पादन और औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर में गिरावट आम रुझान है। कृषि उत्पादन में भारी गिरावट के बावजूद सकल घरेलू उत्पाद में सापेक्षिक स्थायित्व का कारण क्या है, इसे तालिका - तीन के जरिये आसानी से समझा जा सकता है। तालिका से स्पष्ट है कि कृषि-सम्बद्ध क्षेत्र एवं उद्योग क्षेत्र का योगदान कम होता गया है और सेवा क्षेत्र का योगदान लगातार बढ़ता गया है। औद्योगिक विकास में सेवा क्षेत्र का यह बढ़ता योगदान सकल घरेलू उत्पाद की सापेक्षिक स्थिरता का कारण है। सेवा क्षेत्र के विकास से रोजगार सृजन अत्यल्प होता है, यह आम जानकारी की बात है।

''भूमण्डलीकरण'' के इस दौर में विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास का यही चेहरा है जिसे 'रोजगार विहीन' विकास कहा जा रहा है। यह विकास किस तरह रोजगार के अवसरों को सिकोड़ रहा है इसकी एक साफ तस्वीर तालिक चार, पांच व छह में देखी जा सकती है। तमाम दावों के बावजूद निजी क्षेत्र में भी रोजगार का सृजन नहीं हो रहा है। संगठित, असंगठित, शहरी, ग्रामीण—हर क्षेत्र में कुल मिलाकर रोजगार वृद्धि दर में लगातार गिरावट का रुख है।

इन आंकड़ों से इतर यह आम तजुर्बे की बात है कि छंटनी-तालाबंदी का जो सिलसिला एक दशक से जारी है, उसमें नये रोजगार पैदा होने का सवाल ही नहीं है। अभी ताजा बजट में भी सरकारी विभागों से प्रतिवर्ष 2 प्रतिशत कर्मचारियों की छंटनी करते हुए अगले पांच वर्षो तक दस प्रतिशत कर्मचारियों को निकाल बाहर करने की योजना घोषित की गयी है। अलग-अलग सरकारी विभागों के लिए स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजना (वी.आर.एस.) के पैकेज तैयार करने और उन्हें सम्बन्धित विभागों को अमल के लिए भेजने की तैयारी जोरों पर चल रही है।

पिछले एक दशक से जारी विकास की इस दिशा से जो सामाजिक परिदृश्य उभर रहा है उसकी तस्वीर भी आम अनुभव से ही देखी जा सकती है। लेकिन, विभिन्न अध्ययनों के निष्कर्षों के अनुसार प्रति व्यक्ति खाद्यान्नों और वस्त्रों आदि बुनियादी आवश्यकताओं की खपत लगातार कम होती जा रही है और अन्य उपभोक्ता वस्तुओं की खपत बढ़ रही है। इससे साफ जाहिर है कि बढ़ती महंगाई और आय में कमी

तालिकापांच

रोजगार में औसत वार्षिक वृद्धि दर (प्रतिशत)

		कृषि एवं सम्बद्ध गतिविधियां*	कृषि से इतर गतिविधियां (उद्योग, सेवा, वित्त)	योग
ग्रामीण	1980-90	5.62	2.81	3.13
	1990-98	18.0	-2.15	-1.58
शहरी	1980-90	2.93	2.88	2.88
	1990-98	3.15	-1.48	-1.01
योग	1980-90	5.28	2.85	2.99
	1990-98	1.96	-1.53	-1.23

*सम्बद्ध गतिविधियां : फसल उत्पादन व बागवानी के अतिरिक्त अन्य गतिविधियां

स्रोत : भारत सरकार की आर्थिक जनगणना 1990 व 1998 के आधार पर संकलित व संगणित

तालिका - छह

रोजगार की क्षेत्रवार वार्षिक वृद्धि दर (प्रतिशत)

वर्ष	संगठित क्षेत्र	असंगठित क्षेत्र	योग
19831990-91	1.73	2.41	2.39
1990-911997-98	0.6	1.1	1.0

स्रोत : घरेलू खपत सर्वेक्षण, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन द्वारा उपलब्ध आंकड़ों से।

से गरीब आबादी का दरिद्रीकरण बढ़ रहा है और एक छोटा सा अल्पसंख्यक उपभोक्ता वर्ग लगातार समृद्धि की ओर अग्रसर है।

यह बढ़ता सामाजिक ध्रुवीकरण किस भविष्य की ओर संकेत कर रहा है? तस्वीर बहुत साफ है। बारूद का ढेर इकट्ठा होता जा रहा है, पलीता भी बिछता जा रहा है। कब, कौन सी चिंगारी विस्फोट का कारण बन जायेगी, इसका ठीक-ठीक अनुमान लगाना तो सम्भव नहीं लेकिन यह जरूर कहा जा सकता है कि यह किसी सुदूर भविष्य की बात नहीं है। अपने संकटों से बाहर निकलने के लिए आसन्न जरूरतों का दबाव अगर शासक वर्ग को आक्रामक होने के लिए मजबूर कर रहा है तो इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जनअसन्तोष का दाब भी बढ़ता जा रहा है जो जनविस्फोटों को आसन्न बनाता जा रहा है।

हालात से निपटने के लिए शासक वर्ग अपनी तैयारियों में पीछे नहीं है। ''सुधारों'' के दूसरे चरण की नीतियों को लागू करने के साथ ही वह दमन की मशीनरी को भी चाक-चौबन्द करता जा रहा है। देश की 'आन्तरिक और बाह्‌य सुरक्षा' पर खतरों से निबटने के नाम पर की जा रही सारी तैयारियां—पुलिस, सैन्य व अर्द्धसैनिक बलों का अत्याधुनिकीकरण, खुफिया तंत्र का आधुनिकीकरण (कुख्यात इस्रायली खुफिया एजेंसी 'मोसाद' से तालमेल) और नये-नये दमनकारी कानूनों की तैयारियां—इसी दिशा में केन्द्रित हैं।

लेकिन क्या शासक वर्गों की इन तैयारियों के मुकाबले परिवर्तनकामी ताकतों की तैयारियां तसल्लीबख़्श हैं? आत्मतुष्टि में जीने वालों को छोड़कर कोई भी जनपक्ष की तैयारियों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। अभी क्रान्तिकारी ताकतें देशव्यापी स्तर पर एक विचारधारात्मक- राजनीतिक केन्द्र तक नहीं विकसित कर सकी हैं। ऐसे में भावी जनविस्फोटों को क्रान्तिकारी परिवर्तन की दिशा में मोड़ना किस हद तक सम्भव हो सकेगा?

देश के वस्तुगत हालात हमें बाध्य कर रहे हैं कि हम अपनी तैयारियों को तेज कर दें।

हमें मेहनतकश अवाम के विभिन्न वर्गों-तबकों के बीच प्रचार-प्रसार-संगठन व आन्दोलनात्मक कार्रवाइयों को तेज कर देना होगा। साथ ही, क्रान्तिकारी आन्दोलन की मौजूदा विडम्बनापूर्ण स्थिति के लिए जिम्मेदार वजहों की सच्चे क्रान्तिकारी साहस और आत्म- आलोचनात्मक रुख के साथ पड़ताल करते हुए एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी केन्द्र का निर्माण करने की तैयारियों को भी तेज कर देना होगा। यह कार्यभार आज से अधिक आसन्न शायद पहले कभी नहीं हुआ था।

●

तहलका के भण्डाफोड़ ने सड़कर बजबजाते पूंजीवादी लोकतंत्र का एक हिस्सा ही उघाड़ा है

(पृष्ठ 32 का शेष)

दलाल-''सफल'' पत्रकार-अभिनेता-माडल-फैशन डिजाइनर-कंपनी एक्जीक्यूटिव और वे तमाम तरह-तरह के परजीवी तबके जो जोंक की तरह जनता की गर्दन पर चिपके हुए हैं। पर इतिहास और उसके सबक को अपने डिजाइनर जूते की नोक पर रखने वाले इन मगरूर ऐयाशों को नहीं मालूम कि अपनी जघन्य विलासिता में वे भले ही पाम्पेई को भी मात कर दें पर पचासी करोड़ लोगों के गुस्से का ज्वालामुखी विसूवियस के कहर से भी ज्यादा ताकत के साथ उनपर कभी भी फट सकता है।

घपलों-घोटालों के अन्तहीन सिलसिले के बीच अब एक अन्दाज यह चल पड़ा है कि ऐसी चीजों पर इतने मजाकिया ढंग से बात की जाए कि सारा मामला खुद ही मजाक बन कर रह जाए। लेकिन यह इन बातों पर हंसने का वक्त नहीं है। हमें इस सब पर तार्किक और विवेकी घृणा के साथ सोचना होगा। और तब हम उसी नतीजे पर पहुंचेंगे जो निराशावादियों के लिए एक घिसा-पिटा विचार है पर दुनिया को बेहतर बनाने की चाहत रखने वालों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। यह व्यवस्था आपाद-मस्तक सड़ चुकी है। इसके किसी भी हिस्से को अब पैबन्द लगाकर ठीक नहीं किया जा सकता। श्रम की लूट पर टिकी इस व्यवस्था में भ्रष्टाचार को कभी नहीं खत्म किया जा सकता है। पूंजीवाद इंसानियत के सीने पर रखा पत्थर है जिसे उतारकर फेंके बिना इंसानियत अब आगे नहीं बढ़ सकती है। तहलका के भण्डाफोड़ और उसके बाद छाई खामोशी दोनों ने इसे ही एक बार फिर सही साबित किया है। ●

भूत-प्रेत, अंधविश्वासों, राजा-रानियों के किस्सों और जासूसी कामिक्स की दुनिया से बाहर की असली दुनिया से परिचित कराने और उसे खूबसूरत बनाने का अहसास बच्चों तक पहुंचाने में लगी उनकी अपनी पत्रिका

पता : **डी-68, निरालानगर, लखनऊ**

एक प्रति : 10 रु., वार्षिक : 40 रु. (डाक व्यय अतिरिक्त)

राहुल फाउण्डेशन का नया पता :

69, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड,

निशातगंज, लखनऊ-226006

email @ rahulfoundation@rediffmail.com

तहलका ने सड़कर बजबजाते पूंजीवादी लोकतंत्र का एक हिस्सा ही उघाड़ा है

पूंजीवाद की कानूनी लूट को मिटाये बिना भ्रष्टाचार मिटेगा क्या?

• मुकुल

पिछले मार्च में तहलका के वीडियोटेपों ने भारतीय पूंजीवादी लोकतंत्र के महाभ्रष्ट असली रूप को एक बार फिर उघाड़ कर रख दिया। पचास साल से देश में नैतिकता के पहरेदार बने ढोंगी संघियों और उनके वफादार समाजवादी गद्दारों को इसने सरेआम नंगा कर दिया।

तहलका के भण्डाफोड़ ने सिर्फ उस बात को साबित भर किया है जिसे आम जनता रोज देखती-सुनती और भुगतती रहती है। यह पूरी व्यवस्था सर से पांव तक भ्रष्टाचार के दलदल में डूबी है। तहलका के वीडियोटेपों ने तो सड़कर बजबजाती व्यवस्था के घिनौने शरीर के महज एक हिस्से से कपड़ा हटाया है।

बेजान पड़े विपक्ष में इस भण्डाफोड़ से कुछ दिनों के लिए जान पड़ गयी थी। सत्ता की गंध पाते ही तमाम पुराने चोर उन्मत्त हो गये थे और गद्दी पर बैठे चोरों को नीचे घसीटकर उनकी जगह हथियाने के लिए जी-जान एक किये हुए थे। भ्रष्टाचार को कला के स्तर पर पहुंचा देने वाली कांग्रेस से लेकर लालू प्रसाद यादव और जयललिता तक लकड़ी की तलवारें भांजने में लग गये थे। उन्हें यकीन था कि बोफोर्स तोप घोटाला, चेक पिस्तौल घोटाला, पनडुब्बी घोटाला, बैंक घोटाला, शेयर घोटाला, चारा घोटाला, अलकतरा घोटाला, धोती घोटाला, टीवी घोटाला जैसे अनगिनत घोटाले अदालतों की भूलभुलैया में उलझकर जनता की कमजोर याददाश्त से उतर चुके हैं और वे बेझिझक खुद को देश के ईमान का चौकीदार घोषित कर सकते हैं।

और तो और संघी रामराज्य से दुखी बहुत से लोगों को सरकार की छुट्टी होने की उम्मीदें जग गई थीं। लेकिन ऐसे लोगों को इस बात का अंदाजा नहीं था कि सरकार के देशी-विदेशी आका अपने वफादार नौकरों को बचाने के लिए कितना जोर लगा सकते हैं।

संघ परिवार के मीडिया मैनेजरों ने धुआंधार गोयबेल्सी प्रचार से सरकार की डावांडोल नैया को सहारा दिया। उधर, विज्ञापन न मिलने से जीटीवी का तहलका सीरियल भी फुसफुसा गया। लेकिन बेमिसाल नंगई और बेहयाई के साथ तरह-तरह के झूठों के दिन-रात प्रसारण से भ्रष्टाचार की कालिख को धो देने की संघ परिवार की आक्रामक रणनीति कामयाब न हो पाती अगर देश के सभी बड़े पूंजीपति वाजपेयी सरकार के बचाव में एकजुट होकर खड़े न हो जाते। सरकार पर संकट के बादल गहराते ही तमाम पूंजीपति और उनकी संस्थायें उसकी मदद के लिए आ खड़े हुए। फिक्की, एसोचैम, सी आई आई आदि ने इसमें अर्थव्यवस्था को अस्थिर करने की साजिश देखी तो राहुल बजाज, बी एम मुंजाल, नंदा और मोदी ने सरकार को करीब-करीब क्लीन चिट दे ही दी। इस तरह वाजपेयी सरकार को अपनी वफादारी का भरपूर ईनाम मिल गया। तहलका से मसाला मिलने के बाद युद्ध का शंखनाद करने वाले कांग्रेसी अचानक पिपिहरी बजाने लगे। कल के वफादार कुत्तों को मालिकों ने फिलहाल के लिए समझा दिया कि वह आज के उनके चहेते कुत्तों पर गला फाड़कर भौं-भौं न करें। बाकी तो पहले ही कूं-कूं करना शुरू कर चुके थे।

दरअसल घपलों-घोटालों के जरिये जनता की गाढ़ी कमाई के अरबों-खरबों रुपये बिना डकार लिये पचा जाने की यह विलक्षण क्षमता उदारीकरण-निजीकरण के दौर की पूंजीवादी राजनीति की चरित्रगत विशेषता बन चुकी है। दलाली-रिश्वतखोरी, सोनपुर मेले में बिकाऊ गाय-बैलों की तरह सांसदों-विधायकों की खरीद-फरोख्त से लेकर माडर्न फूड और बाल्को जैसे उद्योगों को कौड़ियों के मोल बेचने और हथियारों के सौदों में खाई जाने वाली दलाली भारतीय राजनीति की एक स्थायी-सर्वव्यापी परिघटना बन चुकी है। इससे अलग कुछ हो भी नहीं सकता। यह समूचा शासनतंत्र आज इस हालत में पहुंच चुका है कि दलालों के बिना चल ही नहीं सकता। यही वजह है कि पहले सत्ता के दलाल पर्दे के पीछे रहकर चुपचाप काम किया करते थे पर आज अमर सिंह जैसे दलाल न केवल मीडिया के चहेते बने हुए हैं बल्कि हर पार्टी के नेताओं और मंत्रियों से लेकर उद्योगपति तक उनके दरवाजे पर लाइन लगाये रहते हैं। दलाल-कम-उद्योगपति-कम-दलाल हिन्दुजा बंधुओं की प्रधानमंत्री से सिफारिश देश का भूतपूर्व कानून मंत्री करता है और देश का सबसे ज्यादा छपने वाला स्तम्भकार उनको महान परोपकारी साबित करने के लिए अखबार के पन्ने काले करता है।

पूंजीवाद कभी भी सदाचारी नहीं था लेकिन आज तो बुर्जुआ सभ्यता के अपराधों को ढांपने वाली नैतिकता के दिखावे की चादर भी खुला खेल फर्रुखाबादी करने में अड़चन डाल रही है और उसे नोच-चींथ कर फेंक दिया गया है। ऐसे में जब चन्द्रशेखर जैसे लोग राजनीति में नैतिकता का लोप हो जाने की दुहाई देते हैं तो कूड़े के ढेर पर फेंक दिये गये नैतिकता के चिथड़ों को सूंघकर रोते मरगिल्ले पिल्लों जैसे लगने लगते हैं।

यह अनायास नहीं है कि भ्रष्टाचार के खिलाफ दुन्दभि बजाने वाले मध्य वर्ग के तमाम ''महानायक'' आज यहां-वहां किंकियाते घूम रहे हैं या फिर किसी को उनका नाम भी याद नहीं रह गया है। भ्रष्टाचार का दानव जिस राक्षसी के पेट से जन्मा है और जिससे नित नयी ताकत पा रहा है, उस पर एक बाण भी चलाये बिना सिर्फ भ्रष्टाचार के खिलाफ हवा में तलवार भांजने वालों का यही हश्र होना

था। वी.पी.सिंह, शेषन, खैरनार, अल्फोंस से लेकर अदालती सक्रियता तक—ये सभी कोढ़ के जख्म को ढंकने वाली वैसलीन का ही काम करते रहे हैं। ये व्यवस्था की वे चिमनियां हैं जो बीच-बीच में भ्रम-विभ्रम-संभ्रम का गंदा धुंआ छोड़ती रहती हैं। ये व्यवस्था के वे सेफ्टीवाल्व हैं जो जनता के मोहभंग के बाद पैदा होने वाले आक्रोश के दबाव को कम करते हैं और नये मोह और नये भ्रमों के लिए खाली स्थान तैयार करते हैं। यह अलग बात है कि अब इनके कारगर होने की गुंजाइशें दिन-ब-दिन कम होती जा रही हैं।

तहलका जैसे भण्डाफोड़ के बाद भी अस्थिरता न फैलने को भारतीय लोकतंत्र की परिपक्वता और मजबूती के प्रमाण के रूप में पेश किया जा रहा है। भाजपा भ्रष्ट है, यह सरकार भ्रष्ट है, पर इस व्यवस्था में सबको सह जाने की शक्ति है—ऐसे नतीजे निकाले जा रहे हैं। कई कूपमंडूक बुद्धिजीवी इसी बात पर मुग्ध हो जाते हैं कि जो जनतंत्र अपनी खुली आलोचना को प्रश्रय दे, वह कितना बढ़िया है। मगर यह तो सोचिये कि एक अलफ नंगे सज्जन आपसे आकर कहें, ''भाईजान, मैं पूरी साफगोई और वस्तुपरकता के साथ स्वीकार करता हूं कि मैं नंगा हूं'' तो यह एक ईमानदार आत्मस्वीकृति कहलायेगी या जगजाहिर सच्चाई का विवशतापूर्ण बयान। व्यवस्था का जो चरित्र नंगा हो चुका है उसका ''यथार्थवादी'' बयान व्यवस्था का ही कोई नुमाइन्दा सिर्फ इसलिए करता है कि वह ऐसा करके व्यवस्था की ''निष्पक्षता'' और ''न्यायशीलता'' के बारे में नये सिरे से भ्रम पैदा करना चाहता है।

सवाल यह है कि यदि सरकार और नौकरशाही में कहीं कोई भ्रष्टाचार न हो, चुनाव बिल्कुल पाक-साफ तरीके से हों तो क्या सबकुछ ठीक हो जाएगा? भ्रष्टाचार पूंजीपति वर्ग की चाहत नहीं उसकी विवशता और पूंजीवादी आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक तंत्र की एक अनिवार्य परिणति है। चोरी-भ्रष्टाचार न हो तो पूंजीवाद चलेगा कैसे? वैसे तो पूंजीवादी कानून और संविधान ही तमाम तरह के अपराधों को सही ठहराने और अन्याय को न्याय सिद्ध करने पर आधारित है लेकिन खुद ही बनाये हुए नियम-कानूनों को भी कदम-कदम पर तोड़े बिना पूंजीवाद चल नहीं सकता। और पूंजीवाद में भ्रष्टाचार भी तो एक व्यापार है। तहलका के भण्डाफोड़ से और कुछ हो न हो, उनके इस्तेमाल किये कैमरे बनाने वाली कम्पनी तो अब मालामाल हो ही जाएगी।

बूढ़ा, जर्जर पूंजीवाद आज अपनी जीवनी शक्ति खोकर केवल जड़ता की शक्ति के सहारे जीवित है और रोज नये-नये अपराधों को जन्म दे रहा है। लेकिन पूंजीवादी समाज के खुद के बनाये हुए कानूनों का उल्लंघन ही भ्रष्टाचार नहीं है। इस समाज में सबसे बड़े पैमाने पर होने वाला भ्रष्टाचार, सबसे बड़ी चोरी तो कानूनी तरीके से होती है। और इसी के पेट से गैरकानूनी भ्रष्टाचार पैदा होता है।

पूंजीवाद में सबसे ज्यादा वैध चीजें भ्रष्टाचार खुद हैं। वस्तुओं के विनियम और व्यापार की प्रणाली भ्रष्टाचार नहीं तो और क्या है? वस्तुएं लोगों को उनकी जरूरत के मुताबिक नहीं बल्कि उनकी जेब में पड़े पैसे के मुताबिक मिलें, यह भ्रष्टाचार नहीं तो और क्या है? उत्पादन अगर सीधे सीरींज से मजदूर का खून निकाल लेना है तो विनिमय और व्यापार मजदूर द्वारा पैदा किये गये मूल्य का एक हिस्सा इस तरह हड़प कर जाने के तरीके हैं कि उसे पता भी नहीं चले।

विज्ञापन का पूरा कारोबार ग्लैमर के चमकीले कागज में लिपटा सबसे घटिया दर्जे का भ्रष्टाचार है जिसका सार ही है हर तरह के झूठ को सच बनाकर लोगों के दिमागों में भर देना। जो बड़े-बड़े से झूठ को ज्यादा से ज्यादा लुभावने और विश्वसनीय अंदाज में परोसे वह उतना ही सफल। धोखाधड़ी और भ्रष्टाचार का एक और नाम है मार्केटिंग जिसके बिना पूंजीवाद चल ही नहीं सकता। झुलसती धूप में रेगिस्तान में फंसे व्यक्ति को रूम हीटर और ध्रुवीय प्रदेश में एस्कीमो को रेफ्रिजरेटर बेचने की काबिलियत को जिस व्यवसाय का सर्वोच्च आदर्श माना जाता हो वह ठगी का निकृष्टतम रूप नहीं तो और क्या है?

पूंजीवादी समाज अपनेआप में ही लूटतंत्र है जो मेहनतकश जनता के अतिरिक्त श्रम के शोषण पर टिका है। मौजूदा संविधान और कानून व्यवस्था इसी लूट को वैध बनाते हैं। जब यह वैध लूटतंत्र आगे बढ़ता है तो पूंजीपति के चाकर और पूंजीवादी व्यवस्था के कल-पुर्जे भी खेल के तयशुदा नियमों को तोड़कर हर स्तर पर लूट-पाट, दलाली, रिश्वतखोरी में लग जाते हैं। यहां तक कि लूट की अंधी होड़ में लगे पूंजीपति और व्यापारी भी अपने ही बनाये नियमों को तोड़कर लूटपाट, काले धंधों और सट्टेबाजी में लग जाते हैं। तब काले धन की पूरी समान्तर अर्थव्यवस्था उठ खड़ी होती है और तस्करों, जखीरेबाजों के साथ ही हर्षद मेहता और केतन पारिख जैसे भस्मासुरों का जन्म होता है। पूंजीपतियों के इस लूटतंत्र के चाकर और पहरेदार—मंत्री-सांसद-विधायक-अफसरशाह और भी बेलगाम होकर जनता की कमाई की लूट में जुट जाते हैं।

बहुत से लोगों को भ्रम है कि अमरीका और यूरोप के देशों में भ्रष्टाचार नहीं है। भारत में भ्रष्टाचार पर क्रोधित या दुखित होते हुए अक्सर वे भावुक होकर इन देशों के उदाहरण देने लगते हैं। ऐसे कूपमंडूक सज्जनों को यह नहीं दिखाई देता कि विकसित पूंजीवादी देशों में भ्रष्टाचार सुव्यवस्थित संस्थाबद्ध रूप ले चुका है। किसी कुत्ते को रोज सुबह-शाम अगर मुर्गे खिलाये जाएं तो वह आते-जाते सड़क पर पड़े गोश्त की ओर ताकेगा भी नहीं। गरीब देशों को लूट-लूट कर अमीर देशों के कुत्तों को इतने मुर्गे खिलाये जाते हैं कि उन्हें तीसरी दुनिया के देशों के नेताओ-अफसरशाहों की तरह छिच्छड़ के लिए झगड़ने की जरूरत नहीं पड़ती। इसलिए जाहिर है कि वहां भ्रष्टाचार हमारे यहां की तरह अश्लील और वीभत्स रूपों में सामने नहीं आता। फिर भी आये दिन वहां भ्रष्टाचार के निहायत भोंडे से लेकर अत्यन्त रचनात्मक नमूने तक सामने आते ही रहते हैं। और ये देश गरीब मुल्कों को लूटने के लिए जिस तरह की घटिया तिकड़मों, झूठ-फरेब, और ठगी का सहारा लेते हैं उसे क्या कहा जाए। तीसरी दुनिया के देशों में राजनीतिक नेतृत्व और अफसरशाही को चरम भ्रष्ट बनाने में इनकी क्या कम भूमिका है?

पूंजीवाद सिर्फ इसलिए गलत नहीं है कि उसमें भ्रष्टाचार है। कोई पूर्ण भ्रष्टाचार-मुक्त पूंजीवाद भी उतना ही पतित, अनैतिक, अन्यायी और लुटेरा होता।

भारत जैसे देशों में शासक वर्ग दिन-ब-दिन ज्यादा से ज्यादा भ्रष्ट, विलासी और निरंकुश होता जा रहा है। समाज में भूख, बेरोजगारी, तबाही-बदहाली, दुखों और आंसुओं के बढ़ते सागर के बीच ऐयाशी के टापुओं पर रोज नई रासलीलायें रचाई जा रही हैं। मेहनतकशों के खून से भरे जाम छलकाये जा रहे हैं, उनके पसीने को निचोड़कर ढाले सिक्कों की खनक पर उन्मत्त नृत्य हो रहा है। श्रम की कानूनी-गैरकानूनी लूट से चल रहे इस विराट विलासोत्सव में शामिल हैं पूंजीपति और उनके चाकर और चारण—नेता-अफसर-ठेकेदार-

(शेष पृष्ठ 30 पर)

स्तालिन की पुस्तक *सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं* की आलोचना

• माओ त्से-तुङ

स्तालिन की महत्वपूर्ण रचना *सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं* तथा उनके नेतृत्व में लिखी गई *सोवियत राजनीतिक अर्थशास्त्र की टेक्स्टबुक* की माओ त्से-तुङ ने सम्यक आलोचना प्रस्तुत की थी। समाजवादी निर्माण के दौरान स्तालिन से हुई चूकों और गलतियों की आलोचना प्रस्तुत करते हुए माओ ने वे महत्वपूर्ण सूत्र भी निरूपित किये जिनके आधार पर उन्होंने पूंजीवादी पुनर्स्थापना रोकने के लिए सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त विकसित किया। पिछले अंक में हमने स्तालिन की पुस्तक के बारे में माओ की एक टिप्पणी प्रकाशित की थी जो दरअसल आलोचनात्मक विवेक के साथ इस पुस्तक का अध्ययन करने का दिशा-निर्देश था। इस अंक में पुस्तक पर माओ की आलोचनात्मक टिप्पणी प्रस्तुत है। अगले अंक से हम *टेक्स्टबुक* पर माओ की विस्तृत आलोचनात्मक टिप्पणी का धारावाहिक प्रकाशन शुरू करेंगे।सं.

स्तालिन की पुस्तक में पहले पृष्ठ से लेकर अन्तिम पृष्ठ तक अधिरचना के विषय में एक शब्द भी नहीं मिलता। वह जनता से सरोकार नहीं रखती; वह वस्तुओं की बात करती है, लोगों की नहीं। उपभोक्ता वस्तुओं की सप्लाई प्रणाली की किस्म आर्थिक विकास को तेज गति प्रदान करती है या नहीं? स्तालिन को कम से कम इस मुद्दे को तो अवश्य स्पर्श करना चाहिए था। माल उत्पादन का होना बेहतर है अथवा बेहतर इसका न होना है हरेक का इस बात को अध्ययन करना चाहिए। आखिरी चिट्ठी* में स्तालिन का दृष्टिकोण लगभग सरासर गलत है। बुनियादी गलती है किसानों के प्रति अविश्वास।

पहले, दूसरे और तीसरे अध्यायों के कुछ अंश सही हैं; दूसरे अंश अधिक सुस्पष्ट किये जा सकते थे। उदाहरण के लिए, नियोजित अर्थव्यवस्था पर विचार-विमर्श अपूर्ण है। सोवियत अर्थव्यवस्था के विकास की दर काफी ऊंची नहीं है, हालांकि वह पूंजीपतियों द्वारा हासिल विकास की दर से तेज है। कृषि तथा उद्योग और साथ ही हल्के तथा भारी उद्योग के बीच सम्बन्धों पर सुस्पष्ट प्रकाश नहीं डाला गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें गम्भीर हानियां हुई हैं। दीर्घकालिक तथा अल्पकालिक हितों के बीच सम्बन्धों में कोई चमत्कारी विकास-प्रवाह देखने को नहीं मिला। वे वहां एक टांग के सहारे चलते हैं, हम यहां दोनों टांगों के सहारे चलते हैं। उनका विश्वास है कि प्रौद्योगिकी ही सब कुछ तय करती है, कि कतारें सब कुछ तय करती हैं। वे केवल ''विशेषज्ञ'' की ही बात करते हैं, ''लाल'' (कम्युनिस्टअनु.) की नहीं, केवल कतारों की बात करते हैं, जनसाधारण की भी नहीं। यह तो एक टांग के सहारे चलना हुआ। जहां तक भारी उद्योग का सरोकार है, वे इस्पात को नींव, मशीनरी को हृदय और शरीर के आन्तरिक अंग, कोयले को खाद्य पदार्थ बताकर प्राथमिक अन्तरविरोध का पता लगाने में असफल रहे हैं...। हमारे लिये इस्पात आधार स्तम्भ, उद्योग में प्राथमिक अन्तरविरोध है, जबकि खाद्यान्न कृषि के आधार स्तम्भ हैं। अन्य वस्तुओं का विकास आनुपातिक ढंग से होता है।

पहले अध्याय में वह नियमों को समझने पर विचार करते हैं, परन्तु कोई तरीका नहीं सुझाते। माल-उत्पादन को आजीविका के साधनों तक सीमित करना एक तरह से सचमुच सन्देहास्पद है। किसानों के प्रति अविश्वास तीसरी चिट्ठी का बुनियादी दृष्टिकोण है। सारतः स्तालिन सामूहिक स्वामित्व से जन-स्वामित्व में संक्रमण का रास्ता नहीं खोज पाये। माल-उत्पादन और विनिमय ऐसे रूप हैं, जिन्हें हमने बरकरार रखा है, जबकि मूल्य के नियम के सिलसिले में हमें नियोजन की और साथ ही राजनीति को कमान में रखने की बात करनी होगी। वे सिर्फ उत्पादन-सम्बन्धों की बात करते हैं परन्तु न तो अधिरचना की, न राजनीति की, न जनता की भूमिका की बात करते हैं। अगर कम्युनिस्ट आन्दोलन नहीं होगा, तो हम कम्युनिज्म तक नहीं पहुंच पायेंगे। *

•

1. ये साथी.... यह सुस्पष्ट है कि विज्ञान के नियमों को, जो प्रकृति या समाज में वस्तुनिष्ठ प्रक्रियाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं, उन प्रक्रियाओं को, जो मनुष्य की इच्छा से स्वतंत्र रूप से घटित होती हैं, सरकार द्वारा जारी किये जाने वाले उन नियमों के साथ ड्डमड्ड कर देते हैं, जिन्हें मनुष्य के इच्छा से रचा जाता है और जिनकी केवल न्यायिक वैधता होती है। परन्तु उन्हें गड्डमड्ड नहीं किया जाना चाहिए।

1. यह सिद्धान्त बुनियादी तौर पर सही है, लेकिन इसमें दो बातें गलत हैं : पहली बात पार्टी और जनसाधारण के सचेतन कार्यकलाप को पर्याप्त रूप से नहीं उभारा गया है। दूसरी बात, यह इस अर्थ में पर्याप्त रूप से बोधगम्य नहीं है कि वह यह समझाने में चूक जाती है कि जो चीज सरकारी आज्ञप्तियों को सही बनाती है, वह केवल यही नहीं है कि वे मजदूर वर्ग की इच्छा से उभरती हैं, अपितु यह भी है कि वे (आज्ञप्तियां-अनु.) वस्तुगत आर्थिक नियमों की अनिवार्यताओं को सच्चाई के साथ प्रतिबिम्बित करती हैं।

2. खगोलीय, भू-वैज्ञानिक और इसी प्रकार की अन्य प्रक्रियाओं को दरकिनार करते हुए, जिन्हें मनुष्य उनके विकास के नियमों को जानते हुए भी प्रभावित करने में असमर्थ हैं...

यह दलील गलत है। मनुष्य के ज्ञान और प्रकृति का रूपान्तरण करने की मनुष्य की सामर्थ्य असीम है। स्तालिन ने इन मसलों पर

*(साथी अ.व. सानिना और व.ग.वेंझेर को उत्तर)

* ये पहले चार पैराग्राफ पूरे पाठ पर आलोचनात्मक ढंग से टिप्पणी करते हैं। उसके बाद टीकाओं की एक पूरी श्रृंखला है, जिनमें अनुभागों की आलोचना की गयी है। हर टीका से पहले स्तालिन का मूल पाठ प्रस्तुत किया गया है।

विकास के दृष्टिकोण से विचार नहीं किया। पर जो काम अभी नहीं किया जा सका है, वह भविष्य में किया जा सकता है।

3. यही बात चाहे पूंजीवाद की अवधि के दौरान अथवा समाजवाद की अवधि के दौरान आर्थिक विकास के नियमों, राजनीतिक अर्थशास्त्र के नियमों के बारे में कही जा सकती है। यहां भी, जैसा कि प्रकृति विज्ञान के नियमों के मामले में होता है, आर्थिक विकास के नियम वस्तुनिष्ठ नियम होते हैं, जो मनुष्य की इच्छा के बाहर घटित होने वाली आर्थिक विकास की प्रक्रियाओं को प्रतिबिम्बित करते है।

3. अर्थव्यवस्था के नियोजन का काम कैसे किया जाये? हल्के उद्योग, कृषि की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है।

4. यही कारण है कि एंगेल्स उसी पुस्तक में कहते हैं : ''मनुष्य के अपने ही सामाजिक कार्यकलाप के नियमों को, जो अब तक प्रकृति के नियमों के रूप में उसके लिए विजातीय और उस पर हावी नियमों के रूप में उसके (मनुष्य के) आमने-सामने खड़े रहते हैं, तब पूरी समझदारी के साथ उपयोग में लाया जायेगा और वह उनमें पांरगत होगा।'' (ड्यूहरिंग मतखण्डन)

4. स्वतंत्रता आवश्यक वस्तुनिष्ठ नियम है, जिसे लोग समझते हैं। ऐसे नियम लोगों के आमने-सामने आ खड़े होते हैं, उनसे स्वतंत्र होते हैं। लेकिन एक बार लोग उन्हें समझ जायें तो वे उन्हें नियंत्रित कर सकते हैं।

5. सोवियत सरकार की विशिष्ट भूमिका का कारण दो परिस्थितियां थीं : पहली परिस्थिति, सोवियत सरकार को जो करना पड़ा, वह पूर्ववर्ती क्रान्तियों के विपरीत शोषण के एक रूप के स्थान पर शोषण के दूसरे रूप का प्रतिस्थापन नहीं, अपितु शोषण का पूरी तरह उन्मूलन था ; दूसरी परिस्थिति देश में समाजवादी समाज के कोई तैयारशुदा प्रारम्भिक तत्वों के अभाव में उसे, कहना चाहिए, ''बिल्कुल शून्य से'' अर्थव्यवस्था के नूतन समाजवादी रूपों का निर्माण करना पड़ा।

5. समाजवादी आर्थिक नियमों की अवश्यम्भावितायें ऐसी चीज है, जिसका अध्ययन करने की आवश्यकता है। चेंगतू कांफ्रेन्स में मैंने कहा था, हमें यह देखना होगा कि हमारा आम कार्यक्रम (पहले से ज्यादा! पहले से तेज! पहले से बेहतर! पहले से ज्यादा किफायती ढंग से!'', तीन समवर्ती तरक्कियां और जनदिशा) असफल तो नहीं होगा अथवा वह सफल हो सकेगा। यह कई वर्षों यहां तक कि दस वर्षों तक प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। क्रान्ति के नियम, जिन पर कुछ लोग सन्देह किया करते थे, अब सही सिद्ध हो चुके हैं, क्योंकि शत्रु का तख्ता पल्टा जा चुका है। क्या समाजवाद का निर्माण किया जा सकता है? लोगों में अब भी सन्देह है। क्या हमारा चीनी व्यवहार चीन के आर्थिक नियमों से मेल खाता है? इसका अध्ययन करना आवश्यक है। मेरा विचार है कि अगर व्यवहार आर्थिक नियमों से आम तौर पर मेल खाता है, तो सब कुछ ठीक हो जायेगा।

6. यह (अर्थव्यवस्था के नूतन, समाजवादी रूपों का लगभग शून्य से निर्माण) निस्संदेह कठिन, जटिल और अपूर्व कार्यभार था।

6. समाजवादी आर्थिक रूपों के निर्माण के मामले में हमारे सामने सोवियत संघ का दृष्टान्त है और इस कारण हमारा काम उनसे थोड़ा बेहतर होना चाहिए। अगर हम काम को चौपट कर देते हैं, तो इससे यही सिद्ध होगा कि चीनी मार्क्सवाद कारगर नहीं है। जहां तक कार्यभारों की कठिनाई और जटिलता का प्रश्न है, हालात उनसे भिन्न नहीं है, जिनका सोवियत संघ ने सामना किया था।

7. यह कहा जाता है कि हमारे देश में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सन्तुलित (आनुपातिक) विकास की आवश्यकता सोवियत सरकार को विद्यमान आर्थिक नियमों का उन्मूलन करना और नये नियमों की रचना करने में समर्थ बनाती है। यह सरासर झूठ है। हमारी वार्षिक और पंचवर्षीय योजनाओं को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सन्तुलित, आनुपातिक विकास के वस्तुगत आर्थिक नियम के साथ-साथ गड्डमड्ड नहीं किया जाना चाहिए।

7. यही मसले का मर्म है।

8. इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सन्तुलित विकास का नियम हमारे नियोजनकारी निकायों के लिए सामाजिक उत्पादन का सही-सही ढंग से नियोजन करना सम्भव बना देता है। परन्तु सम्भावनाओं को वास्तविकताओं में परिणत कर सकने के लिए इस आर्थिक नियम का अध्ययन करना, उसमें पारंगत होना, उसे पूरी समझदारी के साथ अमल में लाना सीखना आवश्यक है। और ऐसी योजनाएं संकलित करना आवश्यक है, जो इस नियम की आवश्यकताओं को पूरी तरह प्रतिबिम्बित कर सकें। यह नहीं कहा जा सकता है कि इस आर्थिक नियम की आवश्यकताएं हमारी वार्षिक और पंचवर्षीय योजनाओं को पूरी तरह प्रतिबिम्बित करती हैं।

8. इस परिच्छेद का केन्द्रीय बिन्दु यह है कि हमें नियोजित, आनुपातिक विकास के वस्तुनिष्ठ नियम को नियोजन के साथ गड्डमड्ड नहीं करना होगा। गुजरे समय में हमने भी योजनाएं युक्तियों का सहारा लेकर तैयार की थीं, परन्तु उनसे अक्सर तूफान पैदा हो जाता था। बहुत ज्यादा! बहुत कम! आंखें मूंदते हुए हम सबसे बढ़िया रास्ते के बारे में किसी पक्के यकीन के बिना ही हालात से जा टकराये। केवल वेदनादायी सबकों की यंत्रणा झेलने, अंधेरी गलियों में भटकते उत्तरों की तलाश में हर व्यक्ति के द्वारा अपना दिमाग झकझोरने के बाद ही हम अचानक चालीस सूत्रों के कृषि कार्यक्रम पर पहुंच गये, जिसे हम इस समय अमली जामा पहना रहे हैं।

और इस समय हम नये चालीस सूत्र तैयार व प्रतिपादित करने के काम के बीच खड़े हैं। तीन और साल के कटु संघर्ष के बाद हम और आगे विकास करेंगे; भरपूर और पर्याप्त विचार-विमर्श के उपरान्त हम फिर आगे बढ़ेंगे। क्या हम इसे वास्तविकता में परिणत कर पायेंगे? इससे ठोस व्यवहार में अभी सिद्ध होना है। हमने उद्योग क्षेत्र में आठ वर्ष तक काम किया, लेकिन यह नहीं समझ पाये कि हमें इस्पात को आधार स्तम्भ के रूप में ग्रहण करना चाहिए था। यह उद्योग में अन्तरविरोध का मुख्य पहलू। यह अद्वैतवाद था। बड़े, मंझोले और छोटे में से हम बड़े को आधारस्तम्भ मानते हैं और केन्द्र तथा प्रदेशों के बीच केन्द्र को आधा स्तम्भ के रूप में लेते हैं। किसी भी अन्तरविरोध के दो पहलुओं में एक मुख्य पहलू होता है। आठ वर्षों की उपलब्धियां जितनी महत्वपूर्ण हैं, उन्हें दृष्टिगत रखकर हम कुछ भी हो, अपने आगे के रास्ते को महसूस कर रहे हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि उत्पादन का हमारा नियोजन सोलहों आना सही था कि उसने वस्तुनिष्ठ नियमों को पूरी तरह प्रतिबिम्बित किया था। नियोजन-कार्य तो पूरी पार्टी करती है, महज योजना समिति या आर्थिक समिति नहीं, बल्कि यह काम हर स्तर पर किया जाता है, हरेक को उसमें शामिल किया जाता है। इस परिच्छेद में स्तालिन सिद्धान्त की दृष्टि से सही हैं फिर भी यहां परिष्कृत ढंग का विस्तारपूर्ण विश्लेषण यहां तक कि किसी सुस्पष्ट व्याख्या की शुरुआत भी नहीं मिलती। सोवियतों ने बड़े, मंझोल और छोटे उद्योगों में, और केन्द्र तथा क्षेत्रों में भेद

नहीं किया, न ही उन्होंने और कृषि को साथ-साथ बढ़ावा दिया। वे दो टांगों के सहारे चले ही नहीं हैं। उनके नियम और अधिनियम लोगों के पांवों की बेड़ियां बन गये। लेकिन हमने भी अपनी स्थिति का पर्याप्त रूप से न तो अध्ययन किया और न उसे पूरी तरह समझ सके। और उसका नतीजा यह निकला कि हमारी योजनाओं ने भी वस्तुनिष्ठ नियमों को पूरी तरह प्रतिबिम्बित नहीं किया।

9. आइये, एंगेल्स के फार्मूले का विवेचन करें। एंगेल्स के फार्मूले को पूरी तरह सुस्पष्ट और सटीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह इसका संकेत नहीं देता कि वह समाज द्वारा उत्पादन के *सारे* या केवल एक भाग के अधिग्रहण की चर्चा करता है; यानी वह यह नहीं बताता कि उत्पादन के *सारे* या केवल एक अंश को सार्वजनिक स्वामित्व में परिवर्तित किया जाये। इसलिए एंगेल्स के *इस* सूत्र को दोनों तरह से समझा जा सकता है।

9. यह विश्लेषण मूलभूत बातों को स्पर्श करता है। समस्या है उत्पादन के साधनों को दो भागों में विभाजित करने की। यह कथन कि उत्पादन के साधन माल नहीं हैं, अध ययन-मनन योग्य है।

10. समाजवाद के अन्तर्गत माल-उत्पादन, इस भाग में स्तालिन ने माल के अस्तित्व की अवस्थाओं को बोधगम्य रूप से निदिष्ट नहीं किया है। दो किस्म के स्वामित्व का अस्तित्व माल-उत्पादन की मुख्य आधार भूमि है। लेकिन अन्ततः माल उत्पादन उत्पादक शक्तियों से भी जुड़ा हुआ है। इसलिए, पूरी तरह समाजीकृत सार्वजनिक स्वामित्व के अन्तर्गत भी माल-विनिमय को कतिपय क्षेत्रों में चलता रहेगा।

11. इसका यह अर्थ निकलता है कि एंगेल्स के दिमाग में वे देश थे, जहां पूंजीवाद और उत्पादन का संकेन्द्रण उद्योग और कृषि में इतना आगे बढ़ चुका है कि वे (सम्बन्धित देश में - अनु.) उत्पादन के समस्त साधनों का अधिग्रहण और उनका सार्वजनिक सम्पत्ति में रूपान्तरण किया जा सकता है। फलस्वरूप एंगेल्स यह मानते हैं कि *ऐसे* देशों में उत्पादन के *समस्त* साधनों के समाजीकरण के समान्तर माल-उत्पादन का भी अन्त किया जाना चाहिए। और यह बात, निश्चित रूप से, सही है।

11. एंगेल्स के फार्मूले का स्तालिन द्वारा किया गया विश्लेषण सही है, इस समय माल-उत्पादन को ताक पर रख देने की बड़ी जोरदार प्रवृत्ति मौजूद है। लोग ज्योंही माल-उत्पादन को देखते हैं उसे खुद पूंजीवाद मान बैठते हैं, और परेशान हो जाते हैं। परन्तु ऐसा लगता है कि मानों लाखों-लाख किसानों की एकजुटता की खातिर माल-उत्पादन को काफी विकसित करना होगा और मुद्रा-आपूर्ति बढ़ानी होगी। यह कई लाख कैडरों के लिए विचारधारात्मक समस्या के साथ ही करोड़ों किसानों की एकता का सवाल खड़ा करता है। इस समय हमारे पास उत्पादन के साधनों का मात्र एक अंश है। परन्तु ऐसा लगता है कि ऐसे भी लोग हैं, जो छोटे और मझोले उत्पादकों को उत्पादन के उनके साधनों से वंचित कर सब कुछ पूरी जनता का स्वामित्व घोषित करना चाहते हैं। परन्तु वे स्वामित्व का प्रवर्ग घोषित नहीं कर पाते। क्या उसे कम्यून का स्वामित्व होना चाहिए? महज सार्वजनिक स्वामित्व का ऐलान करते हुए माल और माल-उत्पादन को इस प्रकार मिटा देना तो किसान समुदाय को उनके साधनों से वंचित करना मात्र होगा। 1955 के अन्त में अनाज की वसूली और खरीद से हमें लगभग 90 अरब कैटी अनाज प्राप्त हुआ, जिसने हमारे लिए कम मुसीबतें पैदा नहीं की। हरेक खाद्य वस्तुओं की बात कर रहा था और एक के बाद दूसरी गृहस्थी एकीकृत खरीद की बात कर रही थी। परन्तु यह आखिरकार खरीद ही तो थी, आवंटन नहीं। संकट हल्का पड़ा, जब हमने यह मात्रा 83 अरब कैटी निर्धारित की। मेरी समझ में नहीं आता कि लोग इन बातों को कैसे चुटकी बजाते ही भूल गये।[1]

12. इस मामले में मैं ब्रिटेन के लिए विदेश व्यापार और उस द्वारा उसकी (ब्रिटेन कीअनु.
) अर्थव्यवस्था में अदा की जाने वाली व्यापक भूमिका के महत्व के सवाल को छोड़ देता हूं। मेरा ख्याल है कि इस प्रश्न की जांच-पड़ताल के बाद ही पूरी तरह यह तय किया जा सकेगा कि सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता ग्रहण किये जाने और उत्पादन के *समस्त* साधनों का राष्ट्रीयकरण किये जा चुकने के बाद ब्रिटेन में माल-उत्पादन का भविष्य (नियति) क्या होगा।

12. नियति इस पर निर्भर करती है कि माल उत्पादन का उन्मूलन किया जाता है या नहीं।

13. पर यहां एक सवाल उठता है : सर्वहारा वर्ग को उन देशों में—मिसाल के तौर पर हमारे देश को ले लें—क्या करना होगा, जहां सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता की बागडोर अपने हाथ में लेने और पूंजीवाद का तख्ता पलटने के लिए परिस्थितियां अनुकूल हैं (जहां पूंजीवाद ने उद्योग में उत्पादन के साधनों का इतना संकेन्द्रण कर डाला है कि उन्हें अधिग्रहण किया जा सकता है और समाज की सम्पत्ति बनाया जा सकता है, परन्तु जहां कृषि में पूंजीवाद के विकास के बावजूद बहुसंख्या ऐसे छोटे और मझोले मालिकों-उत्पादकों में इस हद तक बंटी हुई है कि इन उत्पादकों के उत्पादन साधनों के अधिग्रहण की बात सोचना भी असम्भव है? (यह) किसान समुदाय को सर्वहारा वर्ग के दुश्मनों के खेमे में लम्बे अर्से तक के लिए धकेल देगा।

13. कुल मिलाकर माल-उत्पादन को संचालित करने वाले सिद्धान्त को आत्मसात नहीं किया गया है। जहां तक पुस्तकों से सीखने की बात है, चीनी अर्थशास्त्री मार्क्सवादी-लेनिनवादी हैं, परन्तु उनका आर्थिक व्यवहार से आमना-सामना होता है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद के साथ बेईमानी बढ़ती जाती है। उनकी सोच गड्डमड्ड है। अगर हम गलती कर बैठें, तो हम किसान समुदाय को दुश्मनों के खेमे में पहुंचा देंगे।

14. लेनिन के उत्तर का संक्षेप में इस तरह लेखा-जोखा पेश किया जा सकता है : (क) सत्ता ग्रहण करने की अनुकूल परिस्थितियों को हाथ से नहीं जाने दिया जाना चाहिएसर्वहारा
वर्ग को सत्ता ग्रहण करने के लिए उस वक्त का इंतजार नहीं करना चाहिए जब पूंजीवाद लाखों-लाख अलग-अलग छोटे और मंझोले उत्पादकों को बर्बाद कर देगा।

15. (ख) उद्योग में उत्पादन के साधनों का अधिग्रहण किया जाना चाहिए और उन्हें सार्वजनिक सम्पत्ति में बदल दिया जाना चाहिए।

16. (ग) जहां तक छोटे और मझोले उत्पादकों का सम्बन्ध है, उन्हें धीरे-धीरे उत्पादकों के सहकारी संघों में यानी बड़े-बड़े कृषि-उद्यमों सामूहिक फार्मों में ऐक्यबद्ध किया जाना चाहिए।

17. (घ) उद्योग का अधिकतम विकास होना चाहिए और सामूहिक फार्मों का अधिग्रहण किये बिना अपितु दूसरे उच्चतम कोटि के ट्रैक्टर तथा अन्य मशीनें उदारतापूर्वक मुहैया करते हुए बड़े पैमाने के उत्पादन के आधुनिक तकनीकी आधार पर खड़ा किया जाना चाहिए।।

18. (ङ) देहात और शहर के बीच, उद्योग और कृषि के बीच आर्थिक सम्बन्ध-सूत्र सुनिश्चित करते हुए माल उत्पादन (खरीद और

(कोष्ठों में जोड़ी गयी सामग्री स्तालिन के पाठ से ली गयी है ताकि मुद्दे का खुलासा किया जा सके)...

बिक्री के जरिये) बरकरार रखना चाहिए, इसलिए कि यह शहर के लिये आर्थिक सम्बन्ध का *एक* ऐसा रूप है, *मात्र* जो किसान समुदाय को *स्वीकार्य* है, और सोवियत व्यापार—राजकीय सामूहिक सहकारी संघों और सामूहिक फार्मों द्वारा किया जाने वाला व्यापार—का पूर्णतः विकास किया जाना चाहिए। और सब किस्म के, हर रंग-रूप के पूंजीपतियों को व्यापारिक गतिविधियों के क्षेत्र से बाहर निकाल देना चाहिए।

हमारे देश में समाजवाद के निर्माण से इतिहास ने यह दिखाया है कि लेनिन ने विकास के जिस पथ का नक्शा बनाया था, उसने अपने को पूरी तरह न्यायसंगत सिद्ध कर दिया है।

19. इसमें कोई संदेह नहीं है कि छोटे और मझोले उत्पादकों के कमोबेश बहुसंख्यक वर्ग वाले तमाम पूंजीवादी देशों में विकास का यही पथ समाजवाद की विजय के लिए एकमात्र सम्भव और समयोचित है।

14. यह परिच्छेद सही विश्लेषण है। चीन की ही स्थितियां लें। यह विकास है। ये पांचों मुद्दे सही हैं।

15. राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के प्रति हमारी नीति है उनको उनकी सम्पत्ति को मुक्त कर देना।

16. हम जन-कम्यूनों का नित बड़े पैमाने पर निर्माण करते जा रहे हैं।

17. ठीक यही काम हम इस समय कर रहे हैं।

18. ऐसे भी लोग हैं, जो माल-उत्पादन नहीं चाहते, लेकिन वे भूल कर रहे हैं। माल-उत्पादन के मामले में हमें इस बारे में अब भी स्तालिन से पथ-प्रदर्शन पाना होगा, जिन्होंने लेनिन से सीखा था। लेनिन ने कहा था कि व्यापार, वाणिज्य के विकास पर भरपूर शक्ति लगायी जाये। हम, कहना चाहिए, उद्योग, कृषि और वाणिज्य-व्यापार का भरपूर शक्ति से विकास करेंगे। समस्या का सार है कि किसान समुदाय में ऐसे लोग हैं जो किसानों को मजदूरों से ज्यादा सचेतन मानते हैं। हमने इन पांच मुद्दों पर काम किया है या उसे करने की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। कुछ क्षेत्रों का अब भी विकास किया जाना है, जैसे कम्यूनों द्वारा संचालित उद्योग या दूसरे समान्तर उद्योग और कृषि एवं उद्योग को समान बढ़ाया।

19. लेनिन ने यही बात कही थी।

20. माल-उत्पादन को अपने में आत्मनिर्भर जैसी कोई चीज, चारों ओर व्याप्त आर्थिक अवस्थाओं से स्वतंत्र जैसी कोई चीज नहीं माना जाना चाहिए। माल-उत्पादन पूंजीवादी उत्पादन से पुराना है। वह दास-स्वामित्व प्रधान समाज में विद्यमान था और उसका हित-साधन करता था, परन्तु वह पूंजीवाद की ओर नहीं ले गया। वह सामन्ती समाज में भी विद्यमान था और उसका हित-साधन करता था और फिर भी, हालांकि उसने पूंजीवादी उत्पादन की कतिपय अवस्थायें तैयार कीं, पर वह पूंजीवाद की ओर नहीं ले गया।

21. यह ध्यान में रखते हुए कि हमारे देश में माल-उत्पादन उतना विशिष्ट तथा सर्व-समावेशकारी नहीं है, जितना कि वह पूंजीवादी देशों में है।...

22. उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वामित्व, उजरती श्रम की प्रणाली के उन्मूलन जैसी निर्णायक आर्थिक परिस्थितियों के होते हुए और..

23. शोषण की प्रणाली का उन्मूलन होने के बाद भी, यह पूछा जा सकता है, माल-उत्पादन पूंजीवाद के बिना भी एक खास अवधि के दौरान हमारे समाजवादी समाज का उसी प्रकार क्योंकि हित साधन नहीं कर सकता?

20. यह बयान थोड़ा अतिश्योक्ति भरा है। परन्तु यह सच है कि माल उत्पादन अनन्य रूप से पूंजीवादी संस्थागत ढांचा नहीं था।

21. केन्द्रीय समिति के दूसरे पूर्णाधिवेशन ने (माल-उत्पादन) का उपयोग करने, उसे सीमित रखने और रूपान्तरित करने का सुझाव दिया था।

22. यह बात चीन में पूरी तरह कार्यरत है।

23. यह मुद्दा पूरी तरह सही है। हमारे यहां ऐसी परिस्थितियां और अवस्थाएं अब नहीं रह गयी हैं। ऐसे भी लोग हैं, जो माल से डरते हैं। बिना किसी अपवाद के वे पूंजीवाद से डरते हैं, यह महसूस किये बिना कि पूंजीपतियों को मिटा दिये जाने पर माल-उत्पादन का बहुत व्यापक रूप से विस्तार करना सम्भव है। माल-उत्पादन के मामले में हम ब्राजील और भारत से अब भी पीछे हैं। माल-उत्पादन कोई अलग-थलग चीज नहीं है। सन्दर्भ को देखिये : पूंजीवाद या समाजवाद। पूंजीवादी सन्दर्भ में यह पूंजीवादी माल-उत्पादन होता है। समाजवादी सन्दर्भ में यह समाजवादी माल-उत्पादन होता है। माल-उत्पादन प्राचीन काल से विद्यमान रहा है। खरीद और बिक्री उस समय शुरू हुई, जिसे इतिहास शांग (''वाणिज्य-व्यापार'') राजवंश के युग का नाम देता है। शांग राजवंश का आखिरी राजा चाउ असैनिक और सैनिक विषयों में कार्यदक्ष व्यक्ति था, परन्तु उसे पहले सम्राट चिन* [2] और त्सो त्साओ[3] के साथ खलनायक में बदल दिया गया। यह गलत है। ''पुस्तकों में पूर्ण आस्था रखने के बजाय उनका'' न होना बेहतर है।'' पूंजीवादी समाज में कोई ऐसी समाजवादी संस्थाएं नहीं होतीं, जिन्हें समाजवादी संस्थायें माना जाता हो, अपितु वहां मजदूर वर्ग और समाजवादी विचारधारा अवश्य अस्तित्वमान रहते हैं। जो चीज माल-उत्पादन को निर्धारित करती है, वह है चारों ओर व्याप्त आर्थिक अवस्थायें। प्रश्न यह है, क्या माल-उत्पादन को समाजवादी उत्पादन को आगे बढ़ाने का उपयोगी औजार माना जा सकता है? मेरे ख्याल से माल-उत्पादन समाजवाद का बिल्कुल विनीत होकर हित-साधन करेगा। इस पर कतारों के बीच बहस की जा सकती है।

24. यह कहा जाता है कि उत्पादन के साधनों पर समाजवादी स्वामित्व की चूंकि स्थापना हो चुकी है और उजरती श्रम तथा शोषण की प्रणाली मिटा दी गयी है, इसलिए माल-उत्पादन अपना सारा अर्थ खो चुका है और इसलिए उसका खात्मा कर दिया जाना चाहिए।

24. ''हमारे देश'' इन शब्दों की जगह ''चीन'' रख दीजिए, फिर यह बात बहुत असमंजसकारी बन जाती है।

25. हमारे देश में इस समय समाजवादी उत्पादन के दो बुनियादी रूप हैं : राजकीय अथवा सार्वजनिक स्वामितव के तहत उत्पादन और सामूहिक फार्म उत्पादन, जिसे सार्वजनिक स्वामित्व के तहत उत्पादन का नाम नहीं दिया जा सकता।

25. ''इस समय'' शब्द 1952 की यानी उनकी क्रान्ति के 35 वर्ष बाद के समय का जिक्र करता है।

हमारी क्रान्ति को अभी सिर्फ नो वर्ष हुए हैं।

वह दो बुनियादी रूपों की चर्चा करते हैं। कम्यून में केवल मशीन ही नहीं, बल्कि श्रम, बीज और उत्पादन के अन्य साधनों पर भी सार्वजनिक स्वामित्व है। तो उत्पादन पर भी इसी तरह का स्वामित्व है। परन्तु यह न सोचें कि चीनी किसान इतने अद्भुत ढंग से आगे बढ़े हुए लोग हैं। होनान के स्यू वू काउंटी अंचल के पार्टी सेक्रेटरी इस बात को लेकर चिन्तित थे कि बाढ़ या सूखे की हालत में राज्य को सार्वजनिक स्वामित्व घोषित किये जाने और निर्बन्ध सप्लाई प्रणाली कायम कर दिये जाने के बाद राज्य उजरत देगा या नहीं। वह

इस बात से भी चिन्तित थे कि भरपूर फसल हाथ लगने पर राज्य को क्या सार्वजनिक अनाज का उजरत चुकाये बिना स्थानान्तरण करना चाहिए, भले ही किसानों को फसल हाथ लगने या न लगने पर उनके दुर्दशापूर्ण हाल पर छोड़ देना पड़े। यह किसानों के प्रति चिन्ता का द्योतक है। मार्क्सवादियों को इन समस्याओं से सरोकार रखना चाहिए। हमारे माल-उत्पादन का पूर्णतम विकास किया जाना चाहिए, परन्तु इसमें पन्द्रह वर्षों या इससे भी ज्यादा समय लगेगा और साथ ही धैर्य की भी आवश्यकता होगी। हमने कई दशकों तक युद्ध चलायाा है। हमें अब भी धैर्य रखना होगा और ताइवान की मुक्ति का, समाजवाद के निर्माण के चलते रहने का इंतजार करना होगा। सुगम विजयों की आशा न करें।।

26. (स्वामित्व के दो बुनियादी रूप अन्ततः कैसे एक बनेंगे, यह) एक विशेष प्रश्न है, जिस पर अलग से बहस करनी होगी।

26. स्तालिन (सामूहिक रूप से सार्वजनिक स्वामित्व में संक्रमण करने के मसले पर) कोई विधि या उपयुक्त सूत्र ढूंढ़ पाने में असफल रहने पर उससे (मसले से-अनु.) कतरा रहे हैं।

27. फलस्वरूप, हमारा माल-उत्पादन कोई साधारण किस्म का नहीं, अपितु खास किस्म का पूंजीपति विहीन माल-उत्पादन है, जिसका सम्बन्ध मुख्यतया सहचारी समाजवादी उत्पादकों (राजकीय, सामूहिक फार्मों, सहकारी संघों) से है, जिनके कार्यकलाप का क्षेत्र निजी उपभोग की चीजों तक सीमित है, और वह जाहिर है, पूंजीवादी उत्पादन में तब्दील नहीं हो सकता तथा उसका प्रयोजन अपनी ''मुद्रा-अर्थव्यवस्था'' के साथ मिलकर समाजवादी उत्पादन के विकास और सुदृढ़ीकरण का हित-साधन करना है।

27. ''कार्यकलाप का क्षेत्र'' अलग-अलग खपत की वस्तुओं तक सीमित नहीं है। कुछ उत्पादन के साधनों को मालों के रूप में वर्गीकृत करना होगा। अगर कृषि उपज में माल शामिल है ओर औद्योगिक उत्पादन में शामिल नहीं है, तो फिर विनिमय का काम कैसे जारी रखा जायेगा? अगर ''हमारे देश'' की जगह ''चीन'' रख दिया है, तो फिर अनुच्छेद पढ़ने में और भी दिलचस्प हो जाता है। चीन में केवल उपभोक्ता वस्तुओं की ही नहीं, अपितु उत्पादन के कृषि साधनों की भी सप्लाई करनी पड़ेगी। स्तालिन ने उत्पादन के साधन कभी किसानों को बेचे नहीं। ख्रुश्चेव ने इसे बदल डाला।

28. (अध्यक्ष माओ ने मूल पाठ के पृष्ठ 13 पर टिप्पणी की) ; हमें समाजवाद और कम्युनिज्म के बीच विभाजन रेखा की समस्या को सामूहिक और सार्वजनिक स्वामित्व के बीच विभाजन रेखा के साथ गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए। सामूहिक स्वामित्व की प्रणाली हमारे लिए माल-उत्पादन की समस्या छोड देती है, जिसका लक्ष्य मजदूर-किसान संश्रय को दृढ़ बनाना और उत्पादन का विकास करना है। आज ऐसे लोग मौजूद हैं, जो कहते हैं कि किसानों का कम्युनिज्म बहुत शानदार है। देहात का एक दौरा करने के बाद वे सोचते हैं कि किसान समुदाय लाजवाब हैं, कि वे मानो स्वर्ग में प्रवेश करने वाले हैं, कि वे मजदूरों से बेहतर हैं। यह एक सतह की परिघटना है। यह देखना होगा कि किसानों में क्या सचमुच कम्युनिस्ट भावना है और इससे भी बढ़कर हमें कम्यूनों की स्वामित्व की प्रणाली की जांच करनी होगी, जिससे यह काम भी शामिल है कि उत्पादन और जीवन-निर्वाह के साधन किस हद तक कम्यून को सामूहिक स्वामित्व के अन्तर्गत हैं। जैसा कि स्यू वू, होनान की पार्टी समिति के सचिव ने कहा, हमें माल-उत्पादन का अब भी विकास करना है और आंखें मूंदकर आगे की ओर झपट नहीं पड़ना है।'

29. इसके अलावा मैं सोचता हूं कि हमें मार्क्स की पूंजी से ग्रहण की गयी कतिपय अन्य अवधारणाओं को भी तिलांजलि देनी होगी, जहां मार्क्स का सरोकार पूंजीवाद का विश्लेषण था और जिन्हें हमारे समाजवादी सम्बन्धों पर कृत्रिम ढंग से लागू किया गया... यह स्वाभाविक ही है कि मार्क्स ने उन अवधारणाओं (प्रवर्गों) का उपयोग किया, जो पूंजीवादी सम्बन्धों पर पूरी तरह लागू होते थे। लेकिन यह अजीब है कि,

30. इन प्रवर्गों को अब उपयोग में लाया जाये, जब मजदूर वर्ग न केवल सत्ता और उत्पादन के साधनों से वंचित नहीं है, बल्कि इसके विपरीत जब उसके पास सत्ता है और वह

31. उत्पादन के साधनों को नियंत्रित करता है। श्रम-शक्ति के माल होने की और मजदूरों को ''भाड़े पर रखने'' की बात करना अब हमारी प्रणाली के अन्तर्गत, कहना चाहिए, बेतुका लगता है, मानो मजदूर वर्ग खुद अपने को भाड़े पर रखता है और अपनी श्रम-शक्ति को खुद अपने को बेचता है, जबकि वह उत्पादन के साधनों का स्वामी है।

29. खास तौर पर, औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन के साधनों का स्वामी है।

30. माल-उत्पादन का बहुत व्यापक पैमाने पर विकास करना होगा, मुनाफे की खातिर नहीं, अपितु किसान समुदाय की, कृषि-उद्योग संश्रय और उत्पादन के विकास की खातिर।

31. खास तौर पर शुद्धीकरण अभियान के बाद। शुद्धीकरण अभियान और दक्षिणपंथी-विरोधी अभियानों के बाद श्रम-शक्ति माल नहीं रह गयी। वह डालर की नहीं, जनता की सेवा में लगा दी गयी। जब तक श्रम-शक्ति का माल का रूप खत्म नहीं हो जाता, श्रमशक्ति का प्रश्न नहीं सुलझाया जा सकता।

32. कभी-कभी यह पूछा जाता है कि मूल्य का नियम हमारे देश में समाजवादी प्रणाली के अन्तर्गत विद्यमान और क्रियाशील है या नहीं।

32. (समाजवादी समाज में) मूल्य के नियम का नियमन प्रकार्य नहीं होता। नियोजन और राजनीति वह भूमिका अदा करते हैं।

33. वस्तुतः मूल्य के नियम का हमारे समाजवादी उत्पादन में कोई नियमन प्रकार्य नहीं है।

33. हमारे समाज में मूल्य के नियम का कोई नियमन प्रकार्य नहीं है, यानी उसका कोई निर्धारणकारी प्रकार्य नहीं है। नियोजन उत्पादन को निर्धारित करता है, यानी हम सुअरों या इस्पात के उत्पादन लिए मूल्य के नियम का उपयोग नहीं करते; हम नियोजन पर निर्भर करते हैं।

टिप्पणियां :

1. माओ यहां 1954 के अन्तिम दिनों में खाद्यान्न की भारी मात्रा में अतिरिक्त खरीद और इसके परिणामस्वरूप 1955 के बसन्त में देहातों में खाद्यान्न की कमी पड़ जाने की चर्चा कर रहे हैं। इसके बाद राज्य की खरीद के कोटे में 7 अरब कैटी की कमी कर दी गयी ओर देहातों में तनाव शान्त हो गया।

2. पहला सम्राट चिन शिह हुआङ ती, चिन राज्य का राजा था जिसने 230 और 231 ईसा पूर्व के बीच आसपास के राज्यों को जीतकर चीन को एकीकृत किया। उसके शासन में एक सामन्ती प्रणाली कायम की गई, माप-तौल पर सिक्कों का मानकीकरण हुआ। चिन का दार्शनिक आधार विधिवादी दर्शन था। पहले सम्राट को 213 ई.पू. में सभी गैरउपयोगितावादी ''षडयंत्रकारी'' साहित्य जलवा डालने के लिए याद किया जाता है।

3. त्साओ-त्साओ उत्तर हान वंश (25-220 ईसवी) का एक मशहूर सेनापति और मंत्री था। जिसने उन युद्धों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जिन्होंने अन्ततः हान वंश का तख्तापलट दिया और तीन राज्यों के नाम से प्रसिद्ध विभाजित साम्राज्य के युग की शुरुआत की।

अनुवाद : **सुरेन्द्र कुमार**

केन्द्रीय अध्ययन कक्षा को रिपोर्ट

वाङ हुङ वेन

चीन में समाजवाद की समस्याओं से लगातार जूझते हुए, पूंजीवादी पुनर्स्थापना के लिए लगातार प्रयत्नशील संशोधनवादियों से मोर्चा लेते हुए और विश्व पटल पर ख्रुश्चेवी संशोधनवादियों पर लगातार प्रत्याक्रमण करते हुए माओ त्से-तुङ ने व्यवहार और चिन्तन की एक लम्बी प्रक्रिया से गुजरने के बाद सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की सैद्धान्तिक पूर्वपीठिका तैयार की। समाजवादी संक्रमणकालीन आर्थिक मूलाधार और अधिरचना में मौजूद पूंजीवादी पुनर्स्थापना के कारक तत्वों की गतिकी को समझने के बाद माओ ने यह मार्ग निकाला कि समाजवाद के दौर में वर्ग संघर्ष का संचालन किस प्रकार किया जायेगा और पूंजवादी पुनर्स्थापना के लिए प्रयत्नशील नये-पुराने बुर्जुआ तत्वों और उनके आधारों को नष्ट करते हुए कम्युनिज्म की ओर प्रयाण करने की आम दिशा क्या होगी। इसी चिन्तन और प्रयोग के दौरान ''सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत क्रान्ति'' और ''अधिरचना में क्रान्ति'' जैसी अवधारणाएं सामने आयीं ओर विकसित हुईं।

फरवरी 1966 में पहले 'सांस्कृतिक क्रान्ति ग्रुप' के गठन के साथ ही मानो सर्दियों के अन्त की घोषणा कर दी गई। '7 मई निर्देश' के द्वारा शिक्षा में क्रान्ति' विषयक सूत्र पेश करके माओ ने वसंत के वज्रनाद के बाद, गर्मियों का ताप पैदा करने का काम शुरू कर दिया, जिसे '16 मई निर्देश' और नये सांस्कृतिक क्रान्ति ग्रुपों के गठन से एक नया संवेग मिला। यथास्थिति के पोषकों और यथास्थिति के आलोचकों के बीच दो लाइनों का संघर्ष विश्वविद्यालयों-कालेजों और संस्कृति के दायरों से आगे बढ़कर कल-कारखानों और गांवों तक फैल गया। 29 मई को सिनहुआ विश्वविद्यालय में रेडगार्डों की पहली दुकड़ी गठित हुई। 16 जुलाई को 66 वर्षीय माओ ने तूफानी याङ त्से नदी का विशाल पाट तैरकर पार करके प्रतीकात्मक रूप से चीनी जनता को धारा के विरुद्ध खड़े होने और तूफानों से मोर्चा लेने का संदेश दिया। एक अगस्त को पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के प्लेनम के बाद 5 अगस्त को माओ ने ''हेडक्वार्टर को ध्वस्त करो'' नामक अपना ऐतिहासिक ''बड़े चित्राक्षरों वाला पोस्टर'' जारी किया और पार्टी के नेतृत्व में जड़ जमाये बैठे पूंजीवादी पथगामियों पर सीधे हल्ला बोलने का संदेश दिया। इसके तीन दिन बाद ही चीनी पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने निर्णय लेकर वह इतिहास-प्रसिद्ध सोलह सूत्री सर्कुलर जारी किया जिसे सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का पहला कार्यक्रमपरक, ठोस दस्तावेज माना जाता है।

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के तीसरे दशाब्दी वर्ष के अवसर पर हमने नवम्बर 1996 के अंक से इस क्रान्ति के चुने हुए दस्तोवेजों और लेखों के प्रकाशन का सिलसिला शुरू किया था। अब तक हम 'सोलहसूत्री सर्कुलर' 'सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे' पार्टी अखबारों के संपादकीय द्वारा, 'बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में' (चाङ चुन-चियाओ), 'पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएं' (चेङ चिह-स्तजू), 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति अमर रहे' ('लाल झण्डा' का सम्पादकीय), 'एक युगान्तरकारी दस्तावेज' (16 सूत्री सर्कुलर के प्रकाशन की दूसरी वर्षगांठ पर प्रमुख अखबारों के सम्पादकीय विभागों का लेख), 'चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस में प्रस्तुत रिपोर्ट', 'पूंजीवादी पथगामी पार्टी के भीतर बैठा बुर्जुआ वर्ग है' (फाङ काङ), 'कम्युनिस्टों को सर्वहारा वर्ग के अग्रणी तत्व होना चाहिए' (प्रमुख अखबारों के सम्पादकीय विभागों का लेख), 'सतत क्रान्ति के अध्यक्ष माओ के सिद्धान्त का अध्ययन करो' (चाओ चाङ), समाजवादी काल में वर्ग संघर्ष के नियम' (चि पिङ) तथा 'इतिहास कुण्डलाकार गति से आगे बढ़ता है' (हुङ यू) का प्रकाशन कर चुके हैं। इसके अलावा सांस्कृतिक क्रान्ति तथा माओकालीन चीन में मार्क्सवाद पर जार्ज थामसन के लेख भी हमने छापे हैं।

इस अंक में हम सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज **केन्द्रीय अध्ययन कक्षा को रिपोर्ट** प्रकाशित कर रहे हैं। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान माओ के सबसे विश्वस्त समर्पित सिपहसालारों (जिन्हें 'गैंग आफ फोर' कह कर बदनाम किया जाता है) में सबसे युवा वाङ हुङ वेन ने यह रिपोर्ट लिन प्याओ के पतन के बाद 14 जनवरी, 1974 को प्रस्तुत की थी। एक ओर लिन प्याओ के पार्टी विरोधी षड्यंत्र को ध्वस्त कर सांस्कृतिक क्रान्ति ने एक बड़ी जीत हासिल की थी, दूसरी ओर सांस्कृतिक क्रान्ति को लेकर पार्टी के भीतर संघर्ष काफी तीखा हो गया था, हालांकि वह सतह पर उग्र रूप में नहीं आ रहा था। (लिन प्याओ ने पार्टी और सेना को काफी नुकसान पहुंचाया था। पार्टी और सेना में हुई गलतियों को सुधारना और पार्टी के प्राधिकार को पुनःस्थापित करना जरूरी था। इस सन्दर्भ में सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान पद से हटाये गये बहुत से कैडरों को बहाल किया गया। इनमें कई ऐसे लोग भी थे जिन्होंने गम्भीर गलतियां की थीं। इस प्रक्रिया को कितनी दूर ले जाया जाये और किन आधरों पर लोगों को बहाल किया जाये यह दोनों शिविरों के बीच संघर्ष का एक अहम मद्दा था। इनमें से कई कैडर सांस्कृतिक क्रान्ति मे जनता द्वारा अपनी आलोचना को अपने साथ दुर्व्यवहार मानते थे और पदों से हटाये जाने तथा इस ''दुर्व्यवहार'' के लिए मन में द्वेष और प्रतिशोध की भावना पाले हुए थे। वे सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान हो रहे परिवर्तनों को दिल से स्वीकार नहीं करते थे और इन्हें अव्यावहारिक और खतरनाक मानते थे। वाङ हुङ वेन की रिपोर्ट अन्य महत्वपूर्ण मुद्दों के साथ-साथ इस ओर खास तौर पर ध्यान खींचती है।

सम्पादक

●

मैं यहां महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के प्रश्न पर चर्चा करना चाहूंगा। हाल में मैंने कुछ घटनाएं देखी हैं जिनसे संकेत मिलता है कि कुछ प्रान्त कई लम्बे समय से चली आ रही और मुश्किल समस्याओं को हल नहीं कर पा रहे हैं। इसका प्राथमिक कारण सही कार्यदिशा अपनाने में उनकी असफलता है। कुछ क्षेत्रों में नेतृत्वकारी स्थितियों में मौजूद ज्यादातर लोग सही कार्यदिशा मुख्यतः इसलिए नहीं अपना सके क्योंकि उन्होंने महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति, जनता और अभियानों को सही ढंग से नहीं लिया। शुरुआती झटके, जैसे कि शेचुआन के बारह कारखानों के नतीजे, एक महत्वपूर्ण समस्या है जिसका पूरे देश के लिए महत्व है। मुझे आशा है कि आज की चर्चा हमें महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति शुरू होने के समय से जारी अध्यक्ष माओ के निर्देशों पर फिर से सोचने के लिए प्रेरित करेगी। हमारे कामरेडों ने अध्यक्ष माओ के हाल के पांच निर्देशों के अपने अध्ययन में और दोनों अखबारों में नव वर्ष पर लिखे गये संयुक्त सम्पादकीय में और केन्द्रीय कमेटी की एक पत्रिका में इस प्रश्न को उठाया है। यह बहुत जरूरी है कि हम महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के प्रश्न पर अध्ययन और चर्चा करने के लिए कुछ समय निकालें।

1. महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के महत्व को सही–सही समझना हमारे लिए क्यों जरूरी है

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति सर्वहारा अधिनायकत्व के सुदृढ़ीकरण और पूंजीवादी पुनर्स्थापना रोकने से सम्बन्धित एक महान घटना है। सभी कामरेड जानते हैं कि पार्टी की नवीं और दसवीं राष्ट्रीय कांग्रेस की राजनीतिक रिपोर्टों और यहां तक कि पार्टी के संविधान में भी महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के महत्व का उल्लेख किया गया था। पार्टी की राष्ट्रीय कांग्रेस में स्वीकार किये गये प्रस्तावों का पार्टी के सभी सदस्यों द्वारा पालन किया जाना चाहिए। नया वर्ष देश और विदेश दोनों में ही शानदार स्थितियों के साथ शुरू हुआ है। क्रान्ति के लिए स्थिति अनुकूल है। हमें इस बेहतरीन स्थिति को विकसित करने के लिए घरेलू मोर्चे पर अपना काम अच्छी तरह करना चाहिए और आधार क्षेत्रों को अच्छी तरह निर्मित करना चाहिए। कुछ प्रान्तों और म्युनिसपालटियों में समस्याओं को हल करने के लिए हमें सबसे पहले कार्यदिशा की समस्या को हल करना चाहिए। और कार्यदिशा की समस्या को हल करने के लिए हमें सबसे पहले इस समस्या को हल करना होगा कि महान सांस्कृतिक क्रान्ति को सही ढंग से कैसे लिया जाये। ऐतिहासिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से महान सांस्कृतिक क्रान्ति आवश्यक थी और है। महान सांस्कृतिक क्रान्ति की हिफाजत करना अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी दिशा की हिफाजत करना है। कम्युनिस्ट पार्टी के हम सभी सदस्यों, खासकर मध्यवर्ती कैडरों को यह जिम्मेदारी उठानी चाहिए।

महान सांस्कृतिक क्रान्ति के महत्व को पूरी तरह समझने के लिए जरूरी है कि पहले सांस्कृतिक क्रान्ति के बारे में अध्यक्ष माओ के महत्वपूर्ण निर्देशों की श्रृंखला का फिर से अध्ययन किया जाये। ये महान सांस्कृतिक क्रान्ति को समझने की कुंजी है। लेकिन कुछ लोग अब अध्यक्ष माओ के इन निर्देशों को भूल गये हैं और कुछ इलाकों में अब भी बुर्जुआ अधिनायकत्व लागू किया जा रहा है।

1965 के अन्तिम दिनों में जब महान सांस्कृतिक क्रान्ति शुरू ही हुई थी या जब *हाई जुई की पद से बर्खास्तगी* की आलोचना की गयी थी, तभी अध्यक्ष माओ ने इंगित किया थाः ''*हाई जुई की पद से बर्खास्तगी* का मुख्य बिन्दु बर्खास्तगी है। सम्राट वान ली ने हाई जुई को पद से बर्खास्त किया थाꓽ 1959 में हमने पेङ ते-हुआई को बर्खास्त किया, इसलिए पेङ ते-हुआई हाई जुई है।'' इसने स्पष्ट संकेत दिया कि महान सांस्कृतिक क्रान्ति सर्वहारा द्वारा बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध छेड़ी गयी एक महान राजनीतिक क्रान्ति है। और यह किसी भी तरह महज एक अकादमिक चर्चा नहीं है। मुहिम की शुरुआती अवस्था में कुछ लोगों को गलतफहमी हो गयी थी कि यह एक अकादमिक चर्चा है और दरअसल इस पूरे मामले को ल्यू शाओ-ची अपनी जोड़-तोड़ से चला रहा है। बाद में पेङ चेन और उसकी मंडली सामने आयी और एक संशोधनवादी ''फरवरी रूपरेखा'' पेश की जिसका असल मकसद दक्षिणपंथियों को बचाना और वामपंथियों पर प्रहार करना था ताकि इस आन्दोलन को शुद्ध अकादमिक चर्चा के बुर्जुआ दायरे में ले जाया जा सके। अध्यक्ष माओ ने दृढ़तापूर्वक पेङ चेन और उसकी मंडली को अलग परे हटने के लिए कहा और इंगित किया कि पुराना प्रचार विभाग नरक का दरबार बन चुका है और हमें ''नरक के राजा को उखाड़ फेंक कर नन्हें यमदूतों को मुक्त कराना होगा''। अध्यक्ष माओ ने कहा ''हम हमेशा से कहते रहे हैं कि जब भी केन्द्रीय एजेंसियां गलत काम करेंगी मैं बगावत करने और केन्द्र पर धावा बोलने के लिए स्थानीय संगठनों का आह्वान करूंगा।'' यहां ''गलत कामों'' का आशय संशोधनवाद पर अमल करना है। एक बार अध्यक्ष माओ ने हुआङ चाउ में कामरेड सू शिह-यू से पूछा : ''अगर केन्द्रीय कमेटी में ही संशोधनवाद उभर आया तो आप क्या करेंगे?'' अध्यक्ष माओ बार-बार इस प्रश्न पर टिप्पणी कर चुके हैं। मई 1966 में उन्होंने खुद ''16 मई का सर्कुलर'' सूत्रबद्ध किया जो सांस्कृतिक क्रान्ति का एक कार्यक्रम था जिसमें बहुत से महत्वपूर्ण निर्देश शामिल हैं। अध्यक्ष माओ ने कहा : ''पार्टी, सरकार, सेना और सांस्कृतिक दायरों में घुस आने वाले बुर्जुआ वर्ग के प्रतिनिधि प्रतिक्रान्तिकारी संशोधनवादियों के समूह हैं जो मौका मिलते ही राजनीतिक सत्ता पर कब्जा कर लेंगे और सर्वहारा अधिनायकत्व को बुर्जुआ अधिनायकत्व में बदल देंगे। इनमें से कुछ व्यक्तियों को हमने पहचान लिया है, कुछ पहचाने नहीं गये हैं और कुछ ख्रुश्चेव की तरह के लोगों पर हम भरोसा कर रहे हैं और उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाने के लिए तैयार कर रहे हैं और वे हमारे साथ ही उठ-बैठ-सो रहे हैं। विभिन्न स्तरों पर पार्टी कमेटियों को इस मुद्दे पर ठीक से ध्यान देना चाहिए।'' (यह निर्देश प्रकाशित हो चुका है) यह बहुत महत्वपूर्ण है। लेकिन नवीं कांग्रेस और दसवीं कांग्रेस में मौजूद कुछ लोग इसे भूल गये और कुछ लोगों ने पूंजीवादी पथगामियों के अस्तित्व को ही नकार दिया।

जब व्यापक क्रान्तिकारी जनसाधारण अध्यक्ष माओ के आह्वान पर महान सांस्कृतिक क्रान्ति में सक्रियता के साथ कूद पड़े तो ल्यू शाओ-ची और उसके लग्गू-भग्गू घबड़ा गये, उन्होंने हड़बड़ी में बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी कार्यदिशा प्रस्तुत की और क्रान्ति को दबाने के लिए खुद सामने आ गये। इस मोड़ पर अध्यक्ष माओ ने खुद आठवीं केन्द्रीय कमेटी का ग्यारहवां प्लेनरी सत्र बुलाया, 'सोलह अनुच्छेद' सूत्रबद्ध किये और ''मेरा बड़े चित्राक्षरों वाला पोस्टर : हेडक्वार्टर को ध्वस्त करो'' लिखा। इस तरह महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की शुरुआत हुई। अध्यक्ष माओ ने महान सांस्कृतिक क्रान्ति की मुहिम को बहुत ऊंचा दर्जा दिया क्योंकि इस क्रान्ति का पैमाना बहुत बड़ा था और यह जनसाधारण को गोलबंद

कर रही थी जो कि सभी लोगों की सोच में क्रान्तिकारी बदलाव लाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण था। अध्यक्ष माओ ने अपील की कि ''आपको राज्य की महत्वपूर्ण घटनाओं के बारे में सरोकार रखना चाहिए और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को उसके लक्ष्य तक पहुंचाना चाहिए।'' उन्होंने क्रान्तिकारी युवाओं को महान सांस्कृतिक क्रान्ति में तूफानों का अनुभव करने और दुनिया का सामना करने के लिए प्रोत्साहित किया ताकि वे संघर्ष के दौरान तपकर सर्वहारा क्रान्तिकारी उद्यमों के उत्तराधिकारी बन सकें। साथ ही अध्यक्ष माओ कार्यकर्ताओं की व्यापक कतारों के बारे में भी चिन्तित थे। उन्होंने सलाह दी कि ''आपको राजनीति को कमान में रखना चाहिए, जनता के बीच जाना चाहिए, जनता के साथ मिलकर काम करना चाहिए और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को बेहतर ढंग से चलाना चाहिए।'' अध्यक्ष माओ ने यह आशा व्यक्त की कि हम अनुभवी सर्वहारा क्रान्तिकारी पकी उम्र में अपने क्रान्तिकारी जीवन को बेदाग बनाये रखेंगे और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति में नई उपलब्धियों के लिए प्रयास करेंगे।

1966 के अन्तिम दिनों में महान सांस्कृतिक क्रान्ति के लिए और बेहतर स्थिति बन चुकी थी। इसी समय अध्यक्ष माओ ने ''पूरे देश में वर्ग संघर्ष के सर्वतोमुखी विकास'' पर भाषण दिया जिसे उच्च पदों पर बैठे पूंजीवादी राह अपना रहे मुट्ठी भर लोगों के हाथ से सत्ता छीनने का प्रयास माना जा सकता है। इससे पहले अक्टूबर 1966 में अध्यक्ष माओ ने शंघाई में मजदूरों के आन्दोलन का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया था और उन्हें बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध बगावत करने में अपना समर्थन दिया था। वह मजदूरों के आन्दोलन से बहुत खुश थे। सोलह अनुच्छेदों में कहा गया है कि, ''युवा और किशोर महान सांस्कृतिक क्रान्ति के योद्धा हैं ''मजदूर, किसान और सैनिक महान सांस्कृतिक क्रान्ति की मुख्य शक्ति हैं।'' उस समय (अध्यक्ष माओ ने) एक नेतृत्वकारी कामरेड (चाङ चुन-चियाओ) को शंघाई में मजदूरों के आन्दोलन का समर्थन करने और आनतिङ मामले को संभालने के लिए भेजा। वह इस बात से सहमत थे कि मजदूर अपने विद्रोही संगठन खड़े कर सकते हैं। अध्यक्ष माओ ने उन्हें निर्देश दिया कि वे (चाङ चुन-चियाओ) ''रिपोर्ट देने के पहले अपने निर्णय लागू कर सकते हैं'' यह अवधारणा के पहले तथ्य को रखने का एक उदाहरण है। 1966 के अन्तिम दिनों में अध्यक्ष माओ ने टिप्पणी की, ''शंघाई में महान संभावनाएं हैं : मजदूर उठ खड़े हुए हैं, छात्र उठ खड़े हुए हैं और सरकारी कैडर उठ खड़े हुए हैं।'' अध्यक्ष माओ के गम्भीर सरोकार, उनके नेतृत्व वाले सर्वहारा हेडक्वाटर के निर्देशन और शंघाई में तैनात जन मुक्ति सेना की इकाइयों के समर्थन से पार्टी में बैठे पूंजीवादी पथगामियों के हाथों से सत्ता छीनने का संघर्ष शुरू हुआ।

यह शंघाई तक सीमित मामला नहीं था बल्कि पूरे देश का मामला था। यह अध्यक्ष माओ के नेतृत्व में केन्द्रीय कमेटी के नेतृत्व में छेड़ा गया सत्ता कब्जा करने का संघर्ष था। अन्यथा सत्ता पर कब्जा नहीं किया जा सकता था। 16 जनवरी 1967 को स्थायी कमेटी की बैठक की अध्यक्षता करते हुए अध्यक्ष माओ ने सत्ता कब्जा करने के संघर्ष का उत्साहपूर्वक समर्थन किया जो निचले स्तरों से ऊपर के स्तरों तक विकसित हो रहा था। उन्होंने *वेन हुई पाओ* और *लिबरेशन डेली* द्वारा छेड़े गये संघर्ष की सराहना की और कहा, ''यह एक महान क्रान्ति है जिसमें एक वर्ग दूसरे वर्ग को उखाड़ फेंकता है। पूरे पूर्वी चीन में और पूरे देश के विभिन्न प्रान्तों और म्युनिसपालटियों में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के विकास पर इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा।

26 जनवरी को अध्यक्ष माओ ने पूरी जनता का एक और आह्वान किया : ''जन मुक्ति सेना को वामपक्ष में खड़े व्यापक जनसाधारण का समर्थन करना चाहिए।'' सत्ता कब्जा करने के संघर्ष के बुनियादी अनुभवों का समाहार करते हुए उन्होंने कहा, ''सर्वहारा क्रान्तिकारियों को पार्टी के उच्च पदों पर बैठे और पूंजीवादी राह अपना रहे मुट्ठी भर लोगों के हाथों से सत्ता छीनने के लिए एकजुट हो जाना चाहिए।'' उन्होंने यह भी कहा, ''जहां भी सत्ता कब्जा करने की जरूरत है वहां हमें एक-में-तीन, के क्रान्तिकारी संगठन पर अमल करना चाहिए ताकि यह क्रान्तिकारी, प्रातिनिधिक और सर्वहारा- अधिकारसम्पन्न अन्तरिम निकाय स्थापित किया जा सके जिसका नाम 'क्रान्तिकारी कमेटी' हो।''

जब जनवरी में शंघाई में सत्ता पर कब्जे ने क्रान्तिविरोधी अर्थवादी शैतानी हवा को पीछे धकेल दिया तो केन्द्रीय कमेटी, सैनिक मामलों के केन्द्रीय आयोग, केन्द्रीय सांस्कृतिक क्रान्ति ग्रुप और राज्य परिषद ने इसका स्वागत करते हुए तार भेजे और इस बात की पुरजोर हिमायत की कि महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति और सर्वहारा अधिकनायकत्व की बागडोर सर्वहारा के हाथों में सौंप दी जाये।

अगस्त-सितम्बर 1967 में अध्यक्ष माओ ने तीन बड़े इलाकों का दौरा किया और महान सांस्कृतिक क्रान्ति को आगे बढ़ाने के लिए महत्वपूर्ण निर्देश दिये। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में उत्साहपूर्वक कहा, ''पूरे देश में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की स्थिति अच्छी ही नहीं बल्कि शानदार है, समग्र स्थिति पहले हमेशा से कहीं बेहतर है।''

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के ज्वार के दौरान अध्यक्ष माओ ने दूरदृष्टि के आधार पर यह कहा था, ''वर्तमान महान सांस्कृतिक क्रान्ति सिर्फ पहली ही है और हमें बाद में ऐसी कई और सांस्कृतिक क्रान्तियां करनी हैं। किसी क्रान्ति की विजय एक लम्बी ऐतिहासिक अवधि के बाद ही निश्चित हो सकती है। अगर हम अपना काम अच्छी तरह नहीं करेंगे तो किसी भी समय पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हो सकती है। पूरी पार्टी के सदस्यों और देश की जनता को यह नहीं सोचना चाहिए कि तीन या चार महान सांस्कृतिक क्रान्तियां देश में शान्ति लाने के लिए पर्याप्त हैं। आपको हमेशा सतर्क रहना चाहिए और एक क्षण के लिए भी अपनी सतर्कता में ढील नहीं आने देना चाहिए।''

कामरेडो, मैं आपको इस पर सोचने के लिए आमंत्रित करता हूं। अध्यक्ष माओ का यह निर्देश कितना महत्वपूर्ण है! उस समय हम कार्यदिशा के नवें संघर्ष में उलझे थे जिसके बाद जल्दी ही दसवां संघर्ष शुरू हो गया। पहली बार पढ़ने पर हममें से बहुत से लोग इन निर्देशों के तात्पर्य को पकड़ नहीं पाये लेकिन धीरे-धीरे हम समझते गये हैं। इसलिए यह जरूरी है कि हम अध्यक्ष के निर्देशों का अध्ययन करें, वर्ग संघर्ष पर हमारी चेतना का स्तरोन्नयन करने के लिए यह महत्वपूर्ण है। केन्द्रीय कमेटी ने हाल ही में महान सांस्कृतिक क्रान्ति पर अध्यक्ष माओ के निर्देशों को पुस्तक के रूप में एकत्रित कर उन्हें प्रकाशित और वितरित किया है। अध्यक्ष माओ के निर्देशों से सीख कर ही हम मार्क्सवादी संघर्ष और संशोधनवादी संघर्ष के बीच अन्तर कर सकते हैं। यह संशोधनवाद के विरुद्ध हमारे संघर्ष में हमारी मदद करेगा। मैं ऐसा क्यों कह रहा हूं? क्योंकि पार्टी में कुछ कामरेड इसे नहीं समझते हैं, खासकर वह हिस्सा जिसका मैंने ऊपर जिक्र किया है।

2. सर्वहारा की महान विजय

अध्यक्ष माओ के निर्देशों की श्रृंखला से हम देख सकते हैं कि उन्होंने महान सांस्कृतिक क्रान्ति को प्रज्जवलित और निर्देशित करने में महान संकल्प का परिचय दिया। अब क्रान्ति ल्यू शाओ-ची के नेतृत्व वाले बुर्जुआ हेडक्वार्टर को ध्वस्त कर एक बड़ी विजय के रूप में पूरी हुई है। यह एक बहुत बड़ी विजय है। इसके साथ ही सांस्कृतिक क्रान्ति ने कैडरों और जनसाधारण को प्रशिक्षित किया है, अधिरचना में क्रान्ति और औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन के विकास को आगे बढ़ाया है और उत्पादकता को बड़े पैमाने पर मुक्त किया है। बहुत से कामरेडों ने (इन उपलब्धियों को) देखा है लेकिन कुछ लोगों ने नहीं देखा है। जल्दी ही मार्क्सवाद-लेनिनवाद और माओ त्से-तुङ विचारधारा को पूरे देश में लोकप्रिय बनाने के लिए एक जनान्दोलन उभरेगा। अभी यह आन्दोलन धीरे-धीरे विकसित हो रहा है। पिछले आठ वर्षों के व्यवहार ने अध्यक्ष माओ के इस निर्देश को पर्याप्त रूप से सही साबित किया है : ''यह महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति सर्वहारा अधिनायकत्व को सुदृढ़ करने, पूंजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने और समाजवाद का निर्माण करने के लिए बिल्कुल आवश्यक और बहुत समयानुकूल है।'' यह क्रान्ति न हुई होती तो हमारा देश आज क्या होता? हाल में केन्द्रीय कमेटी ने *लिन प्याओ और कन्फ्यूशियस एवं मेन्शियस का सिद्धान्त* की आलोचना के बारे में सामग्री पूरी पार्टी में वितरण के लिए तैयार करायी है। लिन प्याओ, उसकी पत्नी येह चुन और चेन पो-ता समाजवाद को सख्त नापसन्द करते थे। जब मैंने उपरोक्त सामग्री की चर्चा अपने सहकर्मियों के साथ की तो हम सब रोष से भर गये। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि देश और विदेश में वर्ग शत्रु इस क्रान्ति के बारे में तरह-तरह का कुत्सा प्रचार कर रहे हैं। च्याङ काई-शेक ने महान सांस्कृतिक क्रान्ति की निन्दा की है, और सोवियत संशोधनवादी रेडियो तथा अखबार सात-आठ साल से इसे गालियां देते रहे हैं। राजनीतिक तख्तापलट के अपने क्रान्तिविरोधी कार्यक्रम ''प्रोजेक्ट 571 की रूपरेखा'' में लिन प्याओ ने भी हमें सोवियतों की भाषा में ही गालियां दी हैं। अध्यक्ष माओ ने हमें बताया है ''दुश्मन जिसका विरोध करे वह अच्छी चीज है, बुरी चीज नहीं।'' यह सिद्ध करता है कि हमारी महान सांस्कृतिक क्रान्ति सही है। हम जैसे-जैसे लिन प्याओ और कन्फ्यूशियस की अपनी आलोचना को गहराई से विकसित करते हैं, च्याङ काई-शेक, दक्षिण कोरिया, दक्षिण वियतनाम और सोवियत संशोधनवाद सभी कन्फ्यूशियस की हमारी आलोचना को बुरा-भला कहते हैं। वर्ग दृष्टिकोण से यह कोई अजीब बात नहीं है। समस्या यह है कि हमारी कतारों में कुछ कामरेड जिनमें पार्टी और गैर-पार्टी सदस्य शामिल हैं, अब भी महान सांस्कृतिक क्रान्ति को पूरी तरह नहीं समझते और उतनी गम्भीरता और कारगर ढंग से उसे लागू नहीं करते जैसे वे सात या आठ वर्ष पहले करते थे। कुछ तो सही और गलत का भी घालमेल कर देते हैं और चीजों को सर के बल खड़ा कर देते हैं या यहां तक कि महान सांस्कृतिक क्रान्ति को काली रात या विध्वंसकारी बाढ़ या भयानक दरिंदा बताते हैं। कुछ और हैं जो कहते हैं कि महान सांस्कृतिक क्रान्ति का नाम सुनकर उनके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पार्टी संविधान और दसवीं राष्ट्रीय कांग्रेस में अपनाये गये प्रस्ताव दोनों ही कहते हैं कि महान सांस्कृतिक क्रान्ति को कई बार और चलाया जायेगा लेकिन कुछ कहते हैं कि महान सांस्कृतिक क्रान्ति पूरी तरह अनावश्यक है और इसलिए इसे नहीं चलाया जाना चाहिए। खासकर वरिष्ठ और मध्यवर्ती कैडरों में क्रान्ति के बारे में अलग-अलग राय मौजूद है। उनमें से कुछ कहते हैं, ''महान सांस्कृतिक क्रान्ति ने पूरे देश में महान विजय हासिल की है, लेकिन यहां तो यह दिखाई नहीं देती!'' उनका आशय यह है कि चूंकि विजय यहां-वहां दिखाई नहीं पड़ रही है तो यह पूरे देश में कहीं भी देखी नहीं जा सकती। फिर यह जरूरी क्यों है? जैसा कि मैंने पहले कहा था महान सांस्कृतिक क्रान्ति ने दो बुर्जुआ हेडक्वार्टरों को पराजित किया जो सबसे बड़ी विजय थी। वे इसे क्यों नहीं देख सकते? अगर वे कहते हैं कि वे इसे नहीं देख सकते तो वे पार्टी और समूची जनता से बाहर कहीं खड़े हैं। अगर ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ सत्ता में आये होते तो पूंजीवाद वापस लौट आया होता। चीनी समाज एक अर्द्ध सामन्ती और अर्द्ध औपनिवेशिक समाज की स्थिति में लौट जाता या सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद का उपनिवेश बन गया होता। हजारों लोगों को अपनी जान गंवानी पड़ती। क्या उस समय आप यह कह सकते थे कि आप इसे देख नहीं सकते? जब हम कहते हैं कि महान सांस्कृतिक क्रान्ति पूरे देश के लिए जरूरी और समयानुकूल है, तो हमारा मतलब होता है कि ये एक फैक्ट्री, एक स्कूल या एक सैन्य इकाई के लिए भी आवश्यक और समयानुकूल है। अध्यक्ष माओ ने कहा है ''सबकुछ इस बात से तय होता है कि कार्यदिशा विचारधारात्मक और राजनीतिक रूप से सही है या नहीं।'' ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ की कार्यदिशा का अलग-अलग अंशों में हर इकाई पर प्रभाव है। ज्यादातर इलाकों में अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी कार्यदिशा प्रभावी है जबकि कुछ जगहों पर संशोधनवादी लाइन अभी भी जड़ जमाये है। उदाहरण के लिए दो महत्वपूर्ण विभाग, पुराना केन्द्रीय प्रचार विभाग और केन्द्रीय संगठन विभाग हमारे हाथ में नहीं थे। औद्योगिक मोर्चे पर भी संशोधनवादी कार्यदिशा का गहरा प्रभाव था, और सांस्कृतिक मोर्चा तो पिछले कई वर्षो तक बुर्जुआ अधिनायकत्व के तहत ही था। महान सांस्कृतिक क्रान्ति शुरू होने के बाद से स्थिति में बहुत सुधार हुआ है। विशेषज्ञों, नियंत्रण-प्रतिबंध-दबाव और विदेशी चीजों की गुलामी के दर्शन द्वारा कारखानों के प्रशासन को खत्म किये बिना मजदूर वर्ग कारखानों का स्वामी कैसे बन सकता था? संशोधनवादी कार्यदिशा के हस्तक्षेप के चलते ही हमारा इस्पात उद्योग दस वर्षो तक ठहरावग्रस्त रहा। कुछ उद्यम नाम के लिए हमारे हाथों में थे लेकिन वास्तव में उन पर बुर्जुआ वर्ग की कठपुतलियों का नियंत्रण था और कुछ तो पूंजीपतियों के ही हाथों में थे (शंघाई की कुछ फैक्टरियों में तो पूंजीपति उत्पादन मैनेजर बने हुए थे)। ऐसी क्रान्ति के बिना इन इकाइयों का क्या हुआ होता? और हम नेतृत्व सर्वहारा के हाथों में कैसे दे पाते? अध्यक्ष माओ ने दूरदृष्टि के साथ महान सांस्कृतिक क्रान्ति की शुरुआत की और इस समस्या को हल किया। लेकिन यह क्रान्ति ही काफी नहीं है। अभी भी कुछ प्रान्तों और म्युनिसपालटियों में समस्याएं हैं जिनकी कुंजी नेतृत्व का सवाल है। हम जनता को दोष नहीं दे सकते या यह नहीं कह सकते कि जनता किसी काम की नहीं है। न ही हम यह कह सकते हैं कि (समस्या खड़ी करने वाले) सभी लोग बुरे हैं क्योंकि उनमें से कुछ अच्छे लोग हैं जो केवल विचारधारात्मक रूप से संशोधनवादी और पूंजीवादी हैं और जो अपनी समस्याओं की पहचान किये जाने पर अपनी गलतियां ठीक कर लेंगे। चूंकि सांस्कृतिक क्रान्ति शुरू हुए सात या आठ वर्ष हो चुके हैं इसलिए कुछ स्थानों की समस्याओं को अब हल कर लिया जाना चाहिए। समस्याओं को हल करने के लिए हमें सबसे पहले कारणों का पता लगाना चाहिए ताकि हम सही रास्ता अपना सकें। कुछ लोग अविवेकी ढंग से चीजों को लेते हैं। कुछ इकाइयां सभी बुरी चीजों को महान सांस्कृतिक क्रान्ति के मत्थे मढ़ देती हैं या उन्हें महान

सांस्कृतिक क्रान्ति के दुष्प्रभावों के रूप में लेती हैं। यह गलत है। क्योंकि यह संशोधनवाद के दुष्प्रभाव हैं। ये समस्याएं सीधे-सीधे इंगित करती हैं कि महान सांस्कृतिक क्रान्ति पूरी तरह जरूरी थी। जहां कार्यदिशा गलत होगी वहां एकता नहीं रह सकती। कैडरों और जनता को बुरे लोगों को छांट कर अलग करना होगा। कुछ इलाकों में लिन प्याओ और कनफ्यूशियस की आलोचना नहीं की गयी। हाल में हमने शेचुआन प्रान्त की बारह फैक्टरियों की समस्या का सामना किया है। यह समस्याएं क्या हैं? उन्होंने लिन प्याओ की गहराई से आलोचना नहीं की जो बहुत महत्वपूर्ण बात है। हम मानते हैं कि यदि हम चीजों को महान सांस्कृतिक क्रान्ति की भावना के अनुसार देखेंगे तभी समस्याएं हल की जा सकेंगी। तातुङ टैंक फैक्टरी आठ वर्षों से समस्याग्रस्त थी लेकिन इस बार ये समस्याएं दो महीने में हल हो गयीं। इन समस्याओं का प्राथमिक कारण एक गलत कार्यदिशा थी। निश्चित ही हम इस बात से इंकार नहीं करते कि कुछ इकाइयों में बुरे लोग गड़बड़ियां पैदा करते हैं। बुरे लोगों को छांटकर अलग करने के लिए जनता को गोलबन्द करना जरूरी है। इन समस्याओं को महान सांस्कृतिक क्रान्ति का दुष्प्रभाव बताना वास्तव में क्रान्ति के पहले की स्थिति बहाल करना है जिससे और अधिक गड़बड़ी पैदा होगी। क्यासी प्रान्त में एक कैडर कान्फ्रेन्स में कुछ लोग यह क्रान्तिविरोधी अफवाह फैला रहे थे : ''मंदिर की सफाई करो, असली देवता का आवाहन करो, पुराने सेनानायकों को अपने पदों पर वापस आना चाहिए, छोटे सिपाहियों को अपनी बैरकों में लौट जाना चाहिए।'' ये लोग सभी छोटे सिपाहियों को दबाना चाहते हैं। हाल में मिले एक टेलीग्राम से मैंने जाना कि छोटे सिपाहियों के एक समूह ने दो घण्टे तक बगावत की जिससे भारी हंगामा मचा। वे दबाव के आगे झुके नहीं और उन्हें विश्वास था कि वे जो कर रहे हैं वे सही है। मैंने क्याङसी के कुछ कामरेडों को बताया है कि वे (अफवाह फैलाने वाले) जो कर रहे थे उसका मतलब महान सांस्कृतिक क्रान्ति के फैसले को पलटना था। मैंने दसवीं कांग्रेस के पहले उन्हें बताया कि इसका कोई फायदा नहीं होगा और मैंने उन्हें दसवीं कांग्रेस में भी उन्हें बताया कि इसका कोई फायदा नहीं होगा। लेकिन इसकी चिन्ता नहीं करें क्योंकि केन्द्रीय कमेटी इन चीजों को अच्छी तरह जानती है।

कुछ और लोगों ने कहा कि महान सांस्कृतिक क्रान्ति अच्छी है लेकिन हमें इसे इस ढंग से नहीं करना चाहिए था। दूसरे शब्दों में हमें ''महान प्रस्फुटन, महान संघर्ष, बड़े चित्राक्षरों वाले पोस्टरों और महान बहस'' का रास्ता नहीं अपनाना चाहिए था। वे इस बात से सहमत नहीं हैं कि करोड़ों क्रान्तिकारी जनता और एकजुट सर्वहारा पार्टी में ऊंचे पदों पर बैठे उन लोगों से सत्ता छीन ले जो पूंजीवादी राह अपना रहे हैं। वे और कुछ नहीं बल्कि इसी का विरोध कर रहे हैं। क्योंकि अगर इसका निषेध कर दिया जायेगा तो महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का निषेध हो जायेगा। 1967 में अपने एक व्याख्यान में अध्यक्ष माओ ने कहा था : ''अतीत में हम समाजवादी शिक्षा अभियान चलाते हुए देहात, कारखानों और सांस्कृतिक दायरों में संघर्षों में लगे रहे। लेकिन हम समस्याओं को हल करने में सफल नहीं रहे। इसका कारण अंधेरे पक्ष का पर्दाफाश करने के लिए ऊपर से नीचे तक, खुले और सर्वतोमुखी ढंग से जनता को गोलबंद करने का एक सूत्र या तरीका ढूंढ़ पाने में हमारी असफलता थी। अब हमने समाधान पा लिया है। यह है : महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति।'' ईमान से, महान सांस्कृतिक क्रान्ति के बिना हम गहराई में छुपे हुए गद्दार ल्यू शाओ-ची को कैसे बाहर निकाल पाते। अतीत में हम ल्यू शाओ-ची की विश्वासघाती विशेषताओं को पूरी तरह समझ नहीं सके। खास कर उसके इतिहास से जुड़ी विशेषताओं को। महान सांस्कृतिक क्रान्ति में ही रेड गार्ड्स ने पूरी जांच करके उनका पता लगाया। (जाहिर है हम उसके द्वारा प्रकाशित तमाम संशोधनवादी सामग्री को तो समझ ही गये थे)। इसके अलावा महान सांस्कृतिक क्रान्ति के सूत्र के बिना क्रान्तिकारी कमेटियां, 7 मई कैडर स्कूल और शिक्षित युवाओं को देहातों में भेजने जैसी नई चीजें हमें कैसे मिलतीं। यह असम्भव था। न ही औद्योगिक और कृषि उत्पादन का इतना तीव्र विकास सम्भव होता। महान सांस्कृतिक क्रान्ति के बिना, इतने बड़े पैमाने के जनान्दोलन के बिना मार्क्सवाद-लेनिनवाद और माओ विचारधारा को लोकप्रिय नहीं बनाया जा सकता था। महान सांस्कृतिक क्रान्ति भी विकास की एक आदर्श प्रक्रिया से होकर गुजरी है। अध्यक्ष माओ के शब्दों में, ''ऐतिहासिक अनुभव पर ध्यान दिया जाना चाहिए। किसी कार्यदिशा और दृष्टिकोण को नियमित रूप से और बार-बार पूरे जनसाधारण को समझाया जाना चाहिए, सिर्फ कुछ ही लोगों को नहीं।'' अभी अध्यक्ष माओ और केन्द्रीय कमेटी के निर्देश कुछ जगहों या कुछ व्यक्तियों तक अटके हुए हैं जो उन्हें जनता तक सम्प्रेषित नहीं करते या उन्हें इस तरह सम्प्रेषित करते हैं कि यह पता ही नहीं चलता कि कौन से निर्देश अध्यक्ष माओ के हैं, कौन से केन्द्रीय कमेटी के और कौन से खुद उनके निर्देश हैं।

कुछ लोग महान सांस्कृतिक क्रान्ति की ''प्रशंसा'' यह कह कर करते हैं कि क्रान्ति में जनसाधारण आज्ञाकारी नहीं थे, आवेग में आकर बड़े चित्राक्षरों वाले पोस्टर लिखते थे और बैठकों में बढ़-चढ़कर बोलते थे। इसमें गलत क्या है? बल्कि यह तो महान सांस्कृतिक क्रान्ति की उपलब्धियों में से एक है। अध्यक्ष माओ ने कई बार कहा है, ''पार्टी के भीतर हमारे काम को जीवन्त, सक्रिय और ओजपूर्ण बनाया जाना चाहिए, उत्साहहीन और निस्तेज नहीं।'' अध्यक्ष माओ ने एक बार वाङ हाई-यु से कहा था कि ''विद्यार्थियों को कक्षाओं में सोने और उपन्यास पढ़ने की छूट होनी चाहिए।'' कुछ लोग इसका मतलब नहीं समझ पाते। मैं इसे इस रूप में समझता हूं कि हमें विद्यार्थियों को उत्साहहीन नहीं बना देना चाहिए और यह कि विद्यार्थियों का संशोधनवाद के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए आह्वान किया जाना चाहिए।

यही समस्या सेना की इकाइयों में भी है। सिपाहियों को बिना शर्त और आंख मूंदकर आदेशों का पालन करने के लिए कहा जाता है। लोगों को यह बात जाननी चाहिए कि उन्हें आपके आदेशों का पालन बिना शर्त नहीं बल्कि सशर्त करना है। उन्हें उन्हीं आदेशों का पालन करना चाहिए जो मार्क्सवाद-लेनिनवाद और माओ त्से-तुङ विचारधारा के अनुकूल हों और जो कुछ इसके अनुकूल नहीं हो उसके विरुद्ध विद्रोह करना चाहिए। कम्युनिस्ट पार्टी के हम सभी सदस्य अपने से ऊपर के स्तर के निर्देशों को अपनी चेतना के आधार पर लागू करते हैं। हमें इन आदेशों से प्रतिबिम्बित होने वाली कार्यदिशा के सही होने के बारे में निर्णय करना चाहिए। हम सिर्फ सही कार्यदिशा और सही आदेशों को ही लागू करते हैं, अगर वे सही नहीं हैं तो वे लागू नहीं किये जायेंगे। कुछ लोग इस शैली के आदी नहीं हैं और वे शिकायत करते हैं कि सेना या पार्टी के कैडरों से काम लेना मुश्किल होता है और वे हर बात पर अपनी राय देने के शौकीन होते हैं। यह स्वाभाविक है। हाल में सेना की कुछ इकाइयों में हुई राजनीतिक दुर्घटनाओं का कारण प्रशासन का रूखा और निर्मम तरीका और बारीकी से राजनीतिक-विचारधारात्मक काम करने में असफलता थी जिसके परिणामस्वरूप समस्याएं इकट्ठा होती गयीं और

अन्तरविरोध गम्भीर होते चले गये। यहां भी मुख्य प्रश्न कार्यदिशा का है यानी जनता के साथ कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए। अब स्थिति विकसित होकर एक भिन्न स्तर पर पहुंच गयी है। हमें विचारधारात्मक कार्य करने के बारे में अध्ययन करना चाहिए। अगर पुरानी शैली पूरी तरह बदली नहीं गयी तो वह किसी काम की नहीं रहेगी।

यह स्थिति हमारे लिए अच्छी चीज है लेकिन कुछ अन्य लोगों को यह सुहाती नहीं है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारे देश में, जहां समाजवाद कायम है, मजदूर, किसान और सैनिक असली स्वामी है। दसवीं कांग्रेस की रिपोर्टों में कहा गया है कि हममें धारा के विरुद्ध तैरने की क्रान्तिकारी भावना होनी चााहिए। हाल में अखबारों में दो कमउम्र विद्यार्थियों के बारे में खबरें छपी थीं जिनमें एक का नाम हुआ शुआई है और दूसरा क्वाङतुङ प्रान्त का है। उन्होंने *पीपुल्स डेली* को एक खत लिखकर अपने लिए समर्थन मांगा। उनका पत्र संस्कृति के एक उच्च स्तर का पता देता है और भावनाओं से भरा है। इसे पढ़ने के बाद हमने महसूस किया कि उनका समर्थन किया जाना चाहिए।

अध्यक्ष माओ ने हाल में सवाल किया था, ''भैंस के दो सींग क्यों होते हैं? उसे संघर्ष के लिए इनकी जरूरत पड़ती है।'' यह बात सबसे पहले 1955 में कही गयी थीं। उन्होंने हमें यह सलाह भी दी, ''जब हम सभी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य हैं तो हम बोलने में क्यों हिचकते हैं?'' हमें शेखी कम बघारनी चाहिए और आलोचना अधिक करनी चाहिए। हमें मजदूरों, किसानों और सैनिकों की व्यापक आबादी पर भरोसा करना चाहिए जिनके सिरों पर सींग हैं और जिनमें संशोधनवादी कार्यदिशा के खिलाफ विद्रोह करने का साहस है। कुछ इकाइयां ''चार महान चीजों'' (महान प्रस्फुटन, महान संघर्ष, महान बड़े चित्राक्षरों वाला पोस्टर और महान बहस) से भयभीत हैं जिनकी दसवीं कांग्रेस में हिमायत की गयी थी। वे इन ''चार महान चीजों'' से इतनी डरी हुई हैं कि उन्होंने अब तक जनता को अध्ययन के लिए संगठित करने की हिम्मत नहीं जुटायी है। हमें जनसाधारण द्वारा ''चार महान चीजों'' पर अमल करने और ज्वार के विरुद्ध जाने की हिमायत करनी चाहिए। हम उनसे डरते क्यों हैं? सिर्फ संशोधनवाद लागू करने वाले लोग ही ''चार महान चीजों'' से डरेंगे। मार्क्सवाद-लेनिनवाद लागू करने वालों को क्रान्तिकारी जनसाधारण की क्रान्तिकारी विद्रोही भावना का समर्थन करना चाहिए। अध्यक्ष माओ हमें शिक्षा देते हैं : ''हम साम्राज्यवाद तक से नहीं डरते, तो हम जनता से क्यों डरें? जो लोग जनता से डरते हैं या उसे नासमझ समझते हैं जिसे सिर्फ दबाया जा सकता है, राजी नहीं किया जा सकता, वे लोग कम्युनिस्ट पार्टी के सच्चे सदस्य या सच्चे कम्युनिस्ट नहीं हैं।'' कुछ लोग अध्यक्ष माओ की इस शिक्षा को स्वीकार नहीं करते। वे दमन करना पसन्द करते हैं और अगर दमन काम नहीं करे तो गिरफ्तारी से काम लेते हैं।

किसी ने कहा है, ''पुराने अनुभवी कैडर अतीत में उत्तर और दक्षिण की लड़ाइयों में जमकर लड़े लेकिन महान सांस्कृतिक क्रान्ति में उन्होंने यदा-कदा ही संघर्ष किया है।'' यह कथन सही नहीं है और न ही यह पुराने कैडरों की इच्छा से मेल खाता है। यह कहा जाना चाहिए कि पुराने कैडर हमारी पार्टी की अनमोल सम्पदा हैं। अतीत में उत्तर और दक्षिण की लड़ाइयों में उनमें से कई बुरी तरह घायल भी हुए थे। लेकिन वे यह नहीं महसूस करते कि वे खुद को जनता से काट सकते हैं या नौकरशाहों की तरह रोब गांठ सकते हैं। इसके बजाय उन्होंने महान सांस्कृतिक क्रान्ति में सक्रियता से हिस्सा लिया और जब भी उन्हें अपनी गलतियों या कमियों का पता चला तो आत्मालोचना भी की। इसलिए उन्होंने महान सांस्कृतिक क्रान्ति में अनेक उपलब्धियां हासिल कीं। ऐसे अनुभवी कैडर एक या दो नहीं बल्कि उनकी भारी तादाद है। वे वास्तव में पुरानी पीढ़ी के सर्वहारा क्रान्तिकारियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जहां तक यह प्रश्न है कि महान सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान कुछ (अनुभवी) कैडरों को ज्यादा हमलों का सामना करना पड़ा तो इसका विस्तार से विश्लेषण करने की जरूरत है। तीन बड़े इलाकों के अपने निरीक्षण में अध्यक्ष माओ ने कहा है : ''जनसाधारण ने कुछ कैडरों की आलोचना क्यों की और उनके विरुद्ध संघर्ष क्यों किया? एक कारण यह है कि उन्होंने प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ कार्यदिशा लागू की जिसने लोगों को भड़का दिया। दूसरा कारण यह है कि ज्यादा तनख्वाहों वाले उच्चपदस्थ अधिकारी बन जाने पर उन्हें अपने महत्व का घमण्ड हो गया था। नतीजा यह हुआ कि उनमें अफसरों वाला रोब आ गया, वे जनता के साथ सलाह-मशविरा नहीं करते थे, औरों के साथ असमानतापूर्ण बर्ताव करते थे, जनवाद का उल्लंघन करते थे, दूसरों को बात-बात पर दोषी ठहराते या कोसते थे और जनता से कट गये थे। उनकी इन्हीं हरकतों की वजह से जनता ने उनकी आलोचना की जिसे शान्तिकाल में यह अवसर (कैडरों का जवाब देने का) नहीं मिला था। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति शुरू होने के बाद कैडर मुश्किल में पड़ गये।'' अध्यक्ष माओ ने जिन व्यक्तियों की चर्चा की है क्या उनकी आलोचना नहीं की जानी चाहिए? आप दूसरों को दोष दे सकते हैं, तो जनता आपकी आलोचना क्यों नहीं कर सकती? अध्यक्ष माओ के इस निर्देश से सभी लोग परिचित हैं लेकिन कुछ लोग इसे भूल गये हैं। ऊपर मुश्किल में पड़ गये जिन अनुभवी कैडरों की चर्चा की गयी है उन्हें भी दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है : एक वे हैं जिन्होंने सक्रिय रूप से अनुभवों और सबकों को स्वीकार किया और ऐसे अनुभवी कैडर बन गये हैं जिन पर जनता वाकई भरोसा करती है। ऐसे बहुत से अच्छे कैडर हैं। उदाहरण के लिए शंघाई के कामरेड मातियेन-श्यू जो महान सांस्कृतिक क्रान्ति के बाद एक नये चेहरे के साथ सामने आये। वह जनता के बीच गहरे धंस कर काम करते हैं और उन्होंने अपनी कार्यदिशा दुरुस्त कर ली है। दूसरी श्रेणी में वे लोग हैं जो निष्क्रिय पक्ष से अनुभवों और सबकों का समाहार करते हैं क्यों कि वे सतही और दुविधाग्रस्त हैं। दरअसल उन्होंने एक भिन्न रूप में खुद को जनता से काट दिया है।

कुछ और भी लोग हैं जो दो बुर्जुआ हेडक्वार्टरों को उखाड़ फेंकने में महान सांस्कृतिक क्रान्ति की सफलता को पूरा महत्व नहीं देते जबकि इस घटना का हमारे देश का रंग बदल देने से सम्बन्ध है।

हालांकि उन्हें जनता के हमलों का सामना करना पड़ रहा है लेकिन मुक्त होते ही और सत्ता की स्थिति में पहुंचते ही वे जनता को विसर्जित करने का हर मौका तलाशने लगते हैं। क्यासी के कैडर ऐसा ही कर रहे हैं। नतीजा यह होगा कि उलटे उन्हीं का विसर्जन हो सकता है। तीन *ची* (यानी तीन अवांछित रवैये : दुर्भावना, हताशा और मनमुटाव) को अगर दूर नहीं किया गया तो उस व्यक्ति का पतन होना तय है। और अगर उसने इस समस्या को हल नहीं किया तो उसे फिर जनता द्वारा हटा दिया जायेगा भले ही एक बार वह मुक्त हो चुका है।

किसी ने कहा है : ''महान सांस्कृतिक क्रान्ति में हमारे विरुद्ध जिन लोगों ने संघर्ष किया उनसे हिसाब चुकता करना होगा। ऐसे लोगों के विरुद्ध हिसाब चुकता करने में सूद-ब्याज नहीं लेना ही अपने आप में उदारता मानी जायेगी। अपनी भड़ास निकालने में क्या गलत है?'' हमें ऐसे कामरेड को चिल्ला कर चेतावनी देनी चाहिए : यह बहुत

खतरनाक है। आपका जनता पर भला क्या कर्ज है? अध्यक्ष माओ ने हमें बताया है : ''हमें अधिकार किसने दिया है? मजदूर वर्ग और गरीब और निम्न मध्यम किसानों या आबादी के नब्बे प्रतिशत से ज्यादा मेहनतकश जनसाधारण ने। अगर हम सर्वहारा और आम अवाम के पक्ष में खड़े होंगे और जनता के दुश्मन को उखाड़ फेंकेगे तो लोग हमारा समर्थन करेंगे। ... कम्युनिस्ट पार्टी का सबसे बुनियादी उसूल व्यापक क्रान्तिकारी जनता पर भरोसा करना है।'' अगर आप जनता के साथ हिसाब चुकता करेंगे तो उन्हें भी आपसे सत्ता वापस ले लेने का अधिकार है।

कुछ और लोग यह अटकल लगाते हैं कि लिन प्याओ की संशोधनवादी कार्यदिशा सार रूप में ''अतिवामपंथी'' थी। दरअसल उसकी संशोधनवादी कार्यदिशा सार रूप में ''अतिवामपंथी'' नहीं बल्कि ''अतिदक्षिणपंथी'' थी। यह उतनी दक्षिणपंथी थी जितनी हो सकती थी। हाल ही में किसी विश्वविद्यालय के एक व्यक्ति ने कहा, ''जबतक अतिवाम की आलोचना नहीं की जाती, सही और गलत का घालमेल रहेगा।'' इसके समर्थन में उन्होंने जो सबसे बड़ा प्रमाण दिया वह यह है कि अब तक किसी ने भी (सांस्कृतिक क्रान्ति के पहले के) सत्रह वर्षों के गुण-दोष का आकलन नहीं किया। यह बात गलत है। आकलन किया गया है। इसका आकलन महान सांस्कृतिक क्रान्ति में अनेक बड़े चित्राक्षरों वाले पोस्टरों में और केन्द्रीय कमेटी द्वारा बुलाये गये 'जनता के बीच भेजे गये युवाओं के शैक्षिक कार्य सम्मेलन' के समाहार में किया जा चुका है। यह निष्कर्ष बताता है कि सत्रह वर्षों तक शिक्षा के मोर्चे पर बुनियादी रूप से अध्यक्ष माओ की कार्यदिशा नहीं लागू हुई बल्कि यह संशोधनवादियों के अधिनायकत्व द्वारा संचालित होता रहा। कामरेड च्याङ चिङ को लिखे अपने पत्र में अध्यक्ष माओ ने बताया है ''पीकिङ विश्वविद्यालय और त्सि हुआ विश्वविद्यालय गड़बड़ी की गांठें हैं जिनकी जड़ें गहरी जमी हुई हैं।'' अब किसी ने कहा है कि ''समाहार'' सही नहीं है या अतिवाम द्वारा तैयार किया गया है और यह टिप्पणी चारों ओर फैला दी गयी है। कुछ लोग अतिवाम और लिन प्याओ की आलोचना फर्जी तौर पर करते हैं जबकि उनका असली निशाना महान सांस्कृतिक क्रान्ति होता है। हमारा निष्कर्ष है : ''जब तक अति दक्षिण की आलोचना नहीं की जायेगी, सही और गलत का घालमेल रहेगा।'' मौजूदा अवस्था में महान सांस्कृतिक क्रान्ति के परिणामों को सुदृढ़ करने के लिये लिन प्याओ की संशोधनवादी कार्यदिशा की अति दक्षिण सारवस्तु की आलोचना करना जरूरी है। ऐसा किये बिना महान सांस्कृतिक क्रान्ति के परिणामों को सुदृढ़ और विकसित करना असम्भव होगा। पिछले वर्ष एक इकाई ने एक लेख लिखा था जिसमें उस इकाई के सभी युवाओं को अति दक्षिणपंथी बताते हुए उन्हें पूरी तरह गलत और बुरा बताया गया है। अगर ऐसा मामला है तो चीनी क्रान्ति के लिए क्या आशा रह जाती है? हम अपने उत्तराधिकारी के रूप में किन पर भरोसा कर सकते हैं? प्रान्तीय युवा लीग की कांग्रेसें बुलाये जाने के अनुरोध पर केन्द्रीय कमेटी ने निर्देश दिया : ज्यादातर युवा अच्छे हैं अन्यथा हमारी क्रान्ति का कोई भविष्य नहीं होगा या अन्धकारमय भविष्य होगा। ध्यान देने की बात है कि कुछ इलाकों में क्रान्ति विरोधी अफवाहें फैलायी जा रही हैं, जैसे ''मंदिर की सफाई करो, असली देवताओं का आवाहन करो, पुराने सेनानायकों को अपने पदों पर वापस आना चाहिए, छोटे सिपाहियों को अपनी बैरकों में लौट जाना चाहिए।'' इसमें आखिरी दो वाक्य ''पुराने सेनानायकों को अपने पदों पर वापस आना चाहिए, छोटे सिपाहियों को अपनी बैरकों में लौट जाना चाहिए'' सबसे ज्यादा खतरनाक है। इसका मतलब है कि ल्यू शाओ-ची सहित तमाम पूंजीवादी पथगामी, गद्दार और दुश्मन के एजेण्ट अपने पदों पर लौट आयेंगे और महान सांस्कृतिक क्रान्ति में पैदा हुई तमाम नई चीजें खत्म कर दी जायेंगी। यह पुराने की पुनर्स्थापना, प्रत्याक्रमण या विसर्जन का खांटी उदाहरण है। यह अफवाह सबसे पहले एक सैनिक इकाई में दो उच्च पदस्थ कैडरों ने शुरू की थी। ऐसी चीजों का प्रसार बहुत नुकसानदेह होता है। इसका एक और उदाहरण यह है कि क्यासी प्रान्त के कैडरों ने ल्यू शाओ-ची की क्रान्ति विरोधी अफवाहों को अध्यक्ष माओ के निर्देश मान लिया और उन्हें कैडर सम्मेलनों के जरिये लाखों लोगों तक पहुंचा दिया। हालांकि इसमें कोई हैरान करने वाली बात नहीं है। हमारे कुछ कैडरों के दिमाग में अफवाहों का बाजार गर्म रहता है। उन्हें अफवाह का माल मिलते ही वे फौरन इसकी फेरी लगाना शुरू कर देते हैं। वर्ग दृष्टिकोण से यह कोई अजीब बात नहीं है।

कुछ लोग बुरे नहीं हैं लेकिन वे अपना विचारधारात्मक शस्त्र खो चुके हैं और सुगन्धित फूलों और जहरीले खर पतवार के बीच फर्क करने की क्षमता उनमें नहीं रह गयी है। अध्यक्ष माओ ने इस क्रान्ति विरोधी अफवाह की तीखी आलोचना की और इसे इस तरह बदल दिया : ''मंदिर की सफाई करोऋ वास्तविक देवता का आवाहन करोऋ पुराने सेनानायक मोर्चे पर वापस जायेंऋ छोटे सिपाही पदोन्नत किये जाते हैं।'' अध्यक्ष माओ के निर्देश कैडरों के प्रश्न पर क्रान्तिकारी कार्यदिशा को प्रतिबिम्बित करते हैं। यह महत्वपूर्ण है कि हम पुरानी पीढ़ी के सर्वहारा क्रान्तिकारियों की प्रभावकारिता का पूरा इस्तेमाल करें और साथ ही साथ सर्वहारा उद्यमों के एक-दो नहीं बल्कि हजारों उत्तराधिकारियों को प्रशिक्षित करने के लिए पुरजोर प्रयास करें। अनुभवी कैडरों की प्रतिभा का इस्तेमाल नहीं करना गलत होगा और यह भी उतना ही गलत होगा कि उनके ओहदे वास्तविक वर्ग संघर्ष में उनके प्रदर्शन के बजाय अनुभव और उम्र के आधर पर तय किये जायें। अतीत में उत्तर और दक्षिण की लड़ाइयों में उनकी क्षमता महत्वपूर्ण है लेकिन हमें वास्तविक वर्ग संघर्ष ने उनकी चेतना और प्रदर्शन को भी देखना चाहिए। अगर उनकी सोच संशोधनवादी है तो क्या वे सर्वहारा के लिए लड़ सकेंगे? हम मानते हैं कि खासकर इस महत्वपूर्ण मोड़बिन्दु पर कैडरों का आकलन वर्तमान तथ्यों पर ध्यान दिये बिना सिर्फ इतिहास पर आधरित नहीं होना चाहिए। और प्राथमिक तौर पर जोर कार्यदिशा के सम्बन्ध में उनकी चेतना पर दिया जाना चाहिए। यह बात सभी कैडरों पर लागू होनी चाहिए चाहे वे स्थानीय हों या सेना के, पुराने हों या नये।

पुराने और नये कैडरों द्वारा की गयी गलतियों के लिए ''देखो और मदद करो'' का तरीका अपनाया जाना चाहिए और कैडरों को अपनी गलतियां ठीक करने का मौका दिया जाना चाहिए। लेकिन कुछ जगहों पर गलतियां करने वाले अनुभवी कैडरों को तो ''देखो और मदद करो'' की नीति के जरिये अपनी गलतियां ठीक करने का मौका दिया जाता है जबकि युवा कैडरों को एक बार गलती करते ही राजनीतिक मृत्युदण्ड दे दिया जाता है। जब अनुभवी कैडरों को शिक्षित किया जा सकता है तो युवा कैडरों को क्यों नहीं? यह न्यायपूर्ण नहीं है! यह पार्टी की एकता के लिए नुकसानदेह है! अध्यक्ष माओ ने बाल सेना को नीचा दिखाने के लिए कई लोगों की आलोचना की है। क्योंकि वे कहते थे, ''तुम किशोर और बीस-बीस साल के छोकरे इतने होशियार कैसे हो सकते हो?'' युवा कैडरों को विनम्र और विवेकपूर्ण होना चाहिए और उन्हें दम्भ और उद्दण्डता से बचना चाहिए और उन्हें

अनुभवी कैडरों का सम्मान करना तथा उनसे सीखना चाहिए। इसी के साथ अनुभवी कैडरों को युवा कैडरों को सिखाना, उनकी मदद करना और उनका नेतृत्व करना चाहिए। युवा कैडरों के साथ व्यवहार में उन्हें शिक्षित करने, मदद करने और नेतृत्व करने का प्रश्न उनके ध्यान में रहना चाहिए।

सर्वहारा क्रान्तिकारी उद्यमों के लाखों-लाख उत्तराधिकारी तैयार करने का काम एक बहुत बड़ा राजनीतिक कदम और सौ वर्षों तक चलने वाली लम्बी योजना है। हमें इस महान कार्य को समझना चाहिए और विभिन्न स्तरों पर उत्तराधिकारियों को प्रशिक्षित करना चाहिए। उत्तराधिकारियों को प्रशिक्षित करने के काम में स्थानीय क्षेत्रों में कुछ बाधायें आयी हैं लेकिन सेना में ज्यादा मुश्किलें हैं। मैं इस बात की हमेशा हिमायत करता रहा हूं कि हमें बड़े सैनिक क्षेत्रों के कमाण्डर बनने के लिए तीस से चालीस वर्ष की उम्र वाले बहुत से लोगों को सामने लाना चाहिए।

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति अच्छी है या बुरी। यह प्रश्न क्रान्ति की पूरी प्रक्रिया के दौरान विवाद का मुद्दा रहा है। पे चेन की फरवरी रूपरेखा और ल्यू शाओ-ची की बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी कार्यदिशा, इन सभी का मकसद महान सांस्कृतिक क्रान्ति का गला घोंटना था। लिन प्याओ ने भी जो संशोधनवादी कार्यदिशायें पेश कीं वे अपनी सारवस्तु में ल्यू शाओ-ची की कार्यदिशाओं जैसी ही थीं। नवीं कांग्रेस के पहले उसने चेन पो-ता के साथ मिलकर उत्पादकता को पहले रखने के सिद्धान्त पर आधरित राजनीतिक रिपोर्ट तैयार की जिसमें कहा गया कि नवीं कांग्रेस के बाद का प्राथमिक कार्यभार उत्पादन को विकसित करना होना चाहिए। यह एक कानूनी रास्ते से महान सांस्कृतिक क्रान्ति पर हमला करने और उसे विसर्जित करने की कोशिश थी। अध्यक्ष माओ ने इस राजनीतिक रिपोर्ट का निषेध किया और नवीं कांग्रेस के लिए खुद एक कार्यदिशा सूत्रबद्ध की जो सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत सतत क्रान्ति पर बल देती थी। नवीं कांग्रेस के बाद अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी दिशा के निर्देशन में लिन प्याओ पार्टी विरोधी गुट को ध्वस्त करके एक बड़ी उपलब्धि हासिल की गयी और संघर्ष-आलोचना-रूपान्तरण अभियान को और गहराई से विकसित किया गया। हालांकि महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति बहुत अच्छी है या बहुत बुरी, इस पर अब भी विवाद है। दूसरे प्लेनरी सत्र के बाद यहां-वहां बीच-बीच में दक्षिणपंथी उभार होता रहा है। इस उभार से जुड़े हुए लोगों में उदाहरण के लिए सिनक्याङ के लु शू-चिन, शेचुआन के लिआङ (लिआङ सिन-चू) और चेन (चेन जेन-चि) तथा होनान के कैडर शामिल थे। उन्होंने लिन प्याओ की आलोचना करने के संघर्ष की आम दिशा को बदलने की कोशिश की ताकि महान सांस्कृतिक क्रान्ति पर हमला कर उसे विसर्जित किया जा सके। वे जो कर रहे थे वह दरअसल दो वर्गों और दो कार्यदिशाओं के बीच संघर्ष था यानी संघर्ष की निरन्तरता थी। यह संघर्ष भविष्य में फिर सामने आयेगा। अध्यक्ष माओ ने हाल में कहा है, ''महान सांस्कृतिक क्रान्ति के प्रश्न पर हमें और दस वर्षों तक इंतजार करना और देखना होगा।'' इसका उद्देश्य हमें यह ध्यान दिलाना था कि हमें दीर्घकालिक संघर्षों के लिए विचारधरात्मक रूप से तैयार रहना चाहिए। कामरेडो, आपने हाल में लिन प्याओ और कनफ्यूशियस की आलोचना पर लेख पढ़े होंगे और यह जाना होगा कि एक शोषणकारी व्यवस्था को हटा कर दूसरी शोषणकारी व्यवस्था को लाने के लिए चिन शिह हुआङ को दो हजार वर्षों तक गालियां दी जाती रहीं। क्या हमारी महान सांस्कृतिक क्रान्ति को भी कोसा जायेगा? निश्चित रूप से कुछ लोग इसे भला-बुरा कहेंगे और दस वर्ष बाद भी या कई दशक बाद भी कुछ लोग होंगे जो इसे कोसेंगे और ल्यू शाओ-ची तथा लिन प्याओ के बारे में फैसले को पलटने के लिए सामने आयेंगे। कनफ्यूशिस कई हजार साल पहले मर गया फिर भी कुछ लोग अब भी उसकी पूजा करते हैं। लेकिन चिन शिह हुआङ जो उस समय क्रान्तिकारी था, उसे दो हजार वर्ष तक कोसा जाता रहा।

महान सांस्कृतिक क्रान्ति का विरोध करना नवीं और दसवीं कांग्रेसों का विरोध करना है। लेकिन यह कोई मामूली प्रश्न नहीं है। यह पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने और संशोधनवाद पर अमल करने की एक कोशिश है। मेरा यह कहना है : जो लोग महान सांस्कृतिक क्रान्ति का विरोध करते हैं उन्हें पूंजीवादी तानाशाही की हिमायत करनी चाहिए। कामरेडो, हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि अब पूंजीवादी पथगामी नहीं रह गये हैं या अब पूंजीवादी पथगामियों का जिक्र करने की कोई जरूरत नहीं है। कुछ इलाकों में राज्य और पार्टी के संविधन में बदलाव पर चर्चा करते हुए यह कहा गया कि अब ''पूंजीवादी पथगामी'' शब्द शामिल करने की कोई जरूरत नहीं है। कैसी अजीब बात है! जब तक वर्ग संघर्ष मौजूद रहेगा बुर्जुआ वर्ग हमारी पार्टी में अपनी कठपुतलियां बैठाता रहेगा और पूंजीवादी पथगामी मौजूद रहेंगे। अगर पूंजीवादी पथगामी नहीं होते तो अतीत के सभी अभियानों का निषेध हो गया होता। तीन बुरी चीजों विरोधाी और पांच बुरी चीजों विरोधी अभियान, 1957 के दक्षिणपंथ विरोधी अभियान और चार सफाई अभियान इन सभी का निषेध हो गया होता। इन्हें पार्टी संविधान में लिखने का कारण था यह सभी मामूली नहीं बल्कि बड़ी घटनाएं थीं। कुछ व्यक्तियों ने पूंजीवादी राह अपनाने की गलती की लेकिन उन्होंने हमारी मदद से अपनी गलती सुधार ली, यह अच्छी बात है। हालांकि हम यह नहीं कह सकते कि इसके बाद पूंजीवादी पथगामियों का अस्तित्व अब नहीं रह गया है। न केवल अतीत में पूंजीवादी पथगामी थे बल्कि भविष्य में भी यह मौजूद रहेंगे। कुछ लोग अब भी जनता पर बुर्जुआ अधिनायकत्व लागू करते हैं या यह कहते हैं कि विद्रोहियों में कोई अच्छे लोग नहीं हैं। उनकी बात कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों जैसी नहीं है। ''मार्क्सवाद के हजारों उसूलों का सार एक वाक्य में कहा जा सकता है : विद्रोह करना न्यायसंगत है।'' हमारे प्रथम शिक्षक मार्क्स ने हमें विद्रोह करने में नेतृत्व दिया। कुछ लोग विद्रोह में उठ खड़े होने के लिए हमें बुरा भला कहते हैं। विद्रोह में क्या गलत है? साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और नौकरशाहाना पूंजीवाद के विरुद्ध अध्यक्ष माओ के नेतृत्व में किये गये विद्रोह के जरिये ही चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने क्रान्ति में जीत हासिल की और राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने में सफलता पायी। महान सांस्कृतिक क्रान्ति में हमने बुर्जुआ और सभी शोषक वर्गों के विरुद्ध विद्रोह किया और सर्वहारा अधिनायकत्व को सुदृढ़ किया। इसमें क्या गलत है। कुछ लोग अतीत में विद्रोही थे लेकिन अब वे विद्रोहियों को गालियां देते हैं। इससे पता चलता है कि इनकी सोच बदल गयी है और वे अतीत को भुला बैठे हैं। क्या यह विद्रोह नहीं था जब हमने अतीत में स्थानीय कुलीन वर्गों को खत्म कर जागीरदारों की जमीन बांटी थी? और क्या जब हम च्याङ काई-शेक के खिलाफ लड़े थे तो वह विद्रोह नहीं था? कुछ लोग इसे भूल चुके हैं। निश्चित रूप से महान सांस्कृतिक क्रान्ति में तालाब को गंदा करने वाली कुछ मछलियां भी आ गयीं। इसमें कुछ अजीब नहीं है कि विद्रोहियों के बीच कुछ बुरे लोग घुस आये हैं। जब हमने पहले पहल लाल सेना का गठन किया तो क्या हमारी सेना बिल्कुल शुद्ध थी? असम्भव! इस चीज

से तो बचा नहीं जा सकता। लेकिन हम यह कैसे कह सकते हैं कि विद्रोहियों में कोई अच्छे लोग नहीं हैं? जो ऐसा कहता है वह खुद अपना ही निषेध कर रहा है। वह यह भूल गया है कि हमें विद्रोह करने में किसने नेतृत्व दिया और वह विद्रोहियों के बूढ़े गुरू को भी भूल गया है।

अगर एक कम्युनिस्ट पूंजीवादी पथगामियों के विद्रोह नहीं करेगा तो भला वह क्या करेगा? इस तरह के बयान देने वाले कम्युनिस्ट की मंशा कम्युनिज्म से विश्वासघात करने की है। हम कम्युनिस्टों को बुर्जुआ और सभी शोषक वर्गों के विरुद्ध विद्रोह करना चाहिए। ऐसे ज्यादातर लोगों का घरेलू समस्याओं के हमारे विश्लेषण के दौरान पता चला। अध्यक्ष माओ के निर्देशों को और दस महान भावनाओं का अध्ययन करने के जरिए भी वे खुद को सुधार सकते हैं। साथ ही साथ उन्हें मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा के जरिए अपने विश्व दृष्टिकोण का रूपान्तरण करना चाहिए। कुछ लोग रूपान्तरित नहीं हो सकते हैं। यह अन्तरविरोध दो रूप ले सकता है। कुछ लोग अच्छाई के लिए बदलेंगे और कुछ बदलकर और बुरे हो जायेंगे। कुछ पार्टी सदस्य समस्या को जानेंगे और बदलकर बेहतर हो जायेंगे। इस तरह दुश्मन और हमारे बीच के कुछ अन्तरविरोध जनता के बीच के अन्तरविरोधों में बदल जायेंगे और जनता के बीच के कुछ अन्तरविरोध दुश्मन और हमारे बीच के अन्तरविरोधों में बदल जायेंगे।

कुछ कामरेडों ने महान सांस्कृतिक क्रान्ति को मुक्ति के बाद से ही जारी वर्ग संघर्ष के एक परिणाम के रूप में नहीं देखा है। इसके बजाय वे इसे सुबह-सुबह के स्वच्छ आकाश में कड़कने वाली बिजली के तौर पर देखते हैं। कुछ लोगों ने तो इसे एक महान गलतफहमी भी बताया है जो अपनी प्रकृति में प्रतिक्रियावादी है। उनका कहना है : ''अनुभवी कैडर अपने पदों पर लौटें, युवा कैडर अपने दफ्तरों में वापस जायें और वाम का समर्थन करने वाले अपनी इकाइयों में वापस जायें। महान सांस्कृतिक क्रान्ति एक महान गलतफहमी है।'' यह भटकाव एक विचारधारात्मक समस्या है जो आदर्शवाद को प्रतिबिम्बित करती है। महान सांस्कृतिक क्रान्ति को एक महान गलतफहमी के रूप में देखते हुए वे हर मौजूदा चीज से असंतुष्ट हैं और स्थिति के सामान्य होने का बेचैनी से इंतजार कर रहे हैं। इन घटनाओं को कुण्डलाकार गति से ऊपर की ओर विकास के रूप में देखने के बजाय वे इसे गोल दायरे में घूम रहे आन्दोलन के रूप में देखते हैं। कारखानों में वे नियंत्रण-प्रतिबन्ध-दबाव पर अमल करते हैं) स्कूलों में वे बौद्धिक शिक्षा को आगे रखते हैं और सब कुछ को पुराने चौखटे में जकड़ देते हैं। यह विचारधरा क्या है? यह उद्‌विकास का एक भोड़ा सिद्धान्त है। मार्क्सवादी भौतिकवादी द्वंद्ववाद के अनुसार हर चीज ऊपर की ओर निरंतर विकसित हो रही है। पुरानी सोच से जकड़े हुए ये लोग द्वंद्ववाद के जुमलों को दोहराते रहते हैं लेकिन व्यवहार में द्वंद्ववाद का विरोध करते हैं। औद्योगिक प्रशासन का जिक्र होने पर वे उन पुराने नियमों और प्रणालियों को फिर से शुरू करने की बात करते हैं जिन्हें जनता ने त्याग दिया है। वे हर घण्टे के काम के अनुसार मजदूरी देने और समय नाप कर नकद-पुरस्कार देने काउत्साहपूर्वक समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि ऐसा करने से उत्पादक गतिविधियों को बढ़ावा मिलेगा। लेकिन वे यह नहीं सोचते कि हमने पिछले दशकों में क्रान्ति के लिए किस चीज पर भरोसा किया। क्या हमने नकद इनामों, घण्टे या समय के अनुसार मजदूरी पर भरोसा किया? नहीं। हमने लाखोंलाख क्रान्तिकारी जनता, ज्वार और राइफलों की अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी दिशा पर भरोसा किया। जहां तक भौतिक उत्प्रेरणों का सवाल है सोवियत संशोधनवादियों ने उन्हें जम कर लागू किया है। लेकिन इसने उनके उद्योग को ठहरावग्रस्त कर दिया है और घर और बाहर दोनों मोर्चों पर कठिनाइयां पैदा की हैं। अगर ये चीजें कारगर होतीं तो लेनिनग्राद के मजदूर क्यों विद्रोह करना चाहते? क्या महान सांस्कृतिक क्रान्ति ने भौतिक उत्प्रेरणों पर भरोसा किया या जनता की चेतना पर? क्या इसने जनता को गोलबन्द करने की अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी कार्यदिशा पर भरोसा नहीं किया? निश्चित रूप से हम जनता के जीवन की उपेक्षा नहीं करना चाहते। लेकिन जनता के जीवन स्तर का ध्यान रखना एक चीज है और भौतिक उत्प्रेरणों पर जोर देना दूसरी। श्रम उत्पादकता बढ़ाने के लिए हमें तकनोलाजी और यंत्रीकरण में नये-नये बदलाव करने पर ध्यान देना चाहिए। जनता का जीवन स्तर ऊंचा उठाना जरूरी है। लेकिन अगर हम घण्टे के हिसाब से मजदूरी या नकद इनामों पर अमल करेंगे तो यह जनता के जीवन स्तर के लिए लाभदायक नहीं बल्कि मजदूर वर्ग के लिए एक अपमान होगा। हमारे रेल निर्माण कोर ने बहुत से रेल मार्ग बनाये हैं। क्या हमने इसके लिए घण्टे के हिसाब से मजदूरी पर भरोसा किया? इस कोर में स्वेच्छा से भरती लोगों को प्रतिमाह आठ युआन मिलते हैं और उन्हें कोई अतिरिक्त नकद इनाम नहीं मिलता। हमने पूरी तरह अध्यक्ष माओ की सोच पर भरोसा किया। ये समस्याएं हर जगह नहीं हैं। केन्द्रीय कमेटी के दो विभाग हैं जिन्होंने इस कार्यदिशा को लागू किया। उन्होंने शंघाई में एक प्रयोग किया लेकिन मजदूरों ने इसे खारिज कर दिया। यह समस्या सीधे महान सांस्कृतिक क्रान्ति से जुड़ी हुई है। आज हम यहां इस आशा के साथ इसकी चर्चा कर रहे हैं कि अध्ययन कक्षा के हमारे कामरेड अपनी इकाइयों में लौटने के बाद इस समस्या पर ध्यान देंगे और संघर्ष में जूझने की हिम्मत करेंगे या कम से कम केन्द्रीय कमेटी को स्थिति की रिपोर्ट देंगे। कुछ इलाके पूछते हैं कि क्या वे सांस्कृतिक क्रान्ति के पहले अपनाये गये नियमों और प्रणालियों को फिर से शुरू कर सकते हैं। नियोजन कार्य सम्बन्धी एक सम्मेलन में एक मजदूर ने इसका स्पष्ट जवाब दिया : ''नहीं।'' उसने तीन शर्तें बतायीं : पहला, हम नियंत्रण-प्रतिबंध-दबाव नहीं चाहते; दूसरा, हम पूरी मासिक मजदूरी चुकाये जाने के विरुद्ध हैं; और तीसरा, अतीत में सुधारी जा चुकी चीजों को आज फिर से अपनाया नहीं जा सकता क्योंकि अब हमारा उत्पादन विकसित हो चुका है, ठीक उसी तरह जैसे बड़ा हो जाने पर कोई लड़का अपने पुराने कपड़े नहीं पहन सकता। इस मजदूर को द्वंद्ववाद की समझ है। वह सही कह रहा है। चीजें विकसित हो चुकी हैं और नेताओं की सोच नई स्थितियों के अनुसार बदलनी चाहिए। हम पीछे की ओर यात्रा का दृढ़ता से विरोध करते हैं। अध्यक्ष माओ के शब्दों में : ''हमें अन्वेषण, आविष्कार, सृजन और उन्नयन के लिए प्रयास करने चाहिए। चुपचाप खड़े रहने, निष्क्रियता, दम्भ और निश्चिन्तता के सारे प्रस्ताव गलत हैं।'' हमें लिन प्याओ की आलोचना और कार्यशैली के सुधर के अभियान को और गहरा बनाना चाहिए, लिन प्याओ और कनफ्यूशियस की आलोचना के आन्दोलन को स्फूर्तिवान करना चाहिए और कनफ्यूशियस की आलोचना के प्रयासों को एकीकृत करना चाहिए। लिन प्याओ के घातक प्रभावों की आलोचना करने के लिए हमें कनफ्यूशियस की दुकान का शटर गिरा देना चाहिए। कनफ्यूशियस चीनी इतिहास का पहला विचारक था जिसने व्यवस्थित ढंग से और पूरी तरह आदर्शवाद की वकालत की। पुराने समाज से चिपके हुए तमाम लोग उसकी पूजा करते हैं और लिन प्याओ

(शेष पृष्ठ 54 पर)

खाद्यान्न की वैश्विक राजनीति

फिलिप मैकमाइकेल

1990 के दशक की शुरुआत में अमेरिका के कृषि विभाग ने यह अनुमान लगया कि सन् 2000 तक विश्व में बढ़ती कृषि निर्यात की मांग 3 अरब डालर से ज्यादा की होगी जिसका दो तिहाई भाग प्रशान्त महासागरीय एशिया में खप जायेगा। इस भू-भाग में होने वाले इन कृषि आयातों पर अमेरिकी निर्यात प्रोत्साहन कार्यक्रम के तहत अमेरिकी निर्यातकों को एक अरब डालर की सब्सिडी का लाभ होगा। इस अत्यन्त लाभप्रद सौदे (जिसका अधिकतर भाग डिब्बाबन्द संसाधित खाद्य है जो दक्षिण कोरिया और ताइवान में बिकता है) के तहत गेहूं और मक्का का इण्डोनेशिया, मलेशिया और फिलीपीन्स में भारी मात्रा में आयात होगा।

कृषि समेत अनेक क्षेत्रों में व्यापार और तटकर के सामान्य समझौते (गैट), जो उरुग्वे चक्र 1994 में सम्पन्न हुआ, की शर्तों के तहत अमेरिकी मक्का के निर्यात से फिलीपीन्स में सन् 2000 तक मक्के की घरेलू कीमतें 20 प्रतिशत तक गिर जाने का अनुमान है (आर्थिक सहयोग और विकास संगठन के अनुसार)। *केविन वाटकिंस* के अनुसार इससे 5 लाख किसान घरों पर गाज गिरेगी। (उनके सामने रोजी-रोटी की समस्या आ खड़ी होगी) उनकी आमदनी 15 प्रतिशत घट जायेगी, जिसका परिणाम उनके सामाजिक स्तर पर पड़ेगा। उनको अपने बच्चों की शिक्षा में कटौती करनी होगी अपना पेट भरने के लिए बच्चों की मजदूरी पर उनकी निर्भरता बढ़ेगी, भोजन में पौष्टिक तत्वों की कमी आयेगी ओर औरतों को घर के बाहर काम करने की बाध्यता में बढ़ोत्तरी होगी। तुलनात्मक रूप से देखें तो पता चलता है कि अमेरिकी किसान और अनाज व्यापारी को मिलने वाली सब्सिडी मिंडानाओ (फिलीपींस) के मक्का उगाने वाले किसान की आमदनी से लगभग 100 गुना अधिक है। वाटकिंस के अनुसार, ''खुले बाजार के व्यापारियों के बारे में प्रचलित कल्पित धारणाओं के विपरीत वास्तविकता यह है कि कृषि बाजार में टिके रहना अपेक्षाकृत लाभप्रद मालों का व्यापार करने से कहीं ज्यादा इस बात पर निर्भर करता है कि सब्सिडी तक उनकी पहुंच कितनी है।''

ध्यान देने की बात है कि इस तथ्य के बावजूद कि राष्ट्रीय खाद्य नीति पर उसकी संप्रभुता इस समझौते के कारण जिनेवा में स्थित गैर-जवाब देह व्यापार संस्था को हस्तान्तरित हो जायेगी, फिलीपीन्स की सरकार इस समझौते को आर्थिक दक्षता का औजार मानती है। वाटकिंस इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ''कानूनी बारीकियों को एक तरफ हटा दें तो उरुग्वे चक्र का समझौता जालसाजी के एक विस्तृत मकड़जाल के सभी प्रमाण चिह्नों को अपने आगोश में समेटे बैठा है। यह मुक्त बाजार के सिद्धान्तों की आड़ में विकासशील देशों के खाद्य बाजारों को खोलने की मांग करता है जबकि अमेरिका और यूरोप की कृषि प्रणाली को सुरक्षा प्रदान करता है और उनके निर्यात को सब्सिडी देकर प्रोत्साहित करता है''। *

उरुग्वे चक्र के कपट-प्रबन्धन को हाल में अस्तित्व में आये विश्व व्यापार संगठन में एक संस्था का रूप मिल गया है। इसके अनुसार बाजार की शक्तियों को समान रूप से खेलने के लिए खुली छूट देकर और कार्यदक्षता बढ़ाकर विश्व में व्याप्त राजनीतिक, सामाजिक और पर्यावरणीय सुरक्षा की समस्याओं के समाधान के लिए सर्वाधिक दूरगामी असर डालने वाले प्रयास किये जा सकते हैं। लेकिन जैसा कि ऊपर दिया उदाहरण दर्शाता है कि 'खेलने का समतल मैदान', सबके लिए समतल नहीं है। अमेरिका और यूरोप कृषि में लागत की अदायगी को कृषि माल के मूल्यों से अलग रखकर (इस तरह कृषि निर्यात को बेतहाशा प्रोत्साहन देकर) और विस्तृत अवरचनागत सुविधायें (यातायात, संचार, बिजली आदि) उपलब्ध करा कर परोक्षतः कृषि सब्सिडी को बरकरार रखे हुए हैं। इस भारी सब्सिडी के साथ अमेरिका और यूरोप के कृषि अर्थात कृत्रिम रूप से सस्ते दामों पर विश्व बाजार में प्रतिस्पर्धा करते हैं। ऐसे में बाजार की शर्तों पर दक्षिण (विकासशील देशों) की खेती अपेक्षाकृत कम लाभकारी प्रतीत होती है। वस्तुओं के दामों को ही एकमात्र कृषि की प्रतिस्पर्धात्मकता की कसौटी मानने से मुक्त व्यापार की अलंकृत भाषा, बाजार के संस्थागत साधनों के इस्तेमाल को उचित ठहराती है, जिसके कारण कृषि में व्यापारिक गतिविधियां दूरदराज के क्षेत्रों में खेती में लगे छोटे किसानों की कीमत पर अंजाम दी जाती हैं। जैसा कि मैं नीचे अपनी दलील पेश करूंगा, यह कृषि कारोबारी साम्राज्यवाद (agribusiness imperialism) है जिसमें अमेरिका 'विश्व की रोटी की डलिया' बनने यानी बाजार-व्यवस्था के जरिये पूरी दुनिया को रोटी उपलब्ध करा देने की वैश्विक रणनीति अपना रहा है। इसके लिए उसने वर्तमान मुक्त व्यापार व्यवस्था के तहत कारपोरेट खाद्य ताकत को (corporate food power) संस्थागत स्वरूप प्रदान किया है। यह विश्व की सम्पूर्ण कृषि को और खाद्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय व इसकी आवाजाही को अपने एकाधिकारी नियंत्रण में लाने के लिए सांस्थानिक यंत्रावली का जबर्दस्ती इस्तेमाल करने का अनिवार्य अंग है।

कृषि उपनिवेशवाद से कृषि उद्योगवाद तक

विश्व स्तर पर खाद्य (भोज्य) वस्तुओं के उत्पादन और उनके उपभोग के ऐतिहासिक सम्बन्ध सदा से ही राजनीतिक एवं भू-राजनीतिक दोनों रहे हैं। यह तथ्य अस्पष्ट सा है क्योंकि विश्व-शक्ति सम्बन्धों की हमारी राजनीतिक-आर्थिक समझदारी विश्व के बारे में द्विआधरी (binary) दृष्टिकोण पर टिकी हुई है। विश्व पूंजीवाद के इतिहास में महानगरीय या यूरोपीय संसार को उद्योग के क्षेत्र में विशिष्टता हासिल करते देखा जाता है जबकि ''परिधिगत'' या गैरयूरोपीय देशों को कच्चे माल और खाद्योत्पादन में। विश्व के विकास को इस रूप में समझा गया कि विकास इस विभाजन को मिटाने की प्रक्रिया है; कृषि में विशिष्टीकरण इस विभाजन को मिटाने में अहम भूमिका निभा सकता है।

विश्व शक्ति सम्बन्धों की यह द्विआधारी

* "Free trade and Farm Fallacies : From the Uruguay Round to the World Food Summit", The Ecologist, 26, 1996 : 244-255

अवधारणा कई मायनों में दोषपूर्ण है। सत्रहवीं शताब्दी में चीनी के उपभोग के विस्तार ने औद्योगिक पूंजीवाद को उभरने तथा मजदूरी (देकर वस्तुओं के उत्पादन) के विस्तार के माध्यम से बाजार की शक्तियों को मजबूती से पैर जमाने का स्पष्ट संकेत दिया।

औपनिवेशिक कृषि की आधारशिला पर विश्व पूंजीवाद की कोपलें फूटीं जहां बागानों में बड़े पैमाने पर मनुष्यों को गुलाम बना कर उनके खून-पसीने को निचोड़ा गया। इसके फलस्वरूप फैक्ट्रियां खड़ी की गईं। इस औपनिवेशिक तंत्र ने शुरुआती दौर की पूंजी की जरूरत को पूरा किया जिससे आधुनिक उद्योग पोषित-पल्लवित हुए। मूलभूत रूप से देखें तो पता चलता है कि उत्पादन और उपभोग का पूंजीवादी स्वरूप सर्वप्रथम कृषि से ही उभर कर सामने आया। इस प्रकार खाद्य वस्तुओं के व्यापार ने विश्व स्तर पर पूंजीवाद को संगठित स्वरूप देने में अहम (केन्द्रीय) भूमिका निभाई और आज भी निभा रहा है।

कृषि और पूंजीवाद का इतिहास विकास की द्विआधारी सोच की इन धारणाओं में समाहित दो भिन्न पर एक दूसरे से गुंथे हुए ऐतिहासिक धागों से निर्मित हुआ है। ये दो धागे हैंब्रिटिश और अमेरिकी आधिपत्य के वैश्विक अभियान, जिन्होंने विकास के दो अलग-अलग मॉडल प्रस्तुत किये हैं। प्रथम साम्राज्यवादी आधिपत्य ने पूरे विश्व को, क्लासिकी रूप में अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाजन के आधार पर बांटा और जो इस ब्रिटिश नारे में अभिव्यक्त हुआ कि ''पूरा विश्व एक फैक्ट्री या कार्यशाला है।'' ब्रिटेन की विशेषज्ञता उष्ण जलवायु वाले उपनिवेशों से और भविष्य में विश्व की खाद्य टोकरी बनकर उभरने वाले अमेरिका समेत नई दुनिया के शीतोष्ण प्रदेशों में होने वाले कृषि निर्यातों की पहुंच व पकड़ पर आश्रित थी। बीसवीं सदी में अमेरिका ने विकास का एक ऐसा वैकल्पिक मॉडल रचा और उसे क्रियान्वित किया जो राष्ट्रीय स्तर पर उद्योग और कृषि क्षेत्र के समेकन पर आधारित था तथा पूंजी प्रधान एवं ऊर्जा सघन टेक्नालजी में हो रहे परिवर्तनों द्वारा संचालित था। ब्रिटिश मॉडल को ''बाह्य निर्दिष्ट'' (outer directed) रूप में देखा गया जबकि अमेरिकी मॉडल को ''अन्तः निर्दिष्ट''(inner directed) रूप में देखा गया। पर अमेरिका के इस अन्तःनिर्दिष्ट मॉडल में उसके कृषि कारोबार और खाद्य शक्ति के विकास में बीसवीं सदी की अमेरिका केन्द्रित विश्व की राजनीतिक अर्थव्यवस्था पर उसकी जबर्दस्त जकड़बन्दी छिपी हुई है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अमेरिका में गोरे लोगों के बसने से कृषि (जो पारिवारिक खेती का एक प्रकार था) विश्व अर्थ-व्यवस्था की नई हृदयस्थली बनी जिसने यूरोप में और साथ ही नये बसे राज्यों में औद्योगीकरण के इंजन को ईंधन उपलब्ध कराया। उपलब्ध विशाल कृषि भू-भाग पर अपेक्षाकृत बहुत थोड़े लोगों द्वारा खेती करने से ऊर्जा सघन व पूंजी प्रधान अति उत्पादक कृषि का जन्म हुआ जिसके परिणामस्वरूप खाद्यान्न उत्पादन इतनी प्रचुरता से बढ़ा कि इसे विश्व की ''खाद्य टोकरी'' की संज्ञा दी गयी। वास्तव में अमेरिका की यह औद्योगिक कृषि बीसवीं सदी में पूरे विश्व पटल पर पहले यूरोप, फिर बाद में उत्तर औपनिवेशिक देशों के कृषि के विकास का एक माडल बनी।

उच्च उत्पादक सघन कृषि का यह मॉडल विशेष महत्व का है क्योंकि इसने किसान को पूर्णरूपेण बाजार की शक्तियों पर निर्भर बना दिया। इस मॉडल में कृषि में इस्तेमाल होने वाली सभी आगतें (वस्तुएं) जैसे तेल, रसायन, उर्वरक, संकर बीज, मशीनरी और कीटनाशक दवायें सभी बाजार से खरीदनी होती हैं। इतना ही नहीं, उत्पादन भी विशिष्ट प्रकार का होता है जिसे बेचने के लिए ही पैदा करना होता है। उदाहरण के लिए नये उभरते लघु मांस उद्योग के लिए विशिष्ट प्रकार की कृषि उपज में मक्का और सोयाबीन पशु-आहार शामिल हैं। राष्ट्रीय स्तर पर इस मॉडल ने उद्योग और कृषि को समेकित किया जिसने दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के दौर की विश्व समृद्धि की वृद्धि में ईंधन का काम किया। यह ब्रेट्टनवुड्स समझौते की मौद्रिक प्रणाली के तहत हुआ जिसने पूंजी के प्रवाह को नियंत्रित कर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं को स्थिरता प्रदान की। इसी काल में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बड़े कृषि कारोबारी निगमों ने कृषि में इस्तेमाल होने वाली वस्तुओं के क्रय-विक्रय को राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार एक तंत्र के तहत सुव्यवस्थित तरीके से संचालित करना शुरू किया। अधिकतर इन सौदों (क्रय-विक्रय) को विश्व युद्धोत्तर काल के यूरोप और पूर्वी एशिया के पुनर्निर्माण की जरूरत ने जन्म दिया जो अमेरिका के व्यापार और उसकी ऋण पूंजी पर निर्भर थे। उदाहरणतः जापानी पशुधन क्षेत्र (डेयरी उद्योग) अपनी खाद्य आवश्यकता पूरी करने के लिए अमेरिका से मक्का तथा ब्राजील से सोयाबीन के निर्यात पर निर्भर बना। दूसरे शब्दों में कृषि-उद्योग संघ (जिनमें कृषि को औद्योगिक गतिविधियों में समेकित किया जाता है) एक साथ ही सभी देशों में संगठित किये गये (जिनकी जड़ें विकसित देशों में थीं) जिनका स्वरूप तो राष्ट्रीय था पर अन्तर्वस्तु अन्तरराष्ट्रीय थी। इसी दौरान कृषि औद्योगीकरण ने उपनिवेशवाद के साथ उपजे अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाजन की गति को तीव्रता प्रदान की।

विश्व राजनीतिक अर्थव्यवस्था में कृषि कारोबार : कृषि-निर्यात निर्भरता का उदय

अमेरिका के कृषि-उद्योग संघों का जन्म समायोजन कार्यक्रमों के फलस्वरूप हुआ जो विश्व युद्धों के बीच के काल की महामंदी, जिसने कृषि को विशेष रूप से तबाह कर दिया था, से उबरने के लिए चलाये गये थे। 1935 में अमेरिका ने अपने *कृषि समायोजन अधिनियम* में परिवर्तन किया जिसने कृषि मंत्रालय को यह अधिकार दिया कि वह अपने देश में आने वाले कृषि आयातों पर प्रतिबंध लगा सके ताकि *यू.एस.डी.ए.* के मूल्य समर्थित कार्यक्रमों को संरक्षण मिले जिसके तहत कृषि उपज-उत्पाद के घरेलू मूल्य विश्व बाजार के मूल्यों से अधिक रहते हैं (यानी उसके कृषि उपज-उत्पाद विश्व बाजार में महंगे रहते हैं)। इसे विडम्बना ही कहा जायेगा क्योंकि आयात नियंत्रण की इस नव-व्यापारिक नीति ने अन्ततः कृषि निर्यात के ऐसे कार्यक्रम को जन्म दिया जिसका विश्वव्यापी महत्व है। कृषि में दी गई भारी सब्सिडी के कारण अमेरिकी सरकार ने इस अति उत्पादन को पी.एल. 480 कार्यक्रम के अन्तर्गत सस्ते मूल्य पर विदेशी खाद्य सहायता के रूप में सागरपारीय देशों में खपाया। इस खाद्य व्यवस्था कार्यक्रम के तहत पहले खाद्यान्नों को अनुदान देकर सस्ती दरों पर उपलब्ध कराया गया पर बाद में वास्तविक बाजार भाव पर बेचा गया। ऐसा करने से खाद्यान्न व्यापार करने वाली दिग्गज कारगिल और कान्टीनेन्टल कम्पनियों के पौ बारह हए। परम्परागत तौर पर ये कम्पनियां अमेरिकी खाद्यान्न को विश्व में बेच रही थीं और इन्होंने दूसरे विश्व युद्धोपरान्त काल के खाद्य सहायता कार्यक्रम द्वारा बाजार में अपनी अच्छी पैठ बना रखी थी।

सस्ते खाद्यान्नों के निर्यात के अतिरिक्त मार्शल प्लान और हरित क्रान्ति समेत अनेक

विदेशी सहायता कार्यक्रमों की सुभीता के चलते अमेरिका से 'एग्रीबिजनेस टेक्नालाजी' का निर्यात भी खूब फला-फूला जिसने तीसरी दुनिया के चुनिन्दा क्षेत्रों को लक्ष्य बनाया। इन दो विशेष कायर्क्रमों ने कृषि क्षेत्र के आधुनिकीकरण के नाम पर यूरोप से लेकर जापान और मैक्सिको तक अमेरिकी कृषि के ऐसे मॉडल की पुनरावृत्ति की जिसमें पूंजी और ऊर्जा की अत्यधिक आवश्यकता थी। दक्षिण कोरिया में, देश की खाद्य व्यवस्था में तकनीकी विशेषज्ञता और बाजार दक्षता की घुसपैठ के लिए चार कम्पनियों ने राल्स्टल-पुरीना और कारगिल समेत अनेक अमेरिकी एग्रीबिजनेस कम्पनियों से साझे में उद्यम स्थापित किये। इन कम्पनियों के बारे में अमेरिकी पी.एल. 480 की वार्षिक रपट (1972) में प्रशंसा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया कि इन कम्पनियों ने अमेरिकी टेक्नालाजी के कोरिया में तेजी से प्रवेश करने और इसके विस्तार करने में अहम भूमिका निभाई है.... कोरिया में अमेरिकी मक्का, सोयाबीन, प्रजनन स्टाक और दूसरी आपूर्ति एवं उपकरणों यंत्रों के आयात में बढ़ोत्तरी हुई है।

यह रिपोर्ट स्पष्ट करती है कि कैसे अमेरिकी कृषि मॉडल ने अपने विशिष्टीकृत चरित्र के कारण कोरिया के पशुधन उद्योग को अपने हितों के अनुकूल ढाला जिससे कि वह पशु आहार के विदेशी आयात (अमेरिका, ब्राजील और थाइलैण्ड में उत्पादित) पर उत्तरोत्तर निर्भर होता गया। इसका अर्थ यह हुआ कि कृषि कारोबार निगमों को अपनी नई टेक्नोलाजी को बेचने के लिए न केवल नया घरेलू बाजार मिला बल्कि राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़कर विशिष्टीकृत कृषि व उसके उपक्षेत्रों के उत्पादों को विश्व माल व्यवस्था की श्रृंखला में समेकित करने का अवसर भी मिला।

बहुराष्ट्रीय बाजारों से बदलकर राष्ट्रपारीय संश्लिष्ट बाजार समूह बनने की प्रगति यात्रा, ताकि एकछत्र मु नाफा बटोरा जा सके, केवल कृषि के विशिष्टीकृत चरित्र से ही नहीं हुई। 1970 के दशक में विश्व पूंजीवाद ने अपनी रणनीति मे जो बदलाव किये, उससे उपजी भू-आर्थिक व्यवस्था से भी यह यात्रा आगे बढ़ी। राष्ट्रीय तंत्र द्वारा नियंत्रित अर्थव्यवस्था की इस अपेक्षाकृत स्थाई व्यवस्था ने डालर के साथ जुड़ी अपरिवर्तनीय विनिमय दर की प्रणाली के साथ मिलकर राष्ट्रपारीय आर्थिक सम्बन्धों के उत्तरोत्तर अस्थिर होते जाने वाले एक ऐसे तंत्र को जन्म दिया जो अस्थिर तैरती विनिमय दर, सुदूरवर्ती मुद्राबाजार और वित्तीय सट्टेबाजी (यानी वित्तीय वैश्वीकरण) द्वारा निर्धारित होता था। जैसे-जैसे पूंजी की आवाजाही पर राष्ट्रीय बंधन ढीले हुए, राष्ट्रपारीय निगमों की गतिविधि में विस्तार हुआ, विश्व बैंक सरीखी विकास एजेन्सियों ने विश्व बाजार के लिए निर्यात को राज्यों और उद्योगों-फैक्ट्रियों की पसंदीदा रणनीति के रूप में पहचान की।

खासी दिलचस्प बात यह है कि 1970 के दशक में साम्राज्य के बढ़ते खर्चों—विशेषकर वियतनाम युद्ध के कारण उपजी देनदारी की वजह से उत्तरोत्तर बढ़ते भुगतान असन्तुलन की समस्या से निपटने के लिए अमेरिकी सरकार ने ''हरित शक्ति'' सम्पन्न कृषि निर्यात की रणनीति को अपनाया। इस दशक के पहले तक अमेरिकी कृषि नीति अपने देश के कृषि क्षेत्र को स्थाई स्वरूप प्रदान करने पर केन्द्रित थी जिसमें निर्यात और खाद्य सहायता कार्यक्रम घरेलू फालतू अनाज को खपाने सम्बन्धी प्रबन्धन का एक गैर मामूली जरिया था। अमेरिकी फार्म बिल 1973 के पास हो जाने से कृषि पर लगे उत्पादन प्रतिबन्ध हट गये जिसके परिणाम स्वरूप वाणिज्यिक निर्यात को प्रोत्साहन मिला। इससे फालतू कृषि उत्पादन को खपाने की व्यवस्था को केवल औपचारिक स्वरूप ही नहीं मिला बल्कि इसने विश्व अर्थव्यवस्था के साथ अमेरिकी कृषि सम्बन्धों को मूलभूत रूप से बदल डाला।

1970 के दशक की शुरुआत से ही अमेरिकी कृषि ने एक नई निर्यात निर्भरता को जन्म दिया जिसमें फार्म की एक तिहाई से अधिक भूमि पर कम मूल्य वाली (पर पेट भरने जैसी बुनियादी जरूरतों की) फसलों—गेहूं, मक्का, और सोयाबीन के उत्पादन को बढ़ावा दिया गया ताकि उनका विश्व बाजार में निर्यात किया जा सके। हरित शक्ति की इस रणनीति ने पारिवारिक खेती (जिसमें किसान पहले अपने परिवार की जरूरतों को पूरा करने के लिए फसलें उगाता है) को पूरी दुनिया में तहस-नहस कर डाला और बाजार के लिए निर्यातोन्मुख फसलों के उत्पादन और विदेशी बाजार पर निर्भरता को बढ़ावा दिया गया—विशेषकर तीसरी दुनिया, चीन, सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों के मंझोली आमदनी वाले क्षेत्रों में। इसी बीच पश्चिमी यूरोप भी, जिसकी नीतियां अमेरिका जैसी ही ढली थीं, खाद्यान्नों का अति उत्पादन करने लगा और खाद्यान्नों का प्रमुख निर्यातक बनता जा रहा था।

1950 के दशक के दौरान तीसरी दुनिया में गेहूं का मात्र 10 प्रतिशत आयात होता था लेकिन 1980 का दशक आते-आते आयात की यह मात्रा 57 प्रतिशत हो गयी। विश्व में खाद्य पर निर्भरता का बहुत कुछ श्रेय अमेरिकी खाद्य सहायता कार्यक्रम को जाता है जिसने लोगों को एक तरफ पश्चिमी भोजन खाने का आदी बनाया तो दूसरी तरफ स्थानीय किसानों को अपनी फसलों से मिलने वाले दामों को गिरा दिया (खाद्य सहायता कार्यक्रम का अनाज सस्ते दामों पर देकर)। नतीजतन दक्षिण के (अविकसित) खाद्यान्न आश्रित देश यूरोपीय देशों और अमेरिका के बीच अधिकाधिक व्यापार प्रतिद्वंद्विता का अखाड़ा बन गये। बाजार के लिए इस प्रतिस्पर्धा ने और विश्व खाद्य अर्थव्यवस्था में राष्ट्रपारीय निगमों की बढ़ती कारोबारी भूमिका ने 1980 के दशक में व्यापार और तटकर के सामान्य समझौते (गैट) सम्बन्धी वार्ता की परिस्थितियां तैयार कीं जिनके केन्द्र में कृषि का उदारीकरण और कृषि वस्तुओं का व्यापार था।

गैट का गठन और अपवाद के रूप में पश्चिमी विश्व

कृषि के उदारीकरण पर केन्द्रित होने से उरुग्वे चक्र ने गैट' के लिए नये क्षितिज खोले। जैसा कि फिलीपींस के उदाहरण से स्पष्ट है कि उदारीकरण विश्व की खाद्य अर्थव्यवस्था में सभी देशों को किसी भी प्रकार समान अवसर उपलब्ध कराने का कोई माध्यम नहीं है। उदारीकरण में शुरुआत से ही कृषि निर्यात करने वाले केयर्न्स ग्रुप की खुले व्यापार की मांग और अमेरिका द्वारा 'विश्व की खाद्य टोकरी' रूपी व्यापारिक रणनीति (यानी पूरी दुनिया को खाद्यान्न के लिए अपने ऊपर आश्रित बनाने की राजनीति) का अनुकरण करना, दोनों समाहित रहे हैं।

दिलचस्प बात यह है कि उरुग्वे चक्र की पहली वार्ताओं में अमेरिका हमेशा कृषि क्षेत्र को छोड़कर व्यापार के नियमों में उदारीकरण पर जोर देता था। 1955 में कृषि में व्यापार को 'गैट' के नियमों के दायरे से बाहर रखा गया था जिससे अमेरिका अपने देश की कृषि को आयात प्रतिस्पर्धा से बचाकर अपनी फार्म आपूर्ति नीतियों को लागू करने में सफल रहा। लेकिन 1980 के दशक के मध्य में अमेरिका ने अपनी अवस्थिति को एकदम उलट दिया

जिसका मकसद कृषि में संरक्षण के खिलाफ 'गैट' मंच का इस्तेमाल करना था। इसका तात्कालिक लक्ष्य यूरोपीय देशों की 'समान कृषि' नीति' के तहत उनके भारी सब्सिडी दिये जाने के कारण उनके अत्यधिक सस्ते कृषि निर्यात को विश्व बाजार में पहुंचने से रोकना था जिसमें पहले अमेरिका का एकछत्र प्रभुत्व था। निर्यात बाजार पर अमेरिकी कृषि की निर्भरता के मद्देनजर यूरोपीय देशों के साथ उसकी प्रतिद्वंद्विता कर्ज में डूबे अमेरिकी किसानों और कारपोरेट निर्यातकों के लिए भारी नुकसानदेह साबित हो रही थी।

अमेरिकी रणनीति इस सन्दर्भ के अन्तर्गत विकसित हुई। यह रणनीति 1970 के दशक के दौरान विश्व बाजार में ''हरित शक्ति'' पहल से शुरू होती है जो 1980 के दशक में एक विस्तृत संस्थागत स्वरूप ग्रहण कर लेती है और गैट के मुक्त व्यापार तंत्र के तहत बाजार की शक्तियों को विश्व स्तर पर लागू करवाती है।। उदारीकरण की इस पहलकदमी के पीछे कृषि का काफी हद तक पुनर्गठन या उसका आर्थिक ध्रुवीकरण करना था। 1980 के कृषि संकट ने अन्ततः बड़े किसानों और खाद्य कम्पनियों को खूब मालामाल किया। 1994 आते-आते अमेरिका के आधे कृषि उत्पाद 2 प्रतिशत फार्मों पर पैदा होते थे जबकि 73 प्रतिशत फार्मों पर केवल 9 प्रतिशत कृषि उत्पाद पैदा होते थे। इसी साल अमेरिकी गौमांस का 80 प्रतिशत धन्धा केवल तीन कम्पनियों—आयोवा बीफ पैकर्स (आई.बी.पी.), कॉनएग्रा और कारगिल के हाथों में संकेन्द्रित था।

1970 के दशक में कृषि ऋण व्यवस्था में परिवर्तन हुआ। रोनाल्ड रीगन ने कृषि में सरकारी ऋण व्यवस्था के स्थान पर सरकारी गारण्टी शुदा निजी ऋण व्यवस्था लागू करवाई। इससे कृषि नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। इससे न केवल ग्रामीण कल्याण नीतियां निजी क्षेत्र के विस्तार का बोझ व्यापक आबादी पर डालने की ओर मुड़ीं बल्कि इस नई नीति के माहौल ने निजी बैंकों को इतना समर्थ बनाया कि वे कृषि ऋण उपलब्ध करा सकें। इसके साथ ही बैंक अमेरिकी मुद्रा नीतियों से लाभान्वित हुए जिससे डालर मुद्रास्फीति का शिकार बना। इस मुद्रास्फीति से दक्षिण से कृषि निर्यात के लिए दरवाजे खुल गये और इस प्रकार बैंकों को ऋण लौटाने की रणनीति सुगम बनी। लेकिन इसने ऐसा अमेरिकी कृषि निर्यात की कीमत पर किया।

1980 के दशक के मध्य में कृषि संकट के कम होने के बाद कृषि उत्पादों की कीमत बढ़ने के जवाब में नव-स्थापित 'निर्यात संवर्धन कार्यक्रम' (Export Enhancement Programme-EPP) ने विशेषकर उन कृषि निर्यातों को सब्सिडी दी जिनकी यूरोपीय देशों से प्रतिस्पर्धा थी। अमेरिका की ओर से यह संदेश दिया गया कि यूरोप अपनी निर्यात-नीतियों में परिवर्तन करे ताकि अमेरिकी हितों की उपेक्षा न हो अन्यथा अमेरिका अपने निर्यात संवर्धन कार्यक्रम के तहत निर्यात सब्सिडी देकर विश्व बाजार में गेहूं, खाद्यान्न और चुनिंदा पशु उत्पादों (जिनकी यूरोपीय समुदाय से सीधी प्रतिस्पर्धा है) के अपने हिस्से पर कब्जा कर लेगा। इस मकसद से EEP माल ने सोवियत संघ, चीन, उत्तरी अफ्रीका और मध्य पूर्व के बाजारों को लक्ष्य बनाया है। अमेरिका ने उरुग्वे चक्र की गैट वार्ता में EEP को सौदेबाजी की रणनीति का एक हिस्सा बनाया तथा अपने प्रतिद्वंद्वियों की सब्सिडी और दूसरे ''अनुचित'' व्यापार के तौर-तरीकों को चुनौती दी। 1994 तक अमेरिका से निर्यात होने वाले कृषि उत्पादों में गेहूं अपने कुल विश्व व्यापार का 36 प्रतिशत था, मक्का, जौ, ज्वार और जई 64 प्रतिशत सोयाबीन 40 प्रतिशत, चावल 17 प्रतिशत और कपास 33 प्रतिशत था। लेकिन व्यापार की इन चुनौतियों ने अमेरिका (और दूसरे खाद्यान्न निर्यातक देशों) को इतना लाभ नहीं पहुंचाया जितना कि खाद्य कारोबारी कम्पनियों की इस क्षेत्र में उनकी पकड़ को मजबूत किया। ये कम्पनियां मुक्त व्यापार से खूब लाभान्वित हुईंउदाहरणतया 1994 में 50 प्रतिशत अमेरिकी खाद्यान्न निर्यात पर केवल दो कम्पनियोंकारगिल और कांटीनेंटल का कब्जा था।

गैट, राष्ट्रपारीय निगम और भूमण्डलीय कृषि की पुनर्संरचना

विश्व स्तर पर कृषि कारोबार की वर्तमान संरचना कृषि उत्पादों के इस विभाजन पर निर्मित है कि एक ओर महंगे कीमती कृषि उत्पाद हैं तो दूसरी ओर सस्ते कृषि उत्पाद। सस्ते समशीतोष्ण अनाजों और तिलहनों के व्यापार पर उत्तर के प्रभुत्व का इतिहास रहा है और कीमती कृषि उत्पादों का व्यापार दिनोदिन दक्षिण में पैर जमाये कृषि निर्यात निगमों (या उनसे अनुबंधित किसानों) के हाथों में केन्द्रित होता गया है—उदाहरणतया, ब्राजीलियन गौमांस, चीन और हंगरी का सुअर का मांस, दक्षिण-पूर्वी एशिया की झींगा मछली, ब्राजील, हंगरी व थाईलैण्ड की पोल्ट्री और दक्षिण से फल व सब्जी सामान्य निर्यात। (ध्यान देने की बात है कि दक्षिण के कुछ देश जैसे अर्जेन्टीना, थाइलैण्ड और उरुग्वे खाद्य वस्तुओं के शुद्ध निर्यातक हैं जबकि अधिकांश दक्षिण के देश खाद्यों के शुद्ध आयातक हैं)। विश्व स्तर पर कृषि उत्पादों के निर्यात मंचों की बढ़ोत्तरी एक अस्थाई रणनीति है जो इस बात का स्पष्ट संकेत दे रही है कि इसकी गहराई में एक अत्यन्त आधारभूत प्रक्रिया गतिशील है : राष्ट्रपारीय खाद्य कम्पनियों द्वारा वास्तविक उत्पादन करने वाले क्षेत्रों को पूरी दुनिया के कृषि उत्पादन व उपभोग सम्बन्धों द्वारा व्यापक स्तर पर अपने अधीन कर लेना।

इन दशाओं में विभिन्न समाजों और राज्यों की आधारभूत संस्था के रूप में कृषि का महत्व दिनोदिन घटता जाता है और यह उत्तरोत्तर मुनाफा निचोड़ने के लिए निगमों की भूमण्डलीय रणनीति का अभिन्न अंग बनती जाती है। यह विश्व स्तर पर खाद्य उत्पादों से मुनाफा कमाने के एक तंत्र के सहारे टिकी हुई है, ऐसा तंत्र जिसमें भोजन किसानों के खेतों से 2000 मील की यात्रा कर खाने की मेज तक पहुंचता है। इतना ही नहीं, निगमों की यह रणनीति जो उत्पादन करने वाले क्षेत्रों को विश्व भूमण्डलीय उत्पादन व उपभोग सम्बन्धों में जकड़ लेती है और साथ ही यह उत्तरी विकसित एवं दक्षिणी अविकसित सभी देशों के उनके राष्ट्रीय कृषि क्षेत्रों के संस्थागत स्वरूप को नष्ट कर देती है, उनकी जड़ों को खोद डालती है।

उदाहरण स्वरूप कृषि क्षेत्रों में इतना परिवर्तन आ गया है कि अमेरिकी सरकार किसान समुदाय को देश की जनगणना से निकालने पर विचार कर रही है। यह इसलिए कि कुल कृषि उत्पादन का आधा उत्पादन तो मात्र दो प्रतिशत फार्मों पर ही हो जाता है और एक औसत पारिवारिक फार्म से केवल 14 प्रतिशत आमदनी ही हो पाती है। अधिकांश (95 प्रतिशत) अमेरिकी खाद्य तो निगमों द्वारा उत्पादित किया जाता है और उन्हीं के जरिये बेचा जाता है (उदाहरणतया फिलिप मारिस जो सनगोल्ड डेयरीज, लेण्डर्स बेगेल्स, टौम्बस्टोन पिज्जा और क्राफ्ट चीज जैसे ब्राण्ड बेचता है और कॉन आगरा जो हैल्दी चाइस मील्स और डैजर्ट्स, पीटर पान पीनट बटर, आरविले रेडेनबाकर पापकार्न, वेस्सॉन ओइल्स और बटरबॉल, आरमौर और हिब्रयू नेशनल मीट्स

जैसे ब्राण्ड बेचता है)। वास्तव में खाद्य उद्योग अमेरिका का विशालतम उद्योग क्षेत्र है, इसके बावजूद यह अपने देश के सभी नागरिकों के लिए खाद्य की उपलब्धता सुनिश्चित नहीं कराता क्योंकि 3 करोड़ अमेरिकी नागरिक आज भी पूरी तरह पौष्टिक आहार नहीं पाते। इस उद्योग क्षेत्र पर भीमकाय कारोबारी समूहों का प्रभुत्व है जिनका बिक्री पर एकछत्र अधिकार हैउदाहरणतया कॉनएग्रा खाद्य पदार्थों, भोजन सामग्री, पशु आहार और उर्वरकों की 25 प्रतिशत बिक्री करता है, 53 प्रतिशत बिक्री रैफ्रीजरेटिड खाद्यों की करता है और 22 प्रतिशत बिक्री किराना सामानों की करता है।

खाद्य भोजन सामग्री का सिर्फ कुछेक भीमकाय खाद्य कम्पनियों के हाथों में केन्द्रीकरण उन्हें खाद्य उत्पादन कर्ताओं की तुलना में अति प्रभुत्वशाली नियन्ता की हैसियत प्रदान करता है। लेकिन निगमों द्वारा खाद्योत्पादन अपने नियंत्रण में लिया जाना सिर्फ सीधा-सादा सवाल नहीं है कि इससे पारिवारिक खेती लाभदायक नहीं रही। ये राष्ट्रीय फार्म आधारित संस्थायें (पारिवारिक खेती) जिन्होंने पहले फार्म उत्पादित माल के उपभोग की राष्ट्रीय प्रणाली को स्थिरता प्रदान की थी, अब राष्ट्रपारीय निगमों की रणनीति और खाद्य कम्पनियों की संरचना के विकास के रास्ते में रोड़ा साबित हो रही हैं। ये संस्थायें कम्पनियों के विकास के रास्ते में रोड़ा इसलिए हैं क्योंकि कृषि-औद्योगिक आगतों के दाम बढ़ाकर पारिवारिक खेती को सरकारी सहायता (मूल्य समर्थन) देने से विश्व बाजार में खाद्य संस्करण कम्पनियों और गल्ले के व्यापारियों को नुकसान होता है।

दक्षिण (के अल्पविकसित देशों) में राष्ट्रपारीय कम्पनियों की रणनीति के तहत नव-औपनिवेशिक परियोजना जारी है जिसमें एक ओर सस्ते खाद्यान्नों के आयात द्वारा स्थानीय किसानों को उनकी अपनी जड़-जमीन से उजाड़ा जा रहा है तो दूसरी ओर हरित क्रान्ति की रणनीति को विस्तारित कर नये कृषि निर्यातों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह दूसरी हरित क्रान्ति की रणनीति उन फसलों की प्रजनन तकनीकों तथा रासायनिक आगतों के लिए है जिनकी मांग शहरी सम्पन्न आबादी तथा विश्व बाजार में है। दोनों ही स्थितियों में स्थानीय खाद्य सुरक्षा (सुनिश्चित उपलब्धता) का खतरा एकदम वास्तविक है। इसने आम लोगों को अत्यधिक सम्भावित अपौष्टिक खाना खाने का आदी बनाया है तथा केवल एक ही फसल उगाने में जो जोखिम है, वह अलग है। ब्राजील, जो विश्व का तीसरा बड़ा खाद्य निर्यातक देश है और जो 'नये कृषि (में विकसित) देशों' में से एक समझा जाता है, में 54 प्रतिशत उपजाऊ कृषि जमीन पर केवल एक प्रतिशत आबादी का कब्जा है और 320 लाख आबादी (सरकारी अनुमान) कंगाली की स्थिति में है।

राष्ट्रपारीय निगम मुक्त व्यापार प्रणाली से अत्यधिक लाभान्वित होंगे क्योंकि (पारिवारिक खेती से सम्बन्धित) संस्थागत खर्चों में कमी होने से पूंजी प्रोत्साहित होगी और उसकी आवाजाही बढ़ेगी। उदाहरण के लिए, कारगिल एक ऐसा कारपोरेशन है जो संसार को अपना एक सीप (यानी पूरा संसार उसकी मुट्ठी में है) समझता है। निजी स्वामित्व की यह विशालतम कम्पनी विश्व की 11वीं सबसे बड़ी कम्पनी है। कारगिल 60 देशों में 800 कारोबारी स्थानों पर 70,700 लोगों से काम करवाती है। अनाज से लेकर गौमांस पैकिंग, उर्वरक, मूंगफली, नमक, काफी, यातायात, स्टील, रबर, फल और सब्जियों तक इसके पचासों कारोबार हैं।

दुनिया में फैली कम्पनियों और कृषि निर्यात करने वाले राज्य केयर्न्स ग्रुप उदारीकरण प्रक्रिया (पूरे विश्व को मुक्त व्यापार व बाजार के लिए खोलना) के प्रति गैट की बहुपक्षीय पहुंच के प्रमुख समर्थक थे। वास्तव में गैट के उरुग्वे राउण्ड के लिए अमेरिका का पहला मूल प्रस्ताव कारगिल का पूर्व वरिष्ठ उपाध्यक्ष, जो अमेरिकी कृषि विभाग का एक पूर्व अधिकारी भी रहा था, ने तैयार किया था। काण्टीनेण्टल कम्पनी के साथ मिलकर कारगिल अमेरिकी अनाज निर्यात में लगभग 50 प्रतिशत की भागीदारी करती है। खाद्य कम्पनियां, अनाज के व्यापारी और रसायन उद्योग ये सभी मिलकर आमतौर पर विश्व व्यापार संगठन को सरकार के आपूर्ति प्रबन्धन समेत सभी कृषि फार्म सहायता कार्यक्रमों को धीरे-धीरे समाप्त करने के लिए इस्तेमाल करते हैं और अल्पविकसित देशों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध सस्ते श्रम व सस्ती भूमि के साथ प्रतिस्पर्धा में अमेरिकी किसानों को खड़ा कर विश्व स्तर पर कृषि उपज के दामों को गिराने का काम करते है। सरकार के समर्थन मूल्यों को कम करके ये निगम विश्व बाजार में अपनी तुलनात्मक लाभ लेने की क्षमता को बढ़ाते हैं। इसमें इनके कृषि आगतों का स्रोत दुनिया के वे विभिन्न उत्पादन क्षेत्र हैं जो ''मुक्त'' विश्व बाजार के नाम पर इनके तंत्र में सिमटे हुए हैं।

अनाज के बड़े व्यापारियों (अपने आकार के क्रम में : कारगिल, आर्चर डेनियल्स मिडलैण्ड, काण्टीनेण्टल, लोयूस ड्रेफस, बुंगे एण्ड बोर्ने, मित्सुई और फैरूजी) ने विश्व बाजार में अपनी एकाधिकारी शक्ति का न केवल अनाज की आपूर्ति और अनाज के दामों के नियंत्रण को अपने हितों के अनुकूल रखने में इस्तेमाल किया है बल्कि गैट समझौते की वार्ता में कृषि के उदारीकरण हेतु बने कानूनों की अन्तर्वस्तु को भी अपने आर्थिक हितों के अनुकूल बनाने में सलाहकार की हैसियत से प्रभावित किया है। उदाहरणतया गैट समझौता आज उनके इशारे पर (अमेरिकी) राष्ट्रीय कृषि आपूर्ति प्रबन्धन बोर्डों को इस आधार पर चुनौती देता है कि ये विश्व बाजार में कृषि उत्पादों के मुक्त बाजार में बाधक हैं। कनाडा में यह विशेषकर प्रभावकारी रहा है जहां आपूर्ति प्रबन्धन एजेन्सियां बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में कारपोरेट खाद्य निर्माताओं से किसानों की सुरक्षा हेतु अस्तित्व में आईं जिन्हें केवल कारगिल, कनाडा ने चुनौती दी। कारगिल जैसी कम्पनियों ने तमाम दुनिया के किसान संगठनों के विरोध (राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय दोनों स्तरों पर) के बावजूद उत्तरी अमेरिकी मुक्त व्यापार समझौता और गैट समझौता दोनों का पूरी तरह समर्थन किया ताकि व्यापार नीति का एक ऐसा तंत्र एक संस्था के रूप में अस्तित्व में आये जो विश्व बाजार में इस प्रकार की अड़चनों को गैर-कानूनी करार दे सके।

कारपोरेट जगत का राष्ट्रीय नियामक नीतियों पर हमला व्यापारिक रणनीति के साथ-साथ उत्पादन की रणनीति भी है। कम्पनियां या तो सीधे फसलों को क्रय करने तथा खाद्य उत्पादों को संसाधित कर नये बाजारों पर कब्जा जमाना चाहती हैं या सीधे कृषि उत्पादन के सम्पूर्ण तंत्र को संगठित कर अपने अधीन करना चाहती हैं। विशेषकर फल और सब्जी उद्योग में विश्व के अलग-अलग अनेक स्थानों पर ठेके पर (अनुबंधित) खेती कराकर बड़े पैमाने पर कृषि माल का क्रय-विक्रय कराने के नये-नये तौर-तरीके उभर कर अस्तित्व में आ रहे हैं। अनुबंध का रिश्ता किसानों को अनिवार्यतः औद्योगिक गतिविधि में समेट लेता है जिसमें फसलों की कुछ खास किस्में कुछ खास रसायनों की सहायता से उगाई जाती हैं। विश्व के विभिन्न स्थानों पर होने वाली खेती से पूरे वर्ष हरे-भरे ताजा कृषि उत्पाद—फल, सब्जी आदि उपलब्ध कराने के लिए विश्व स्तर

पर इसका नियोजन, नियंत्रण एवं समन्वयन सूचना तकनीकों द्वारा किया जाता है। चिली पूरे यूरोप और उत्तरी अमेरिका को बेमौसमी हरे-भरे फल और सब्जियां उपलब्ध कराने वाला सबसे बड़ा आपूर्तिकर्ता देश है। इस देश में आधे से अधिक फलों का निर्यात केवल पांच राष्ट्रपारीय निगमों द्वारा नियंत्रित किया जाता है। ये अपरम्परागत कृषि निर्यात न केवल स्थानीय कृषि भू-परिदृश्य को विकृत कर रहे हैं बल्कि वे कृषि से जीवन-यापन कर रहे मजदूरों को भी आहत कर रहे हैं—मैक्सिको और चिली देशों के लगभग दो तिहाई मजदूरों को बहुत कम मजदूरी मिलती है (उसका भी कल कोई भरोसा नहीं)। वाटकिंस के अनुसार मैक्सिकों में वाणिज्यिक फार्मों पर काम करने वाले मजदूरों को अनियमित रूप से टुकड़ों में मजदूरी अदा की जाती है। उनको न्यूनतम सामाजिक कल्याण सुरक्षाबीमारी, प्रसूति अवकाश आदि सुविधायें नसीब नहीं और न ही उनको अपनी ट्रेड यूनियन गठित करने का बुनियादी हक ही मिला है।

नये बाजारों पर कब्जा करना उदारीकरण पर भी निर्भर करता है और अक्सर इसे स्थानीय आबादी में लोकप्रिय ब्राण्ड के निर्माता उद्यमों को क्रय करके किया जाता है। इस तरीके को अपनाकर अमेरिकी निगमों (सारा ली, डाउवे एग्बर्ट, कोकोकोला) और यूरोपीय (निगमों नेस्ले, यूनीलीवर, फैरूज्जी, और मांटेडीसन) निगमों ने हंगरी के खाद्य प्रसंस्करण क्षेत्र में महत्वपूर्ण पहुच बना ली है। इसी बीच थाइलैण्ड में स्थापित चारोएन फोकपांड (सी.पी.) ने अपने आहार, पशुधन, मछली उत्पादन और 'फास्ट फूड' के साम्राज्य को दक्षिण पूर्व एशिया से लेकर चीन तक विस्तारित किया है जहां पर सी.पी. सबसे बड़ा विदेशी कृषि कारोबारी है जिसका उद्देश्य हर रसोई में चिकेन पहुंचाना है।

निगमों की बाजार रणनीति में भू-राजनीतिक सम्बन्ध भी शामिल हैं। उदाहरण के लिए 'नेस्ले ब्राजील' ब्राजील को आधार बनाकर पूरे दक्षिणी अमेरिका को बिस्कुट की आपूर्ति करती है। इसी बीच मैक्सिको के खाद्य उद्योग में पूरे 1980 के दशक के दौरान अन्य सभी वस्तुओं के उत्पादन की तुलना में कहीं अधिक प्रतिवर्ष बढ़ोत्तरी हुई। खाद्य प्रसंस्करण उद्योग में यह बढ़ोत्तरी अधिकतर निर्यातोन्मुख माल के उत्पादन के क्षेत्र में केन्द्रित रही जिसकी रफ्तार इतनी तेज थी कि इसने कुल कृषि व्यापार को भी पीछे छोड़ दिया। मैक्सिको में उदारीकरण के फलस्वरूप विदेशी निवेशकर्ताओं को मैक्सिकन या अन्य देशों की पूंजी के साथ मिलकर संयुक्त उद्यम स्थापित करने के लिए नये अवसर उपलब्ध हुए हैं। उदाहरण के लिए ट्रोस्गो ग्रुप एक ऐसा समेकित पोल्ट्री उद्यम है जो मैक्सिको, अमेरिकी और जापानी पूंजी का संयुक्त रूप से इस्तेमाल करता है पर केवल जापानी उपभोगकर्ताओं को अपने बाजार का लक्ष्य बनाता है। नाफ्टा की एक प्रबल समर्थक कम्पनी डेल माण्टे इस समय सार्वजनिक कृषि भूमि (जो कि पहले किसानों के नियंत्रण में थी) का प्रबन्धन करने वाली भूमि कम्पनियों के माध्यम से टमाटर की बड़े पैमाने पर वाणिज्यिक खेती करने का प्रयोग कर रही है।

मैक्सिको में उत्तरोत्तर बढ़ते उदारीकरण के चलते अमेरिकी (बर्ड्स आई, ग्रीन जाएंट, पेप्सिको, जनरल फूड्स, केलॉग्स, कैम्पबेल्स, क्राफ्ट), जापानी (मित्सुई, मित्सुबिशी, सी. इतोह, सुमितोमो) और यूरोपीय (यूनीलीवर, नेस्ले) कम्पनियों ने खाद्य उत्पादन और संस्करण उद्यमों में अपना पूंजीनिवेश बढ़ा दिया है क्योंकि यहां शत-प्रतिशत विदेशी निवेश (मालिकाना हक) का कानूनी प्रावधान है। मेक्सिको के विदेश सचिव ने 1990 के दशक की भविष्यवाणी करते हुए कहा था कि ''मेक्सिको विश्व की उन नयी व्यापारी शक्तियों में से है जिसने विश्व के व्यापार तंत्र में महत्वाकांक्षी सुधार की गति को बनाये रखने में मदद की है।''

'विश्व व्यापार संगठन' के साम्राज्य में विश्व की खाद्य अर्थव्यवस्था

'गैट' वार्ता के उरुग्वे चक्र का आखिरी मुकाम 1994 में 'विश्व व्यापार संगठन' का अस्तित्व में आना था ताकि विश्व स्तर पर बेरोकटोक व्यापार, उद्यमों और सम्पत्ति के अधिकारों को संस्थागत स्वरूप दिया जा सके। विश्व व्यापार संगठन देशों के आर-पार माल के क्रय-विक्रय द्वारा आवाजाही को बढ़ावा देने का केवल तंत्र ही नहीं है, इसे एक नये अधिराष्ट्र (supranational) का राजनीतिक दर्जा प्राप्त है। इसका अपना एक सुस्पष्ट संवैधानिक तंत्र है जिसके द्वारा यह माल की आवाजाही को नियंत्रित करता है। इसके पास विभिन्न राष्ट्रों-उपराष्ट्रों में अपने कायदे-कानूनों को मनवाने का अधिकार है। दावे के साथ कहा जा सकता है कि यह विश्व के आर्थिक महाबली देशों और निगमों के हित में बाजार की शक्तियों के नियमों को क्रियान्वयन कराने में एक तंत्र के रूप में काम करेगा। इस तंत्र के तहत उत्तरी (विकसित) देशों में कृषि क्षेत्र में लगे नियंत्रणों को हटाने के लिए और दक्षिणी (अविकसित) देशों में कृषि निर्यात का विस्तार करने के लिए दबाव डालना देशपारीय कम्पनियों द्वारा राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों और संस्थाओं को दी जाने वाली विश्वव्यापी चुनौती है। उत्तर और दक्षिण में व्याप्त आर्थिक विषमता के कारण आज राष्ट्रपारीय कम्पनियों की दुनिया के कोने-कोने में पहुंच उन्हें (दक्षिण के सस्ते श्रम, कच्चा माल, बाजार) शोषण करने की खुली छूट देती है और विश्व स्तर पर लाभ बटोरने की रणनीति विकसित उत्तरी देशों में किसानों के हित में खड़े संस्थाओं के ढांचे ओर उनके संस्थागत समर्थन को चोट पहुंचाती है।

'विश्व व्यापार संगठन' व्यापार में उदारीकरण कराने का एक एजेण्ट मात्र ही नहीं है। यह उपभोग (खाद्य व अन्य उत्पादों) का प्रबंधन करने सम्बन्धी कारपोरेट जगत के अधिकारों का क्रियान्वयन कराने का न्यायाधिकरण भी है। यह विश्व खाद्योन्पादन पर कृषि रसायन कारपोरेट जगत के छह बड़े समूहों (माण्सेंटो, नोवार्टिस, एग्रोइवो, ड्युपोंट जेनेका और डॉउ), जो आनुवांशिक अभियंत्रण विधि (जेनेटिक इंजीनियरिंग टेकनीक) द्वारा सृजित खाद्य फसलों के विकास में प्रयासरत हैं, के एकाधिकारी प्रभुत्व को और बढ़ाने के काम में लगा हुआ है। उनका यह दावा कि इस समय 300 लाख एकड़ पर अनुवांशिकीय रूपान्तरित फसलें उगाई जा रही हैं, एक विवादास्पद भविष्य का संकेत दे रहा है। इन कम्पनियों का दावा है कि नई जैव तकनीकें कीटनाशकों के इस्तेमाल में कमी लायेंगी और भूख को विश्व पटल से मिटा देंगी। आलोचक इन दावों को झूठा बताते हैं। उनका तर्क है कि इन तकनीकों से छोटे किसानों को लाभ नहीं पहुंचता, ये मानव स्वास्थ्य के लिये खतरा है, इनसे मनुष्य को खाने के लिए गिनी-चुनी फसलों पर निर्भर रहना होगा यानी चुनने के लिए उसके पास कुछ नहीं रहेगा। इस सम्बन्ध में, हालांकि हम देखते हैं कि व्यापक अर्थो में खेती (खेती में इस्तेमाल होने वाले आगत और संस्करण उद्यम आदि आते हैं) आज भी विश्व अर्थ व्यवस्था में एक बड़े भागीदार की हैसियत रखती है। इसलिए विश्व खाद्य सुरक्षा (स्वच्छता) के मानको को बदलवाने के लिए 'जेनेटिकली मॉडिफाइड' खाद्यों के पैरोकारों की लाबी का

पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। साथ ही साथ अमेरिका में खाद्य अवज्ञा कानून बढ़ते जा रहे हैं (हाल में हैम्बर्गर के बारे में उसकी टिप्पणी के लिए ओपराह विनफ्रे के खिलाफ पशुपालकों द्वारा दाखिल मुकदमा) और विश्व स्तर पर आनुवंशिक अभियंत्रण की पैरोकारी में पी.आर. जनसम्पर्क एजेंसियां बहस को निर्देशित कर रही हैं। जी.एम. (जेनेटिकली माडिफाइड) फसलों का विरोध करने वाली सरकारों को चुनौती देने के लिए 'विश्व व्यापार संगठन' का इस्तेमाल किया जा रहा है। उदाहरणतया सितम्बर 1997 में 'विश्व व्यापार संगठन' ने हारमोन द्वारा उत्पादित गोमांस और मांसेंटो के एक रिकाम्बीनेंट ग्रोथ हारमोन पोसीलाक द्वारा उपचारित पशु के दूध के आयात पर यूरोपीय संघ द्वारा प्रतिबंध लगाने के खिलाफ फैसला दिया। ऊपरी तौर से डब्ल्यू.टी.ओ. सभी देशों के हित में काम करता दीखता है पर इसके पीछे एक ऐसी नवउदार विश्व व्यवस्था के कायदे-कानूनों को संस्थागत स्वरूप देने का प्रयास है जो कारपोरेट जगत के नेतृत्व में, पूरे विश्व को आर्थिक रूप से समेकित करने की प्रक्रिया को तेजी से अंजाम देगा। इसके लिए अन्तर्देशीय व्यापार सम्बन्धों को एक औपचारिक संहिता की जरूरत है। बहुत कुछ वैसा ही जैसा कि क्षेत्रीय व्यापार समझौतों के फलने-फूलने में देखा जा सकता है। मुक्त व्यापार समझौतों जैसे उत्तरी अटलांटिक मुक्त व्यापार समझौता (नाफ्टा) में भी व्यापार से खूब मुनाफा बटोरने वाले देशों और कुछ ही मुनाफा पाने वाले देशों के बीच एकदम डब्ल्यू.टी.ओ. के तंत्र जैसी गैर-बराबरी देखी जा सकती है (नाफ्टा इस सम्बन्ध में डब्ल्यू.टी.ओ. का एकदम आइना है) उदाहरण के एिल मैक्सिको में बिना ड्यूटी कर के अमेरिकी मक्का, गेहूं और चावल के आयात पर लगे प्रतिबंध (कोटा) को चरणों में कम किया जा रहा है। मेक्सिको में 25 लाख किसान परिवार वर्षा आश्रित मक्का की खेती करते हैं, जिसकी प्रति हेक्टेयर पैदावार केवल 2-3 टन होती है, जबकि यह मध्यपश्चिमी अमेरिका में 7.5 टन होती है। 'नाफ्टा' समझौते के 2008 तक पूरी तरह क्रियान्वयन होने से मैक्सिको में मक्का के आयाात में 200 प्रतिशत बढ़ोत्तरी होने का अनुमान है जिसके फलस्वरूप यहां होने वाला दो तिहाई मक्के का उत्पादन अमेरिकी प्रतिस्पर्धा के सामने टिक नहीं पायेगा।

'विश्व व्यापार संगठन' की समझौता शर्तो सम्बन्धी वार्ता में एक अधिक व्यापक उठापटक का पूर्वानुमान लगाया जा रहा है। विशेषकर वर्तमान में निवेश पर डब्ल्यू.टी.ओ. की पहुंच पकड़ पर चल रही बहस इस बात से सरोकार रखती है कि विश्व स्तर पर बौद्धिक सम्पदा अधिकार की प्रणाली संस्थागत स्वरूप धारण करे। ट्रिप्स प्रोटोकाल के जरिये विदेशी निवेशकों के व्यापार से सम्बन्धित बौद्धिक सम्पदा अधिकार और सशक्त हुए हैं क्योंकि नये उत्पादों और प्रक्रियाओं को पेटेण्ट कराया जा सकेगा। उदाहरण के लिए इस प्रोटोकाल से विश्व के निगमों को यह सामर्थ्य मिल गई है कि वे बीज जनन द्रव्य जैसे आनुवांशिक पदार्थ को पेटेण्ट करा सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप किसानों के अपनी फसल के बीजों को अगले साल इस्तेमाल करने के परम्परागत अधिकार को अत्यधिक खतरा हो गया है क्योंकि यह पेटेण्ट कानून के उल्लंघन का मामला बनता है। यह मूल रूप में किसानों, जंगलवासियों और स्थानीय समुदायों द्वारा सदियों से फसलों के चयन व खेती में किये गये प्रयोगों से विकसित आनुवांशिक संसाधनों को उनसे छीनने का एक अनोखा तरीका है। यह जैव जनन-द्रव्य तथा जीन की डकैती ही वह केन्द्रीय बिन्दु है जिसके कारण 'विश्व व्यापार संगठन' के खिलाफ जमीनी स्तर पर प्रतिरोध उभर रहा है। प्रतिरोध के और बढ़ने की पूरी सम्भावना है क्योंकि यू. एस.डी.ए., डेल्टा और पाइन लैण्ड कम्पनी (कपास के बीज की विश्व में सबसे बड़ी कम्पनी) ने मिलकर 'टर्मीनेटर जीन' का पेटेण्ट करा लिया है। यह जीन पौधों में उनकी प्रजनन क्षमता को नष्ट कर देता है (इस पौधे में दाने तो बनेंगे पर उन दानों को अगले वर्ष बीज के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जा सकेगा)। इससे बीज पर लाइसेंस वाली बीज और रसायन कम्पनियों का एकक्षत्र अधिकार हो जायेगा। परिणामस्वरूप किसान हर साल नया बीज खरीदने को मजबूर होंगे। यू.एस.डी.ए. जहां एक ओर विकासशील देशों में (जहां किसान अपने खेत की उपज के एक हिस्से को अगले साल बीज के लिए इस्तेमाल करते हैं) बीज कम्पनियों के लिए बीज बाजार निर्मित करने व उस पर कब्जा जमाने में इस टर्मीनेटर जीन को एक इंजन के रूप में देखता है वहीं आलोचक इस बात का संकेत दे रहे हैं कि यह ट्रांसजेनिक टेक्नालाजी लाखों-लाख छोटे किसानों द्वारा सदियों से किये गये पौध प्रजनन को जड़मूल से नष्ट करने पर आमादा है। इससे किसानों की रोजी-रोटी पर गंभीर खतरा मंडरा रहा है।

विश्व व्यापार संगठन अभी तक व्यापार से सम्बन्धित निवेश उपायों—प्रोटोकाल के तहत केवल उन्हीं निवेशों पर फैसले करने का हकदार था जो व्यापार से सम्बन्धित थे। पर अब इसका दायरा और विस्तृत होने जा रहा है। अमेरिका और जापान के समर्थन से यूरोपीय कमीशन ने 'निवेश सम्बन्धी बहुपक्षीय समझौते' के एक ऐसे मसौदे का प्रस्ताव बनाया है जिसके अनुसार विभिन्न देशों में विदेशी निवेश के सभी प्रकार के प्रतिबन्धों में ढील दी जा सकेगी, अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र में विदेशियों को पूंजी निवेश करने और प्रतिस्पर्धा करते हुए व्यवसाय करने का कानूनी अधिकार होगा और पारदेशीय कम्पनियों को घरेलू कम्पनियों जैसे ही अधिकार होंगे।

निवेश सम्बन्धी यह बहुपक्षीय समझौता इस समय यद्यपि राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर उभरे जन-प्रतिरोध के बाद 1994 के बसन्त में रुक गया है लेकिन अगर यह लागू हुआ तो विदेशी निवेशकों को घरेलू निवेशकों जैसी सुविधायें प्राप्त करने के लिए कानूनों को पारदर्शी बनवाने का प्रयास करेगा और राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार बिना रोकटोक पूंजी के आवागमन को, प्रतिबन्ध हटवाकर सुगम बनायेगा। यह सरकारों द्वारा अपने सामाजिक और पर्यावरणीय दायित्वों को अंजाम देने के लिए निवेश नीति का इस्तेमाल करने या विदेशी निवेश पर उसके उत्पादन प्रदर्शन पर लगाम लगाने के अधिकार में कटौती करवायेगा। मसौदे की संहिता में वे सब प्रस्ताव शामिल हैं जिसमें निगमों (और फाइनेन्सरों) के पूंजी निवेशकर्ता के रूप में उनके अधिकारों को संस्था का स्वरूप प्रदान करना है—ऐसे कानूनी दर्जे के साथ उन्हें राष्ट्र-राज्यों के समतुल्य बनाता है जिसमें सरकारों के पास अपने नाागरिकों की ओर से इन निवेश कर्ताओं के विरुद्ध हानि का मुकदमा दायर करने का कोई अधिकार नहीं रह जायेगा। इतना ही नहीं, बहुपक्षीय निवेश समझौते में उदारीकरण के नये उपायों को स्थायित्व देने के अनुबंध का प्रस्ताव है ताकि भागीदार देशों की सरकारों में परिवर्तन से इन पर कोई प्रभाव न पड़े—पांच साल तक वे इस प्रणाली से अपने को अलग नहीं कर सकेंगे जबकि वर्तमान में निवेश के कायदे-कानून और 15 सालों तक लागू रहेंगे।

निष्कर्ष

कृषि कारोबार में उदारीकरण विश्व के आर्थिक समेकन को कानूनी जामा पहनाने के प्रयास का गहन द्योतक है। ठीक इसलिए कि

कृषि की ऐतिहासिक पहचान ऐतिहासिक रूप से स्थान व राष्ट्र से जुड़ी हुई है। आर्थिक उदारीकरण द्वारा अधिक से अधिक समेकन सभी राष्ट्रों को परिवर्तित कर देता है, साथ ही यह विश्व के शक्ति-सम्बन्धों को भी और सुदृढ़ बनाता है—इस मामले में कृषि कारोबार साम्राज्यवाद के सम्बन्धों को। अर्थात जिन्हें 'व्यापार के सार्वभौमिक नियमों' के रूप में पेश किया जाता है (जिनको मानने के लिए अलग-अलग राष्ट्र अलग-अलग वचनबद्ध होते हैं) वे वास्तव में दूर स्थित भू-राजनीतिक व कारपोरेट हितों को सुदृढ़ करने यानी उनकी सेवा में समर्पित होते हैं।

विश्व की कृषि में संस्थागत रूप से संचालित उदारीकरण की प्रक्रिया खाद्य आयात करने वाले गरीब देशों में उनके स्थानीय किसानों की सुरक्षा करने की सामर्थ्य का क्षरण करती है और खाद्य को बाजार से खरीदे-बेचे जाने वाले 'माल' में तब्दील कर एक नये कार्य क्षेत्र को जन्म देती है। 'विश्व व्यापार संगठन' जैसी भूमण्डलीय नियामक संस्थायें दुनिया के भूपटल पर एक छोर से दूसरे दोर तक फैले किसानों की छाती को रौंदकर फलती-फूलती (उत्तरी) एग्रीबिजनेस कम्पनियों की शक्ति को और बढ़ाती है, ग्रामीण आबादी के अन्दर उथल-पुथल असन्तोष को बढ़ाती हैं और स्थानीय खाद्य सुरक्षा (उपलब्धता व सुलभता) के संकट को और गहराती हैं। यह प्रक्रिया कितनी दूर तक जायेगी यह प्रश्न अनुत्तरित है क्योंकि विशेषकर इसलिए कि नागरिकों और मजदूरों, फार्मरों और किसानों को और अलग-अलग देशों में आन्दोलनों को इस बात का आभास हो रहा है कि भूमण्डलीकरण एक राजनीतिक परियोजना के रूप में पूर्व निश्चित निष्कर्ष ही नहीं है जो कि विश्व के खास तबके (विशिष्ट आबादी) को अनन्त सम्पदा बटोरने का सदैव अवसर मुहैया कराता रहेगा।

●

लेखक 'ग्रामीण एवं विकास समाजशास्त्र' के प्रोफेसर एवं कॉर्नेल विश्वविद्यालय, अमेरिका में अन्तरराष्ट्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्र कार्यक्रम के निदेशक हैं।

अनुवाद : **प्यारेलाल**

('मंथली रिव्यू', वर्ष 50, अंक 3, 1998 से साभार)

केन्द्रीय अध्ययन कक्षा को रिपोर्ट

(पृष्ठ 46 का शेष)

आधुनिक युग का कनफ्यूशियस था। इसलिए हमारे दिमाग में बैठी कनफ्यूशियस की दुकान को बन्द करने के लिए लिन प्याओ और कनफ्यूशियस की आलोचना साथ-साथ की जा सकती है और की जानी चाहिए। कनफ्यूशियस का युग दास प्रथा से सामन्तवाद के संक्रमण का युग था। वह सामाजिक व्यवस्था में बदलाव से घृणा करता था, उसने दास प्रथा को बचाने की पुरजोर कोशिशें कीं और इतिहास के चक्र को रोकने की नाकाम कोशिश में सामन्ती व्यवस्था का विरोध किया। लू राज्य का प्रधानमंत्री बनने के सात दिन बाद उसने एक क्रान्तिकारी शाओ चिङ-माओ को मृत्युदण्ड दे दिया। जब उसे पता चला कि जान यू नामक उसका एक शिष्य बदलाव की बातें सोच रहा है तो उसने कुछ अन्य शिष्यों को उस पर हमला करने के लिए उकसाया। इसलिए अध्यक्ष माओ ने कहा है, ''कनफ्यूशियस की कार्यशैली तानाशाह की शैली से मेल खाती है और इससे फासीवाद की बू आती है।'' अपनी इन हरकतों के कारण उसे तीन महीने बाद पद से हटना पड़ा। पद पर नहीं रहने के बावजूद पुनर्स्थापना की उसकी इच्छा मरी नहीं। वह हर जगह अपने विचारों को फैलाने की कोशिश करता रहा और जब भी वह स्थिति को बेहतर होते देखता था तो वह चिल्लाता था ''मर्यादा का हनन हो रहा है! संगीत ध्वस्त हो रहा है!'' अभी कल ही *पीपुल्स डेली* ने इस बारे में चे चुन का एक लेख छापा है। यह लेख बहुत अच्छी तरह लिखा हुआ है; मुझे आशा है कि आप सब इसे बहुत ध्यान से पढ़ेंगे।

कुछ लोगों का मार्क्सवाद-लेनिनवाद से कोई लगाव नहीं है लेकिन वे संशोधनवाद के पीछे भागते हैं। वे महान सांस्कृतिक क्रान्ति में पैदा हुई नई चीजों के देखने के आदी नहीं हैं और पुरानी चीजों के पीछे भागते हैं।

अध्यक्ष माओ ने कहा है, ''पूंजीवाद और पूंजीवादी प्रणाली का सूर्यास्त हो रहा है। वे अंतिम सांसें गिन रहे हैं और किसी भी क्षण उनकी मृत्यु हो सकती है'। दूसरी ओर कम्युनिज्म और कम्युनिस्ट सामाजिक प्रणाली लहरों और घनघोर घटाओं की तरह पूरी दुनिया में फैल रही हैं और वे चढ़ती जवानी की उम्र में हैं।'' कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य जिसका लक्ष्य कम्युनिज्म है इस तरह पुरानी चीजों के पीछे क्यों भागता है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर आज यहां मौजूद सभी कामरेडों को ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

हमारा मुख्य उद्देश्य कामरेडों से यह अपील करना है कि वे महान सांस्कृतिक क्रान्ति शुरू होने के बाद से जारी अध्यक्ष माओ के महत्वपूर्ण निर्देशों की श्रृंखला का गंभीरता के साथ अध्ययन करें और संशोधनवाद नहीं बल्कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद पर अमल करने के तीन उसूलों को याद रखें। हाल ही में अध्यक्ष माओ ने हमें चेतावनी दी है, ''कामरेडो, होशियार! संशोधनवाद जल्दी ही चीन में सामने आयेगा।'' उन्होंने यह भी बताया कि बहुत से लोग राजनीतिक हालात की जानकारी के बिना ही राजनीति की आलोचना करते हैं और सैनिक मामलों का आयोग न तो सेना के बारे में जानता है और न ही राजनीति के बारे में। ये निर्देश सभी क्षेत्रों में सरकारी कर्मियों, सैनिकों और विद्यार्थियों पर लागू होते हैं। वे हमें उन महत्वपूर्ण घटनाओं पर ध्यान देने की याद दिलाते हैं जिनका हमें अध्ययन करना चाहिए। अगर संशोधनवाद भविष्य में सामने आया तो वह अधिरचना में दिखायी देगा।

अध्यक्ष माओ ने हाल ही में यह निर्देश भी दिया कि हम *अनुशासन के तीन मुख्य नियम और ध्यान देने योग्य आठ मुख्य बातों* को भी ध्यान में रखें। मुख्य रूप से वे हमें यह याद दिलाना चाहते हैं कि केवल एकता ही हमें जीत की ओर ले जा सकती है। अध्यक्ष माओ के निर्देशों की हमें सही समझ और अहसास होना चाहिए ताकि ''दसवीं कांग्रेस'' की भावना को बेहतर ढंग से आगे बढ़ाया जा सके और हम और बड़ी जीतें हासिल करने के लिए बेहतर ढंग से एकताबद्ध हो सकें। ●

इंकलाब के लिए जरूरी है एक इंकलाबी पार्टी
और इंकलाबी पार्टी के लिए जरूरी है एक इंकलाबी अखबार

पढ़िए **नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल** **मूल्य : तीन रुपए**

सम्पादकीय कार्यालय : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ**
email : **bigulakhbar@hotmail.com**

मई दिवस 1947

हावर्ड फास्ट

यह है एक गाथा पर आप सबके लिए नहीं...

1947 के मई दिवस के अवसर पर लिखा प्रसिद्ध अमरीकी उपन्यासकार हावर्ड फास्ट का यह लेख मई दिवस की गौरवशाली परम्पराओं की याद एक ऐसे समय करता है जब अमरीका में लम्बे संघर्षो से हासिल मजदूर अधिकारों पर हमला बोला जा रहा था। आज जब भारत में देशी-विदेशी पूंजी की मिली-जुली ताकत ने श्रम पर जबर्दस्त हमला बोल दिया है और श्रम की कतारों में हताशा और बिखराव है, यह गाथा ताकत और उत्साह से भर देती है। सं.

...आपमें से बस उनके लिए जो जिन्दगी से प्यार करते हैं और जो आजाद इन्सानों की तरह जीना चाहते हैं। आप सबके लिए नहीं, आपमें से बस उनके लिए, जो हर उस चीज से नफरत करते हैं, जो अन्यायपूर्ण और गलत है, जो भूख, बदहाली और बेघरबारपन में कोई कल्याणकारी तत्व नहीं देखते। आपमें से उनके लिए, जिन्हें वह समय याद है, जब एक करोड़ बीस लाख बेरोजगार बिल्कुल सूनी-सूनी आंखों से भविष्य को निहारा करते थे।...

यह है गाथा, उनके लिए, जिन्होंने भूखे शिशु की धीमी पड़ती जाती कराह या इन्सान की वेदना का स्वर सुना हो। आपमें से बस उनके लिए, जिन्होंने तोपों का गर्जन सुना हो और टारपीडो के दागे जाने की आवाज पर कान लगाये हों। आपमें से बस उनके लिए, जिन्होंने फासिज्म द्वारा बिछायी गयी लाशों का अम्बार देखा हो।. ..

आपमें से बस उनके लिए, जिन्होंने युद्ध के दानव की मांसपेशियों को फौलादी बनाने में कुछ भी न उठा रखा हो और उसके मेहनताने के रूप में एटमी मौत की नींद हराम कर देने वाला खौफ न पाया हो।

यह गाथा उनके लिए है। उन मांओं के लिए जो अपने बच्चों को मरने के बजाय जिन्दा देखना चाहती हैं। उन मेहनतकशों के लिए, जिन्हें पता है कि फासिस्ट सबसे पहले मजदूर यूनियनों को ही तोड़ते हैं... उन भूतपूर्व सैनिकों के लिए, जिन्हें पता है कि जो युद्धों को जन्म देते हैं, वे खुद नहीं लड़ते। ...उन छात्रों के लिए, जो जानते हैं कि स्वतंत्रता के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना स्वतंत्रता नहीं मिलती।

उन बुद्धिजीवियों के लिए, जो मौत के मुंह में पहुंचाये जायेंगे, अगर फासिज्म जिंदा रहता है। उन नीग्रो लोगों के लिए जो जानते हैं कि काले लोगों के लिए अलग-थलग बस्तियां और प्रतिक्रियावाद दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

उन यहूदियों के लिए जिन्होंने ''सहृदय भद्र'' हिटलर से सीखा कि यहूदी विरोध की भावना असल में क्या होती है। और यह गाथा बच्चों के लिए, सारे बच्चों के लिए, हर रंग, हर नस्ल, हर आस्था-धर्म के बच्चों के लिए, उन सबके लिए लिखी गयी है, उनका भविष्य जीवन से भरपूर हो, मौत से नहीं।

यह गाथा है जनता की शक्ति की, उनके अपने उस दिन की, जिसे उन्होंने स्वयं चुना था और जिस दिन को वे अपनी एकता तथा शक्ति का पर्व मनाते हैं। यह वह दिन है जो अमरीकी मजदूर वर्ग का संसार को उपहार था और जिस पर हमें हमेशा फख्र रहेगा।

आपको उन्होंने यह नहीं बताया

...स्कूल में आपने इतिहास की पुस्तकों में पढ़ा होगा कि ''मई दिवस'' की शुरुआत कैसे हुई थी। परन्तु हमारे अतीत में बहुत कुछ उदात्त था और साहस से भरपूर था, जिसे इतिहास के पन्नों से बहुत सावधानी से मिटा दिया गया। कहा जाता है कि ''मई-दिवस'' बाहर से ''आयातित'' था। परन्तु उन लोगों के लिए, जिन्होंने 1886 में शिकागो में पहले ''मई-दिवस'' के इतिहास की रचना की थी उनके लिए उसमें कुछ भी ''आयातित'' न था। उसे तो उन्होंने स्वदेशी सूत से बुना था। उजरती श्रम इन्सानों की जिन्दगी के साथ क्या करता है, उस पर उनके गुस्से को ''आयात'' करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

पहला ''मई दिवस'' 1886 में शिकागो नगर में मनाया गया। उसकी भी एक पूर्वपीठिका थी, जिसके दृश्यों को याद कर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा[1]। 1886 से पहले एक दशक तक अमेरिकी मजदूर वर्ग जन्म और संवर्द्धन की प्रक्रिया से गुजर रहा था। पर यह प्रक्रिया कदापि रक्तहीन नहीं थी। देखते ही देखते एक महासागर से दूसरे महासागर तक फैले किशोर राष्ट्र ने नये-नये नगर खड़े कर दिये, मैदानों में रेलवे लाइनों का जाल बिछाकर उन्हें एक-दूसरे से जोड़ दिया, उन बीहड़ अगम्य घोर अंधेरे वनों को वशीभूत किया, जिन पर पहले कभी मनुष्य के पांव नहीं पड़े थे। और अब वह पहला औद्योगिक देश बनने की राह पर आगे बढ़ रहा था। और ऐसा करते समय वह राष्ट्र उन लोगों पर ही टूट पड़ा, जिन्होंने कमरतोड़ मेहनत की थी और अपने हाथों से उसका, जिसे अमरीका कहते हैं, निर्माण किया था। इस नये राज्य ने उन मेहनतकशों के शरीर से उनका जीवन ही निचोड़ डाला।

स्त्री-पुरुष और यहां तक कि बच्चे भी नये-नये अमरीकी कल-कारखानों में अक्षरशः दम टूटने तक मेहनत करते थे। बारह घंटे का कार्य-दिवस सामान्य रूप से लागू था 14 घंटे काम का दिन दुर्लभ नहीं था और कई स्थानों में बच्चों तक को सोलह से लेकर अठारह घंटे रोज काम करना पड़ता था। उजरत बहुत ही कम हुआ करती थी, वह अक्सर दो जून रोटी पाने के लिए भी काफी नहीं होती थी। और उधर विषादमय नियमितता के साथ मंदी का समय-चक्र घूमता रहा और उसके साथ आम बेरोजगारी का दौर-दौरा शुरू हुआ। सरकारी निषेधाज्ञाओं के जरिये शासन रोज की बात थी।

परन्तु अमरीकी मजदूर वर्ग दीन-हीन, बेजुबान नहीं था। उसने यह स्थिति स्वीकार नहीं की, उसे किस्मत में बदी बात मान कर सहन नहीं किया। उसने जवाबी हमला किया और पूरी दुनिया को मेहनतकशों के जुझारूपन का पाठ पढ़ाया। उस जुझारूपन की आज भी कोई दूसरी मिसाल नहीं मिलती।

1877 में वेस्ट वर्जीनिया प्रदेश में मार्टिन्सबर्ग में रेल-हड़ताल शुरू हुई। हथियारबंद पुलिस बुला ली गयी। मजदूरों के साथ थोड़ी देर की लड़ाई के बाद हड़ताल कुचल दी गयी। परन्तु केवल स्थानीय तौर पर। जो चिनगारी भड़की थी, वह

ज्वाला बन गयी। **''बाल्टीमोर और ओहिओ''** रेलमार्ग बंद हुआ, फिर पेन्सिल वानिया बन्द हुआ। फिर क्या था, एक के बाद दूसरी रेल कम्पनियों का चक्का जाम होता चला गया। और आखिरकार एक छोटा-सा धमाका इतिहास में ऐसी रेल हड़ताल के रूप में दर्ज हुआ, जिसे दुनिया ने न पहले कभी देखा था और न सुना था। दूसरे उद्योग भी उसमें शामिल हो गये। कई इलाकों में रेल-हड़ताल आम हड़ताल में तब्दील हो गयी। पहली बार सरकार और साथ ही मालिक-समुदाय को पता चला कि मजदूर की ताकत क्या होती है। उन्होंने पुलिस और फौज बुलायी। जगह-जगह जासूस तैनात किये गये। कई जगहों में जमकर लड़ाइयां हुईं। सेंट लुई में नागरिक प्रशासन के अधिकारियों ने हथियार डाल दिये और नगर मजदूर वर्ग के हवाले कर दिया। उन लोमहर्षक ''विस्फोटों'' में कितने हताहत हुए होंगे, उन्हें आज कोई नहीं गिना सकता। परन्तु हताहतों की संख्या बहुत बड़ी रही होगी, इस पर कोई भी, जिसने स्थिति का अवलोकन-अध्ययन किया, सन्देह नहीं कर सकता।

हड़ताल आखिरकार टूट गयी। परन्तु अमरीकी मजदूर अब अपनी भुजाएं फैलाने लगे, उनके श्वास-उच्छवास में नयी जागरूकता को महसूस किया जा सकता था। प्रसव-वेदना समाप्त हो चुकी थी, नये युग का पदार्पण हो चुका था।

अगला दशक संघर्ष का दौर था। शुरू-शुरू में तो जीवित रहने का संघर्ष जिसके गर्भ से संगठन बनाने के संघर्ष ने जन्म लिया। सरकार ने 1877 को सहज ढंग से नहीं भुलाया। अमरीका के भिन्न-भिन्न शहरों में शस्त्रागारों का निर्माण होने लगा था, मुख्य सड़कें चौड़ी की जाने लगीं, ताकि ''गैटलिंग'' मशीनगनें उन्हें अपने नियंत्रण में रख सकें।

एक प्राइवेट श्रम-पुलिस संगठन ''पिंकरटन एजेंसी'' का गठन किया गया। मजदूरों का दमन करने के लिए कार्रवाइयां अधिकाधिक क्रूर रूप धारण करती चली गयीं। वैसे तो अमरीका में ''लाल खतरे'' फिकरे का उपयोग प्रोपेगैंडा के लिए 1830 के दशक से ही होता चला आया था, लेकिन उसे अब एक ऐसे डरावने हौवे का रूप दे दिया गया, जो आज प्रत्यक्ष तौर पर हमारे सामने है।

परन्तु मजदूर चुपचाप हाथ पर हाथ रखे नहीं बैठे रहे। भूमिगत रूप में जन्मे **नाइट्स आफ लेबर (श्रम-सूरमा)** के सदस्यों की संख्या 1886 तक 700000 से ज्यादा हो गयी थी। नवजात **अमेरिकन फेडरेशन आफ लेबर** (अमरीकी मजदूर संघ) का मजदूर यूनियनों की स्वैच्छिक संस्था के रूप में गठन किया गया, जिनके लक्ष्यों में से एक समाजवाद था। यह संस्था बहुत तेज रफ्तार से विकसित होती चली गयी। यह वर्ग-सचेत और जुझारू थी और अपनी मांगों की पूर्ति के लिए चट्टान की तरह अडिग थी। एक नया नारा बुलंद हुआ। एक नयी, दो टूक, साफ-साफ मांग पेश की गयी : **''आठ घंटे मजदूरी, आठ घंटे नींद, आठ घंटे मनोरंजन''**।

1886 तक अमरीकी मजदूर युवा बाहुबली बन चुका था, जो अपनी ताकत परखने के लिए तैयार था। उसका मुकाबला करने के लिए सरकारी शस्त्रागारों का निर्माण किया गया, पर वे नाकाफी थे। ''पिंकरटनों'' का प्राइवेट पुलिस दल नाकाफी साबित हुआ, गैटलिंग मशीनगनें भी नाकाफी रहीं। संगठित मजदूर कदम से कदम मिलाकर आगे बढ़ते जा रहे थे। उनका एक ही जुझारू नारा था। **''एक दिन में आठ घंटे का काम, इससे जरा भी ज्यादा नहीं''।** और यह नारा देश के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रतिध्वनित होता रहा।

उस जमाने में, 1886 में, शिकागो संघर्षशील, वामपक्षी मजदूर आन्दोलन का केन्द्र था। यहीं शिकागो में संयुक्त मजदूर प्रदर्शन के विचार ने जन्म लिया। इसे उनका अपना ही दिन बनना था, किसी और का नहीं, ऐसा दिन बनना था, जब वे अपने काम के औजार रख देंगे और कंधे से कंधे मिलाकर अपनी शक्ति प्रदर्शित करेंगे।

पहली मई को मजदूर वर्ग के दिवस के, जनता के दिवस के रूप में चुना गया। प्रदर्शन करने की तैयारी के वास्ते काफी पहले ही ''आठ घंटे का कार्य दिवस'' नाम की संस्था गठित कर ली गयी थी। **अमेरिकन फेडरेशन आफ लेबर** (अमरीकी मजदूर संघ), ''श्रम सूरमा'' और **सोशलिस्ट लेबर पार्टी** (समाजवादी मजदूर पार्टी) को मिलाकर ''आठ घण्टे का कार्य दिवस'' नामक यह संस्था बनायी गयी थी। शिकागो की **सेंट्रल लेबर यूनियन** (केन्द्रीय मजदूर यूनियन) भी, जिसमें सबसे अधिक जुझारू वामपक्षी यूनियनें शामिल थीं) इस संस्था से जुड़ी थी।

शिकागो से शुरुआत कोई मामूली बात नहीं थी। ''मई दिवस'' की पूर्ववेला में एकजुटता के लिए आयोजित सभा में 25000 मजदूर उपस्थित हुए। और जब स्वयं ''मई दिवस'' आया, तो शिकागो के मजदूरों का सैलाब चारों दिशाओं से उसमें भाग लेने उमड़ने लगा। छोटे-बड़े कल-कारखानों में वे अपने औजार छोड़कर बाहर निकल आये और मार्च करते हुए हजारों की तादाद में आम सभाओं में भाग लेने पहुंचे। और उस समय भी, जब ''मई दिवस'' का अभी-अभी जन्म ही हुआ था, मध्य वर्ग के हजारों लोग मजदूरों की कतारों में शामिल थे। और एकता-एकजुटता के इस परिदृश्य की दूसरे बहुत-से अमरीकी शहरों में पुनरावृत्ति हुई।

और आज की तरह उस वक्त भी धन-कुबेरों ने रक्तपात, आतंक, न्यायिक हत्या के माध्यम से बदला लेते हुए जवाबी हमला किया। दो दिन बाद मैकार्मिक रीपर कारखाने में, जहां हड़ताल चल रही थी, एक आम सभा पर पुलिस ने हमला किया। उसमें छह मजदूरों की हत्या हुई। अगले दिन इस जघन्य कार्रवाई के विरुद्ध हे मार्केट स्कवायर में मजदूरों ने प्रदर्शन किया, तो पुलिस ने फिर हमला किया। कहीं से एक बम फेंका गया, जिसके फटने से बहुत से मजदूर और पुलिस वाले मारे गये। इस बात का कभी पता नहीं चल पाया कि बम किसने फेंका था, इसके बावजूद चार अमरीकी मजदूर नेताओं को फांसी दे दी गयी, उस अपराध के लिए, जो उन्होंने कभी किया ही नहीं था ओर जिसके लिए वे निर्दोष सिद्ध हो चुके थे।

आगस्ट स्पाइस ने जो इन शहीदों में से एक थे फांसी के फंदे के पास खड़े होकर बहुत ऊंची आवाज में कहा थाः

''एक ऐसा वक्त आयेगा, जब हमारी खामोशी उन आवाजों से ज्यादा ताकतवर सिद्ध होगी, जिन्हें आज तुम खामोश कर रहे हो।'' कितने सच्चाई भरे थे ये शब्द, यह समय ने सिद्ध कर दिया है। शिकागो ने ''मई-दिवस'' दुनिया को दिया था और बासठवें मई दिवस पर करोड़ों की संख्या में दुनिया के लोगों ने **आगस्ट स्पाइस** की भविष्यवाणी को सच साबित कर दिया है।

शिकागो में हुए प्रदर्शन के तीन वर्ष बाद संसार भर के मजदूर वर्ग के नेता पेरिस में जमा हुए जिसमें विभिन्न राष्ट्रों के एक के बाद दूसरे नेता ने भाषण दिया। ये लोग बास्तीय* की मुक्ति की एक सौवीं जयन्ती मनाने आये थे।

आखिर में अमरीकनों के बोलने की बारी आयी। जो मजदूर हमारे मजदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहा था, खड़ा हुआ और बिल्कुल सरल भाषा में, बिना किसी घुमाव-फिराव के उसने आठ घंटे के कार्य दिवस के लिए संघर्ष की कहानी सुनायी, जिसका चरम बिन्दु 1886

* बास्तीय : पेरिस के करीब का एक दुर्ग जहां राजनीतिक बन्दियों को रखा जाता था। 14 जुलाई 1789 को बास्तीय पर जनता के धावे के साथ ही फ्रांसीसी क्रान्ति शुरू हुई थी।

में हे मार्केट का शर्मनाक काण्ड था।

उसने हिंसा, खूंरेजी, बहादुरी का जो सजीव चित्र पेश किया, उसे सम्मेलन में आये प्रतिनिधि वर्षों तक नहीं भूले। उसने बताया कि पार्सन्स ने कैसे मृत्यु का वरण किया था, जबकि उससे कहा गया था कि अगर वह अपने साथियों से अपने को अलग कर ले और क्षमा मांगे तो उसे फांसी नहीं दी जायेगी। वक्ता ने श्रोताओं को बताया कि कैसे दस आयरिश खान मजदूरों को पेनसिल्वानिया में इसलिए फांसी दी गयी थी कि उन्होंने मजदूरों के संगठित होने के अधिकार के लिए लड़ाई लड़ी थी। उसने उन असल लड़ाइयों के बारे में बताया, जिनमें मजदूर हथियारबंद ''पिंकरटनों'' से लड़े थे। और उसने और बहुत कुछ बताया। जब उसने अपना भाषण समाप्त किया तो पेरिस कांग्रेस ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया :

''कांग्रेस फैसला करती है कि राज्यों के अधिकारियों से कार्य दिवस को कानूनी ढंग से घटाकर आठ घंटे करने की मांग करने के लिए और साथ ही पेरिस कांग्रेस के अन्य निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए समस्त देशों और नगरों से मेहनतकश अवाम एक निर्धारित दिन एक महान अन्तरराष्ट्रीय प्रदर्शन संगठित करेंगे। चूंकि अमेरिकन फेडरेशन आफ लेबर (अमरीकी मजदूर संघ) पहली मई 1890 को ऐसा ही प्रदर्शन करने का फैसला कर चुका है, *''अतः यह दिन अन्तरराष्ट्रीय प्रदर्शन के लिए स्वीकार किया जाता है। विभिन्न देशों के मजदूरों को प्रत्येक देश में विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार यह प्रदर्शन अवश्य आयोजित करना चाहिए।''*

तो इस निश्चय पर मंजूरी की मुहर लगा दी गयी। ''मई दिवस'' पूरे संसार की धरोहर बन गया। अच्छी चीजें किसी एक जनता या राष्ट्र की सम्पत्ति नहीं होतीं। एक के बाद दूसरे देश के मजदूर ज्यों-ज्यों मई दिवस को अपने जीवन, अपने संघर्षो, अपनी आशाओं का अविभाज्य अंग बनाते गये, वे यह एक स्वयंसिद्ध तथ्य मानने लगे कि यह उनका अपना दिन है, और यह सही भी है क्योंकि पृथ्वी पर मौजूद समस्त जातियों, राष्ट्रों के बीच हमारी अपनी अलग ही हस्ती है, हम समस्त जनगण और संस्कृतियों का समुच्चय हैं।

और आज का मई दिवस?

पिछले मई दिवस गत आधी शताब्दी के संघर्षों को प्रकाश-स्तम्भों की भांति आलोकित करते हैं। इस शताब्दी के आरम्भ में मई दिवस के ही दिन मजदूर वर्ग ने पहले तो परायी धरती को हड़पने की साम्राज्यवादी कार्रवाइयों की सबसे पहले भर्त्सना की थी। मई दिवस के ही अवसर पर मजदूरों ने नवजात समाजवादी राज्य सोवियत संघ—का समर्थन करने के लिये आवाज बुलंद की थी। मई दिवस के अवसर पर ही हमने अपनी भरपूर शक्ति से असंगठितों के संगठन का समारोह मनाया था। लेकिन बीते किसी भी मई दिवस पर कभी ऐसे अनिष्टसूचक लेकिन साथ ही इतने आशा भरे भविष्य के साथ हमारा आमना-सामना नहीं हुआ था, जितना आज मई दिवस पर हो रहा है। **पहले कभी इतना कुछ जीतने के लिए हमारे पास नहीं था, पहले कभी इतना कुछ खोने के लिए हमारे पास नहीं था।**

जनता के लिए अपनी बात कह पाना आसान नहीं है। लोगों के पास अखबार या मंच नहीं है। और न ही सरकार चलाने वालों में हमारे द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों की बहुसंख्या है। रेडियो जनता का नहीं है और न फिल्मे बनाने वाली मशीनरी उसकी है। धनकुबेरों की इजारेदारी नियंत्रण की नकेल को कसकर थामे हुए है, बहुत अच्छी तरह कसकर थामे हुए है। लेकिन जनता पर तो किसी की इजारेदारी नहीं है।

जनता की ताकत उसकी अपनी ताकत है। मई दिवस उसका अपना दिवस है, अपनी यह ताकत प्रदर्शित करने का दिवस है। कदम से कदम मिलाकर बढ़ते लाखों लोगों की कतारों के बीच अलग से एक आवाज बुलंद हो रही है। यह वक्त है कि वे लोग, जो अमरीका को फासिज्म के हवाले करने पर आमादा है, इस आवाज को सुनें।

उन्हें यह बताने का वक्त है कि वास्तविक मजदूरी लगभग पचास प्रतिशत घट गयी है, कि घरों में अनाज के कनस्तर खाली हैं, कि यहां अमरीका में अधिकाधिक लोग भूख की चपेट में आ रहे हैं।

यह वक्त है श्रम विरोधी कानूनों के खिलाफ आवाज बुलन्द करने का। दो सौ से ज्यादा श्रम विरोधी कानूनों के विधेयक कांग्रेस के समक्ष विचाराधीन आ रहे हैं, जो यकीनन मजदूरों को उसी तरह तोड़ डालने के रास्ते खोल देंगे, जिस तरह हिटलर के नाजीवाद ने जर्मन मजदूरों को तोड़ डाला था।

संगठित अमरीकी मजदूरों के लिए आंख खोलकर यह तथ्य देखने का वक्त आ गया है कि यह मजदूरों की एकता कायम करने की आखिरी घड़ी है वरना बहुत विलम्ब हो जायेगा और एकताबद्ध करने के लिए संगठित मजदूर रहेंगे ही नहीं।

आप यहां पढ़ रहे हैं गाथा, उन लोगों की जो बारह से पन्द्रह घंटे रोज काम करते थे, आप पढ़ रहे हैं गाथा, उस सरकार की, जो आतंक और निषेधाज्ञाओं के बल पर चल रही है।

यह है उन लोगों का लक्ष्य, जो आज श्रमिकों को चकनाचूर करना चाहते हैं। वे अपने ''अच्छे'' दिनों को फिर वापस लाना चाहते हैं। इसका सबूत यूनाइटेड माइन के खनिक मजदूरों के मामले में सुप्रीम कोर्ट का फैसला है। आप जब मई दिवस के अवसर पर मार्च करेंगे तो आप उन्हें अपना जवाब देंगे।

वक्त आ गया है यह समझने का कि ''अमरीकी साम्राज्य'' के आह्वान का, यूनान, तुर्की और चीन में हस्तक्षेप से क्या रिश्ता है! साम्राज्य की कीमत क्या है? जो दुनिया पर राज कर दुनिया को ''बचाने'' के लिए चीख रहे हैं, उन्हें दूसरे साम्राज्यों के अंजाम को याद करना चाहिए। वे जिंदगी और ध्न दोनों अर्थों में युद्ध की कीमत आंकें।

वक्त आ गया है यह देखने के लिए जाग उठने का कि कम्युनिस्टों के पीछे शिकारी कुत्ते छोड़े जाने का क्या अर्थ है? क्या एक भी ऐसा कोई देश है, जहां कम्युनिस्ट पार्टी को गैर कानूनी घोषित किया जाना फासिज्म की पूर्वपीठिका न रहा हो? क्या ऐसा कोई एक भी देश है, जहां कम्युनिस्टों को रास्ते से हटाते ही मजदूर यूनियनों को चकनाचूर न कर दिया गया हो?

वक्त आ गया है कि हम हालात की कीमत को समझें। कम्युनिस्टों को यंत्रणा देने के अभियान की कीमत संगठित मजदूरों को ठिकाने लगाना था—उसकी कीमत है फासिज्म। और आज ऐसा कौन है, जो इस बात को स्वीकार नहीं करेगा कि फासिज्म की कीमत मौत है?

लगभग एक सौ साल से संगठित मजदूर शक्ति अमरीकी प्रजातंत्र की रीढ़ की हड्डी रही है। आज शैतानी और अमंगलकारी शक्तियां इस बात के लिए कृतसंकल्प हैं कि संगठित श्रम को नष्ट कर दिया जाये।

मई दिवस इस देश के समस्त स्वतंत्राप्रिय नागरिकों के लिए प्रतिगामियों को उत्तर देने का वक्त है। मार्च करते जा रहे लाखों लाख लोगों की एक ही आवाज बुलंद हो रही है—मई दिवस प्रदर्शन में हमारे साथ आइये और मौत के सौदागरों को अपना जवाब दीजिये।

अनुवाद : **सुरेन्द्र कुमार**

संस्कृति चिन्तन

हमारा समय और सृजन का परिप्रेक्ष्य

'सृजन-परिप्रेक्ष्य' नाम से साहित्य-कला-संस्कृति की वैचारिकी के रूप में प्रकाश्य पत्रिका के सम्पादकों की ओर से विचार-विमर्श के लिए जारी पत्रिका के प्रस्ताव को हम इस बार संस्कृति-चिन्तन के तहत प्रकाशित कर रहे हैं। हमारी नजर में यह महज एक पत्रिका का घोषणापत्र नहीं है बल्कि इसमें आज भारत में सर्वहारा सांस्कृतिक आन्दोलन के अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न विचारोत्तेजक ढंग से उठाये गये हैं जिन पर बहस होनी चाहिए।

एक पत्रिका के परिचय के अतिरिक्त इसे एक स्वतंत्र निबन्ध के रूप में पढ़ा जाना चाहिए। हमारा सुझाव है कि पाठक इसे 'दायित्वबोध' के जुलाई-दिसम्बर 1999 अंक में प्रकाशित लेख 'जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियों' के साथ जोड़कर पढ़ें।

इस निबन्ध में उठाये गये मुद्दों पर पाठकों की प्रतिक्रियाएं आमंत्रित हैं। सम्पादक

प्रिय साथी,

साहित्य-कला-संस्कृति के अहम और जरूरी सैद्धान्तिक पक्षों पर लेखन, विचार-विमर्श और बहस के मंच के रूप में हम एक नई पत्रिका **'सृजन परिप्रेक्ष्य'** की शुरुआत करने जा रहे हैं। आपके सुझावों के बिना हम अपनी अवधारणा और परियोजना को समृद्ध नहीं कर सकते। आपकी सक्रिय भागीदारी और सहयोग के बिना हम इस उपक्रम को साकार रूप नहीं दे सकते।

कलात्मक-सांस्कृतिक सृजन और सक्रियताओं के समग्र परिप्रेक्ष्य पर, उसके अलग-अलग पक्षों पर, विशेषकर वैचारिक-सैद्धान्तिक पक्षों पर विशेष बल देते हुए, परिवर्तन एवं विकास की दिशा और स्वरूप पर प्रासंगिक-उपयोगी चिन्तन-गवेषणा की प्रक्रिया को संवेग प्रदान करने के लिए हम 'सृजन परिप्रेक्ष्य' की प्रकाशन-योजना प्रस्तावित कर रहे हैं।

निस्सन्देह, लघु पत्रिका आन्दोलन आज एक बार फिर गतिमान अवस्था में है और अपने समय के तकाजों के प्रति सचेत-संवेदित भी है। यह धारा काफी हद तक वैकल्पिक मीडिया के सांस्कृतिक प्रभाग के कार्यभारों-दायित्वों को निभा रही है और इस पर वाम-प्रगतिशील प्रवृत्तियों का वर्चस्व भी लगभग स्थापित है। मगर इस सच्चाई को भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि समग्र कलात्मक-साहित्यिक-सांस्कृतिक सर्जनात्मक कर्म का वैचारिक पहलू अब भी काफी कमजोर है। संस्कृति के दायरे में अपने समय की आवश्यकताओं-अपेक्षाओं को समझने और उन्हें पूरा करने की दृष्टि से सीखने-सिखाने और प्रयोग करने का मोर्चा अभी कमजोर है। जनता की संस्कृति के शिल्पियों-सर्जकों-पहरुओं-सेनानियों की नई पीढ़ियों की तैयारी का काम जैसे हो रहा है, उससे सन्तुष्ट नहीं हुआ जा सकता।

हाल के वर्षों में सर्वहारा कला-संस्कृति पर, उसके वैचारिक आधारों पर, प्रतिक्रिया के केन्द्रों से निरन्तर घुसपैठ और आक्रमण होते रहे हैं, परवर्ती पूंजीवाद की नई-नई विचारसरणियां नये रंग-रोगन के साथ प्रतिक्रिया की पुरानी विचारधाराओं को पुनर्प्रस्तुत करती रही हैं, लेकिन हमारे पक्ष से उनके समुचित विश्लेषण और जवाबी कार्रवाई का काफी हद तक अभाव रहा है। यही नहीं, इस या उस कोने से पराजय, ''पाप-स्वीकार'' और समन्वय-समायोजन की आवाज़ें भी सुनाई देती रही हैं। पिछले लगभग दो दशकों के दौरान, प्रगति और प्रतिगामिता के बीच की विभाजक रेखाओं को धूमिल करने और मिटाने के सुनियोजित प्रयास होते रहे हैं। सामाजिक जनवाद और सुधारवाद की प्रवृत्तियां क्रान्तिकारी दायरों के भीतर दिग्भ्रम, प्रदूषण और विघटन को लगातार बढ़ावा देती रही हैं। लेकिन इनके सुसंगठित प्रतिरोध का अभाव रहा है और साथ ही आत्ममन्थन-आत्मालोचना का भी। एक ओर आत्मालोचन की जगह आत्मभर्त्सना और सर्वनिषेधवाद की प्रवृत्तियों और धुरीविहीन ''मुक्त चिन्तन'' का बोलबाला रहा है, तो दूसरी ओर आत्मतोषी कठमुल्लेपन का। परम्पराओं के पुनर्मूल्यांकन के नाम पर परम्परा-पूजन की, पुराने उपकरणों और विधि-विधानों से नई सच्चाइयों की पड़ताल करने और ''भविष्य की कविता'' का अन्वेषण करने की जगह ''अतीत की कविता'' का शरणागत होने की प्रवृत्तियां भी मौजूद रही हैं। ये विसंगतिपूर्ण स्थितियां आज हमें कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में सैद्धान्तिक कार्यों पर जोर देने के लिए प्रेरित ही नहीं, बल्कि बाध्य कर रही हैं।

• • •

विश्व-ऐतिहासिक और भारतीय—इन दोनों ही सन्दर्भों में आज का दौर जटिल-संश्लिष्ट संक्रमण का दौर है और साथ ही, सर्वहारा क्रान्तियों के प्रथम संस्करणों की पराजय के बाद विपर्यय और प्रतिगामी शक्तियों के पुनरुत्थान का भी दौर है।

विगत आधी शताब्दी का प्रदीर्घ काल अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक भारत के अर्थतंत्र, राजनीति तथा सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना के दुस्सह यंत्रणादायी क्रमिक पूंजीवादी रूपान्तरण का समय रहा है, लेकिन भूमण्डलीकरण की विगत एक दशाब्दी के दौरान, हर स्तर पर परिवर्तन की गति काफी तेज हो गई है। साम्राज्यवादी

पूंजी के वर्चस्व और देशी पूंजी के साथ उसके सहबन्ध ने पूंजी और श्रम के अन्तरविरोध को अत्यधिक तीखा करते जाने और उजरती गुलामी के मरुस्थली पाट को ज्यादा से ज्यादा विस्तार देने के साथ ही समूची सामाजिक संरचना में उथल-पुथल मचा दी है। ध्रुवीकरण अभूतपूर्व रूप से तेज हो गया है। वित्तीय पूंजी के निर्णायक वर्चस्व के इस विश्व-ऐतिहासिक दौर में बुर्जुआ जनवाद के (अलग-अलग स्तरों पर) क्षरण-विघटन की प्रक्रिया के साथ ही भारत जैसे देशों में एक ओर राज्यसत्ता की निरंकुश सर्वसत्तावाद की दिशा में यात्रा तेज हो गई है और पुनरुत्थानवादी, कट्टरपन्थी और फासीवादी बर्बरता की शक्तियों का सामाजिक आधार विस्तारित हुआ है, दूसरी ओर सांस्कृतिक पटल पर उन्नत पूंजीवाद की रुग्ण-बर्बर मानवद्रोही-जनवादनिषेधी संस्कृति और हमारे समाज में पहले से चले आ रहे मध्ययुगीन मूल्यों-संस्थाओं—धार्मिक अन्धविश्वास, रूढ़िवाद, जातिप्रथा, स्त्री-उत्पीड़न आदि के बीच एक ''विचित्र किन्तु सत्य'' सहबन्ध निर्मित हुआ है। यह प्रतिक्रियावादी ''सम्मिश्र'' संस्कृति समाज विकास की दशा-दिशा की अपनी स्वतंत्र गति की उपज है और साम्राज्यवाद और देशी पूंजीवाद की सत्ता ने इसके विकास एवं प्रसार को अपने हित में, सचेतन तौर पर अनुकूलित, नियोजित और त्वरित भी किया है। इलेक्ट्रानिक मीडिया और प्रिण्ट मीडिया के नये अवतारों के साथ ही, आज कम्प्यूटर भी इस नई सत्ता-संस्कृति को जन-जन तक पहुंचाने में प्रभावी भूमिका निभा रहा है। इसके और भी अनेक आयाम और पहलू हैं, जिनकी चर्चा यहां सम्भव नहीं। हमारा उद्‌देश्य यहां अपने देश के स्तर पर संक्रमण की दिशा और दशा को लक्षित करना मात्र ही है।

और जाहिर है कि इस राष्ट्रीय संक्रमण का एक नया वैश्विक परिप्रेक्ष्य है। या यूं कहें कि यह विश्वव्यापी संक्रमण की प्रक्रिया के अंग के रूप में ही घटित हो रहा है। विश्व-पूंजीवादी तंत्र—यह पूर्वप्रयुक्त शब्दावली भूमण्डलीकरण के नये दौर में काफी हद तक नये निहितार्थ ग्रहण कर चुकी है। यह शायद ही कोई अस्वीकार करेगा कि विश्व पूंजीवाद की कार्यप्रणाली और संरचना में विगत लगभग चौथाई सदी के दौरान कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों ने अर्थ और राजनीति के साथ ही समाज और संस्कृति के दायरे में भी हमारे समक्ष अध्ययन के नये कार्यभार प्रस्तुत किये हैं, हल करने के लिए नये सवाल खड़े किये हैं और उत्तर देने के लिए नई वैचारिक चुनौतियां प्रस्तुत की हैं। ये महत्वपूर्ण परिवर्तन ''नववाम'' के अनेक घोषित-अघोषित स्वयंभू चिन्तकों को मार्क्सवाद-लेनिनवाद को ''नई ऊंचाइयों'' तक पहुंचाने, साम्राज्यवाद की नई, अनदेखी ''ऊर्जस्विता'' का पैरोकार बन बैठने, सामाजिक व्यवहार को स्थगित करके वर्तमान और आगामी ''युगसत्यों के सन्धान'' में रणतत्पर होकर सन्नद्ध हो जाने और भांति-भांति के कर्मविरत सिद्धान्त गढ़ते हुए नये-नये विभ्रम पैदा करने और 'ट्रोजन हॉर्स' की भूमिका निभाने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। इन घोषित-अघोषित ''नववामपन्थियों'' की सांस्कृतिक जगत में भी पैठ है जो बढ़ती जा रही है। इनके सैद्धान्तिक विचलनों, अकर्मक विमर्शों और पराजय-बोध के प्रचार के विरुद्ध संघर्ष भी एक जरूरी दायित्व है लेकिन यह तभी हो सकता है जब आर्थिक-राजनीतिक क्षेत्रों के साथ ही सामाजिक-सांस्कृतिक दायरे में भी नये परिवर्तनों और उनके प्रभावों को सही ढंग से लक्षित किया जाये और समझा जाये। निश्चय ही इन बदलावों की ओर पीठ करके नहीं खड़ा हुआ जा सकता।

भूमण्डलीय और देशीय—इन दोनों ही स्तरों पर संक्रमण की चर्चा के बाद थोड़ी चर्चा विश्व-ऐतिहासिक विपर्यय की भी। सर्वहारा क्रान्तियों के प्रथम संस्करणों की पराजय के साथ ही श्रम और पूंजी के बीच के ऐतिहासिक महासमर के पहले चक्र का समापन हो चुका है और दूसरा चक्र शुरू भी हो चुका है। क्रान्ति के विज्ञान और इतिहास के किसी अध्येता के लिए सर्वहारा क्रान्तियों की विगत पराजय दुखद तो हो सकती है, लेकिन अप्रत्याशित कतई नहीं। इतिहास के पूर्ववर्ती युगों की क्रान्तियां भी प्रायः अन्तिम विजय से पूर्व पराजित होती रही हैं और निर्णायक विजय से पूर्व प्रगतिशील वर्ग प्रतिगामी वर्गों से बार-बार पराजित होते रहे हैं। यह भी याद रखना होगा कि बुर्जुआ व्यवस्था के साथ ही समूचे वर्ग-समाज के विरुद्ध सन्नद्ध सर्वहारा क्रान्ति सर्वाधिक आमूल-चूल क्रान्ति है जो मानव-ऊर्जा के व्यापकतम, कुशलतम और सूक्ष्मतम इस्तेमाल की मांग करती है। इस सर्वोच्च युगान्तरकारी परिवर्तन की राह में लगभग एक शताब्दी बाद आया विपर्यय और प्रतिगामी पुनरुत्थान अप्रत्याशित नहीं है। लेकिन क्रान्तियों की पराजय विचारधारा की पराजय या अन्त नहीं होती। सर्वहारा क्रान्ति के नये संस्करणों की रचना के लिए समाजवादी प्रयोगों के अनुभवों का समाहार बेहद जरूरी है। समाजवादी अर्थतंत्र, सामाजिक ढांचे, सांस्कृतिक अधिरचना और राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण और संघटन के दौरान, अलग-अलग दौरों में समाजवाद की समस्याओं पर बहसें हुई हैं और समाहार हुए हैं। वह विपुल सामग्री मौजूद है। पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के आधारों, सम्भावनाओं पर भी काफी कुछ सोचा और लिखा गया है और इस समस्या को हल करने की दिशा में **सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** के दौरान महत्वपूर्ण प्रयोग भी हो चुके हैं, जिनका ऐतिहासिक महत्व इस बात से कम नहीं हो जाता कि इन सबके बाद भी समाजवाद की पराजय हो गई। कोई इतिहासान्ध व्यक्ति ही देश-दुनिया के स्तर के वर्ग-शक्ति सन्तुलन और समाजवाद की आम दिशा सम्बन्धी बुनियादी ठोस सूत्रों तक पहुंचने तक के लम्बे समय जैसे वस्तुगत कारकों की उपेक्षा कर सकता है।

बेशक समाजवाद की समस्याओं पर सोचने का कार्यभार हमारे सामने है, लेकिन यह शुरुआत शून्य से या नये सिरे से नहीं होनी है। पहली बात यह याद रखनी होगी कि आज जो समीक्षा-समाहार होगा, वह अतीत के प्रयोगों की रोशनी में ही होगा। वह कामकाजू, सामान्य, आरजी (प्रॉविज़नल) और एक जारी प्रक्रिया के रूप में ही होगा। निर्णायक समाहार की मंजिल वह होगी जब हमारे पैरों के नीचे उन्नत सामाजिक प्रयोग की ज़मीन होगी और वह तब होगी जब समाजवादी संक्रमण की ठोस समस्याएं हमारे सामने होंगी। समाजवाद की समस्या पर आज हमारा चिन्तन मुख्यतः विचारधारा की हिफाजत के लक्ष्य से ही निर्देशित हो सकता है। इसके लिए सबसे पहले तो जरूरी यह है कि समाजवादी संक्रमण के सर्वतोमुखी, सर्वसमावेशी प्रयोगों और उपलब्धियों पर आज धूल और राख की जो मोटी परत डाल दी गई है, उसे हटाकर हम इतिहास के उन विस्मृत किये जा रहे पन्नों को लोगों के सामने प्रस्तुत करें। विगत क्रान्तियों की उपलब्धियों को पूंजीवादी चिन्तक-विचारक तो ओझल कर ही रहे हैं, अपने पराजयवाद के चलते और अपने चिन्तन की ''मौलिकता'' की पालिश चमकाने के चक्कर में नौबढ़ वामपन्थी ''चिन्तकगण'' भी ऐसा कर रहे हैं और कुछ तो लगातार विक्षिप्त प्रलाप की तरह अपने क्रान्तिकारी पूर्वजों-परम्पराओं

को सिर्फ कोसने-धिक्कारने का ही काम कर रहे हैं। सर्वहारा पुनर्जागरण का यह सर्वोपरि कार्यभार है कि दर्शन, राजनीति, समाज विज्ञान, अर्थ-विज्ञान से लेकर कला-संस्कृति तक के क्षेत्र में सिद्धान्त और प्रयोगों की जो एक शानदार विरासत रही है, उसे विस्मृति के अन्धेरे तलघरों से बाहर निकालकर रोशनी में लाया जाये। संस्कृति के क्षेत्र में, उपन्यास और कविता को लेकर, संगीत, नाटक और सिनेमा को लेकर, भाषाशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र के प्रश्नों पर तथा आलोचना की सैद्धान्तिकी और पद्धति-विज्ञान के सीमान्तों में लगभग सौ वर्षों के दौर में चली लम्बी बहसों, शानदार प्रयोगों और गम्भीर चिन्तन को लगभग भुला दिया गया है। यदि कुछ सामने आ भी रहा है तो वह मुख्यतः पश्चिमी ''नववाममार्गी मुक्त चिन्तकों'' का बौद्धिक कचड़ा ही है। बेशक उनसे भी सीखा जाना चाहिए, लेकिन महान सामाजिक प्रयोगों के साथ-साथ कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में जो नई चीजें और नई समस्याएं और नये समाहार सामने आये थे, उनका बुनियादी महत्व अनुपेक्षणीय है। अपने समय की सांस्कृतिक समस्याओं से यदि वास्तव में जूझना है तो परम्पराओं के छूटे हुए सिरों को पकड़कर आलोचनात्मक विवेक के साथ उनका अध्ययन करना होगा और फिर आगे विस्तार देना होगा—अन्तरराष्ट्रीय सन्दर्भों में भी और राष्ट्रीय सन्दर्भों में भी।

उपरोक्त चर्चा का सार-संक्षेप हम इस रूप में रखना चाहेंगे :

संक्रमण और विपर्यय के द्वन्द्वात्मक संघातों के बीच गतिमान हमारे समय में इतिहास और परम्पराओं का पर्यवलोकन-पुनर्विवेचन-पुनर्मूल्यांकन, अतीत के प्रयोगों और उनके वैचारिक आधारों-अवदानों का पुनःस्मरण और आलोचनामत्क अध्ययन जरूरी हो जाता है। साथ ही, विश्व-ऐतिहासिक विपर्यय के ऐसे दौर में वैज्ञानिक तर्कणा और समाज-विकास की नियमसंगति की अवधारणा को पुनर्स्थापित करने के लिए जुझारू वैचारिक संघर्ष भी जरूरी है।

विगत दशाब्दियों के दौरान, विशेषकर भूमण्डलीकरण के दौर में देश और दुनिया के आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य में जो आधारभूत परिवर्तन हुए हैं, उन्हें देखते हुए, नये यथार्थ के संज्ञान के उपक्रम की—उनके विकास के वस्तुगत नियमों के संज्ञान के उद्यम की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। नई सामाजिक-सांस्कृतिक परिघटनाओं और उनकी अन्तर्वस्तु को समझने के लिए सघन विचार-विमर्श और वाद-विवाद-संवाद की प्रक्रिया महत्वपूर्ण हो जाती है। इसी प्रक्रिया में, विचार और व्यवहार की परस्पर अन्तर्क्रिया से गुजरकर समाज के विज्ञान और कला की वैचारिकी आगे विकसित होती है।

प्रतिक्रिया के बुर्जों से नये सांस्कृतिक सिद्धान्तों और विमर्शों के रूप में और अन्य अनेकशः रूपों में जो गोलन्दाजी हो रही है, प्रगतिकामी पक्ष के बंकरों-बैरिकेडों से उनका प्रत्युत्तर देना होगा और प्रत्याक्रमण करना होगा। तथाकथित 'पापुलर कल्चर' और 'मास कल्चर' की नई तकनोलाजी-आधारित विधाओं-उपकरणों के जरिए ''संचार क्रान्ति'' के दौर में व्यापक जनमानस को प्रभावित करने की जो नई क्षमता पूंजीवादी तंत्र ने अर्जित की है, उनकी सही-सटीक समझ कायम करने की जरूरत है, ताकि जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन का आधार और प्रभाव व्यापक बनाया जा सके, और व्यापक लोकप्रिय प्रचार एवं सांस्कृतिक प्रतिरोध के नये उपकरण गढ़े जा सकें और पुराने उपकरणों का परिष्कार किया जा सके।

मूलतः पराजयवाद और सुविधाभोगी अकर्मण्यता के प्रति समर्पित प्रत्यक्ष-प्रच्छन्न सामाजिक जनवादी ''नववाममार्गियों'' के चिन्तन-विमर्शों की सच्चाई को उजागर करना भी आज का एक जरूरी कार्यभार है ताकि सांस्कृतिक मोर्चे की क्रान्तिकारी कतारों में दिग्भ्रम, मतिभ्रम और सुधारवाद के कीड़ों-दीमकों का प्रवेश रोका जा सके। सैद्धान्तिक कार्यभारों की अहमियत के ऐसे दौरों में, यह याद रखना बुनियादी तौर पर जरूरी है कि इन्हें वास्तव में वही पूरा कर सकते हैं जो महज किताबी कीड़े न होकर व्यवहार के सिपाही हों। जीवित विश्व के जीवित प्रश्नों पर प्रयोजनमुखी चिन्तन वही कर सकते हैं, यह बात सांस्कृतिक मोर्चे के लिए भी उतनी ही लागू होती है जितनी राजनीतिक मोर्चे के लिए।

यह भी याद रखना बहुत जरूरी है कि जब तक व्यवस्था का चरित्र जन विरोधी है, तबतक बदलाव के हर मोर्चे के लिए बुनियादी प्रश्न राज्यसत्ता का ही बना रहेगा। निस्सन्देह व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन और प्रचार की एक लम्बी प्रक्रिया के दौरान जनता की वैकल्पिक संस्कृति की संस्थाओं-सम्बन्धों की आधारशिला बनती रहती है, ढांचे की रूपरेखा और प्रारूप, प्रकल्प और नमूने भी बनते रहते हैं, लेकिन जनता की वैकल्पिक क्रान्तिकारी संस्कृति व्यवस्था परिवर्तन के बाद ही समाज में अपना वर्चस्व स्थापित कर सकती है। तबतक वह लगातार सत्ताधारी संस्कृति से संघर्षरत रहती है और व्यवस्था परिवर्तन के निर्णायक संघर्ष में (जिसकी केन्द्रीय रणभूमि राजनीति होती है) सन्नद्ध होने के लिए जनमानस को तैयार करती रहती है। इस बोध से विचलन सुधारवादी राह का राही बनना होगा। कुछ लोग वर्तमान समाज की जटिल संरचना की दुहाई देते हुए यह शिक्षा दे रहे हैं कि वर्ग-संघर्ष आज आर्थिक मांगों या उनकी केन्द्रीभूत अभिव्यक्ति के तौर पर राजनीतिक मांगों के इर्दगिर्द नहीं होगा, वह जातिप्रथा विरोधी, नारी-उत्पीड़न विरोधी, पर्यावरण-विनाश विरोधी तथा अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों के रूप में ही सामने आयेगा। ''क्रान्तिकारी समाज-सुधारकों'' की यह प्रजाति भी आज सांस्कृतिक मोर्चे और विशेषकर इस मोर्चे के सैद्धान्तिक कार्यों पर जोर दे रही है। पर यह राजनीतिक-आर्थिक वर्ग-संघर्ष से मुंह मोड़े अकादमिक सामाजिक जनवादियों का झुण्ड है जो ''विखण्डित वर्ग-संघर्ष'' और सामाजिक-सांस्कृतिक ''सुधारकार्य'' रूपी वर्ग-संघर्ष का पैरोकार है। ऐसी खतरनाक विजातीय प्रवृत्तियों के विरुद्ध वैचारिक संघर्ष आज के दौर का जरूरी कार्यभार है।

कुल मिलाकर, इन्हीं कार्यभारों के संश्लिष्ट-संग्रन्थित समुच्चय को हम आज के सर्वहारा नवजागरण (रिनेसां) और सर्वहारा प्रबोधन (एनलाइटेनमेण्ट) के आधारभूत और केन्द्रीय कार्यभारों के रूप में निरूपित और प्रस्तुत कर रहे हैं। यूरोप के बुर्जुआ नवजागरण और प्रबोधन के कालखण्डों अथवा उन्नीसवीं शताब्दी के संक्रमणकालीन रूसी समाज से भी कहीं गहरे और व्यापक अर्थों में, हमारे समय में, संस्कृति का क्षेत्र विचारधारात्मक वर्ग-संघर्ष की केन्द्रीय भूमि बना हुआ है, और यह स्वाभाविक भी है।

● ● ●

हमारे सामने सोचने-विचारने के लिए जो मुद्‌दे हैं, अब उन्हें समेटते हुए हम सिलसिलेवार रखने की कोशिश कर रहे हैं, जिससे

'सृजन परिप्रेक्ष्य' की विषयवस्तु का स्वरूप और दायरा और अधिक साफ हो सके।

❷ 'सृजन परिप्रेक्ष्य' साहित्य, चित्रकला, संगीत, नाटक, सिनेमा सहित समस्त दृश्य-श्रव्य कला माध्यमों के वैचारिक पक्षों के साथ ही, व्यापक और सामान्य रूप से संस्कृति और समाज के, तथा सांस्कृतिक आन्दोलन के वैचारिक-सैद्धान्तिक प्रश्नों पर केन्द्रित पत्रिका होगी। इन पर मार्क्सवादी दृष्टि से, या उसके भी पहले के समय में जुझारू भौतिकवादी या क्रान्तिकारी यथार्थवादी दृष्टि से, जो काम हुए हैं, जो बहसें चली हैं और जो प्रयोग हुए हैं, उनकी पुनर्प्रस्तुति और पुनर्मूल्यांकन को हम आज का जरूरी कार्यभार समझते हैं।

❷ पहले से मौजूद सैद्धान्तिक प्रश्नों-समस्याओं पर समकालीन सन्दर्भों में जो पुनर्विचार हो रहे हैं और नये समय की नई सच्चाइयों और नई समस्याओं पर जो चिन्तन और बहसें चल रही हैं तथा अपने समय की आवश्यकताओं के अनुसार इतिहास के पुनर्मूल्यांकन-विषयक प्रश्नों पर, संस्कृति के क्षेत्र में, सोचने-विचारने का जो काम चल रहा है, 'सृजन परिप्रेक्ष्य' उनका मंच बनेगा, इन प्रक्रियाओं को त्वरान्वित करेगा और इनमें सार्थक हस्तक्षेप करेगा।

❷ इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पूंजीवादी विचारकों का जोर आज सांस्कृतिक विमर्श पर सर्वाधिक है और परवर्ती पूंजीवाद की नई-नई विचार-सरणियां—तमाम किस्म के ''उत्तर''वाद और ''अन्त''वाद—आज मुख्यतः संस्कृति सिद्धान्तों के रूप में ही सामने आ रही हैं। ''नववाम'' और छद्‌म वाम के सिद्धान्तकार-भाष्यकार भी आज मुख्यतः संस्कृति के दायरे में ही नये-नये शास्त्र, संहिताएं और सूक्त रच रहे हैं। इन तमाम नई विचार-सरणियों के उत्स क्या हैं, इनकी अन्तर्वस्तु क्या है, इनकी पद्धति और इनका साध्य क्या है? क्या ये सर्वथा नई विचारधाराएं हैं, क्या ये सर्वथा नये संस्कृति-सिद्धान्त और कला दृष्टि प्रस्तुत कर रही हैं, क्या इनकी सौन्दर्यशास्त्रीय और भाषाशास्त्रीय मीमांसाएं सर्वथा नई हैं? अथवा ये उन्नीसवीं शताब्दी और प्रारम्भिक बीसवीं शताब्दी की बुर्जुआ दार्शनिक अवस्थितियों के ही विस्तार और नये संशोधित संस्करण मात्र हैं? वर्तमान ''नववाम'' वास्तव में नव है या पुराने सामाजिक जनवाद का ही एक नवरूप है जो आज संस्कृति के दायरे में बहुत अधिक सक्रिय है? ये कुछ प्रश्न हैं जिनका केन्द्रीय महत्व है और इसी दृष्टि से इन प्रश्नों पर केन्द्रित विश्लेषण, सकारात्मक लेखन और 'पॉलेमिकल' सामग्री को 'सृजन परिप्रेक्ष्य' में महत्वपूर्ण स्थान दिया जायेगा।

❷ ''नववाम'' से प्रभावित या पुराने सामाजिक जनवाद से अब भी प्रभावित बुद्धिजीवियों-संस्कृतिकर्मियों के प्रति अलगाव-असम्पृक्तता-बहिष्कार का रुख अपनाने की जगह उनके विचारों को हम पत्रिका में निश्चय ही स्थान देंगे और उनके साथ 'पॉलिमिक्स' चलायेंगे। पश्चिम के बहुतेरे मार्क्सवादी अकादमीशियनों-विद्वानों ने अपने वैचारिक विचलनों और गलत प्रस्थापनाओं के बावजूद समाज, संस्कृति, दर्शन, भाषाशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र जैसे विषयों पर कई जरूरी, अनसुलझे और विचारोत्तेजक मुद्दे उठाये हैं और चिन्तन और बहस को नया संवेग प्रदान करने का काम किया है। हम बहस और विचार की दृष्टि से ऐसी सामग्री को भी पत्रिका में स्थान देंगे और उनकी आलोचना और उनपर चलने वाले वाद-विवाद को भी।

❷ समाजवादी प्रयोगों के दौरान, संस्कृति के क्षेत्र में जो वैचारिक-सैद्धान्तिक काम हुए थे और बहसें चली थीं, उनकी पुनर्प्रस्तुति के साथ ही हम उस कालखण्ड में विकासमान नई संस्कृति, नये सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों-संस्थाओं-आन्दोलनों और तत्कालीन कलात्मक-साहित्यिक सर्जना और प्रयोगों के प्रतिनिधि उदाहरणों-प्रकल्पों-प्रारूपों-परियोजनाओं से पाठकों को परिचित कराते रहने का नियमित कार्यभार अपने सामने रखेंगे।

❷ समकालीन पूंजीवाद की अर्थनीति और राजनीति के साथ ही उसकी संस्कृति में जो बदलाव आये हैं, नई तकनोलॉजी और अति उन्नत संचार तंत्र ने बुर्जुआ मीडिया को जो नयी क्षमता, नई प्रभाविता और नया विस्तार दिया है और सांस्कृतिक आक्रमण एवं वर्चस्व के रूपों में जो परिवर्तन हुए हैं, उनके विश्लेषण की सख्त ज़रूरत है ताकि उनकी शक्ति के साथ उनकी कमजोरियों की भी पहचान की जा सके, उनके रहस्यावरण को भेदा जा सके, जनता के सांस्कृतिक मोर्चे को नई नीतियों-रणनीतियों-उपकरणों से लैस किया जा सके और कलात्मक-सृजन और सम्प्रेषण के नये आयाम उद्‌घाटित किये जा सकें। अपने सांस्कृतिक उपकरणों को गढ़ने में उन्नत तकनोलॉजी का सत्ताधारी अधिक इस्तेमाल कर सकते हैं, लेकिन कालान्तर में यही चीज उनके लिए सिरदर्द भी साबित होती है। जनता के सांस्कृतिक मोर्चे के सेनानी भी उन्नत तकनोलॉजी का लाजिमी तौर पर इस्तेमाल करेंगे। साथ ही, भारत जैसे तीसरी दुनिया के घोर असमान विकास वाले देशों में परम्परागत कला-रूपों और सांस्कृतिक आयोजनों के पुनर्परिष्कृत-पुनराविष्कृत संस्करणों की महत्ता बनी रहेगी। इन बिन्दुओं पर हमें तफसील से सोचना-विचारना होगा।

❷ एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि हमारे समय में विश्व स्तर पर और देश स्तर पर पूंजी की सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी शक्ति—फासीवाद की शक्तियों के विविध रूपों में फिर से उभार के कारण क्या हैं? इनके उत्स क्या हैं? क्या इसका कारण मात्र समाजवाद की वर्तमान विश्व-ऐतिहासिक पराजय है और क्या (जैसाकि रोजा लक्जेमबर्ग ने कहा था) समाजवाद के विकल्प के फौरी पश्चरायण की स्थिति में दूसरा विकल्प—फासीवादी बर्बरता, एक बार फिर प्रभावी स्थिति में आ गया है? क्या इसका कारण साम्राज्यवाद के दीर्घ विलम्बित जीवन में और बुर्जुआ जनवाद के निश्शेष होने की ऐतिहासिक प्रक्रिया में

निहित है? या बुनियादी तौर पर, वित्तीय पूंजी के निर्णायक वर्चस्व, पूंजी के संचय व निस्तारण के लिए अनुत्पादक गतिविधियों जुए और सट्टेबाजी पर प्रमुखतः निर्भरता और कागजी अर्थव्यवस्था का आधार—इसके मुख्य उत्स हैं? भारत के स्तर पर यदि देखें तो फासीवादी प्रवृत्तियों के मौजूद उभार के कारणों की पड़ताल के लिए हमें राष्ट्रीय जनवादी आन्दोलन के कमजोर वैचारिक आधार, उसमें एक ओर तर्कणा, जुझारू भौतिकवादी दर्शन एवं वैज्ञानिक इतिहासदृष्टि के बजाय जुझारू अतीतोन्मुख पुनरुत्थानवादी धारा और दूसरी ओर समझौतापरस्त सुधारवादी धाराओं की मौजूदगी, तथा सम्पूर्ण बुर्जुआ नेतृत्व के दोहरे चरित्र में समझौतापरस्ती के पहलू की प्रधानता की सम्पूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर पश्चदृष्टिपात, औपनिवेशीकरण से लेकर खण्डित अधूरी आजादी तक की पूरी यात्रा का सिंहावलोकन, जरूरी लगेगा। साथ ही, उत्तरवर्ती आधी सदी में समाज के पूंजीवादीकरण की यात्रा जिस यंत्रणादायी, मंथर क्रमिक प्रक्रिया से, पुराने मूल्यों- मान्यताओं-संस्थाओं के साथ समझौता करते हुए, उन्हें अपनाते हुए या उनके साथ नये प्रतिक्रियावादी मूल्यों का सहकार सम्बन्ध स्थापित करते हुए, पूरी की गई है; उसकी पड़ताल भी हमें जरूरी लगेगी। राष्ट्रीय आन्दोलन के नायकों की इतिहास कथा का उत्तर भाग खण्डित नायकत्व और पराभूत गौरव की त्रासद गाथा के रूप में आज केवल भारत में ही नहीं बल्कि तीसरी दुनिया के अधिकांश साम्राज्यवाद-निर्भर पूंजीवादी देशों में साफ-साफ लिखा जा चुका है और चरम प्रतिक्रिया की वाहक मूलगामी शक्तियां अलग-अलग रूपों में इन सभी देशों में सिर उठा रही हैं। भारत में अल्पसंख्यक-विरोधी धार्मिक मूलतत्ववाद इनकी मुख्य अभिव्यक्ति है, लेकिन सामाजिक स्तर पर दलित-उत्पीड़न और स्त्री-उत्पीड़न जैसी पुरातन निरंकुश स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों के फासीवादी परिष्कार की परिघटना की, भाषाई-इलाकाई शॉवनिज़्म की और राष्ट्रीयताओं-उपराष्ट्रीयताओं के बर्बर राजनीतिक उत्पीड़न के साथ ही उनकी संस्कृतियों के दमन-विलोपन के सत्ता प्रयासों की भी अनदेखी नहीं की जा सकती।

❷ सोचने का एक अहम प्रश्न यह भी है कि क्या प्रतिक्रिया और पुनरुत्थान की इन बर्बरतम शक्तियों का प्रतिकार हम महज अपनी राष्ट्रीय परम्परा से अर्जित उपकरणों के सहारे कर सकते हैं? यहीं हमें राष्ट्रीय परम्पराओं के पुनर्मूल्यांकन और नई श्रम-संस्कृति के अन्तरराष्ट्रीयतावादी चरित्र पर विचार करने की आवश्यकता महसूस होती है। सोचने का एक अहम प्रश्न यह भी है कि जिस विश्व में अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के साथ राष्ट्रीय पूंजी का सहबन्ध अर्थ-राजनीति के साथ ही संस्कृति के धरातल पर भी सुस्थिर हो चुका है और सुचारु रूप से संचालित हो रहा है, उसमें साम्राज्यवाद के राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक आक्रमणों का प्रतिकार क्या राष्ट्रवाद की पुरानी जमीन पर खड़े होकर किया जा सकता है? क्या भूमण्डलीकरण में पूंजी की अभूतपूर्व अन्तरराष्ट्रीय एकता विश्व स्तर पर श्रम की अन्तरराष्ट्रीय एकजुटता का एक वस्तुगत आधार नहीं तैयार कर रही है? तीसरी दुनिया के देशों में इस नये दौर की सामाजिक क्रान्तियां, राष्ट्र-राज्यों की सीमाओं में ही सम्पन्न होने के बावजूद, यदि विदेशी पूंजी के साथ ही देशी पूंजी के विरुद्ध भी केन्द्रित होंगी, तो उनका चरित्र पूर्ववर्ती राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियों से भिन्न होगा तथा एक अर्थ में उनसे अधिक ''स्पष्ट और मुखर'' अन्तरराष्ट्रीयतावादी होगा। ऐसी सामाजिक क्रान्तियों की धारा की संस्कृति श्रम की अन्तरराष्ट्रीयतावादी संस्कृति ही हो सकती है—सच्ची सर्वहारा संस्कृति ही हो सकती है। तब क्या यह नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रीय परम्पराओं के सकारात्मक तत्वों की विरासत को अपनाते हुए भी और देश की सीमाओं में संघटित होते हुए भी, आज के नये पुनर्जागरण और प्रबोधन का चरित्र मूलतः राष्ट्रीय नहीं बल्कि अन्तरराष्ट्रीयतावादी होगा और यह श्रम की संस्कृति के सार्वभौमिक समतामूलक मूल्यों और मानवीय गरिमा का संवाहक होगा?

❷ उपरोक्त आधारभूत प्रश्नों के विभिन्न सिरों को विस्तार देते हुए हम स्त्री-उत्पीड़न, दलित उत्पीड़न के प्रश्न, राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय संस्कृति के प्रश्न तथा साम्प्रदायिक फासीवाद के विश्लेषण और कारगर प्रतिरोध के प्रश्न को भी विश्लेषण का मुद्दा बनायेंगे और साथ ही पर्यावरण से लेकर विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों पर हो रहे आन्दोलनों की भी आलोचना प्रस्तुत करते हुए सही दिशा निर्धारण के व्यावहारिक प्रश्न को केन्द्र में लाने की कोशिश करेंगे।

जाति-प्रथा और दलित उत्पीड़न के मुद्दे पर वामपंथी राजनीतिक-सांस्कृतिक आन्दोलन की अतीत की गलतियों को ठीक करने के नाम पर वर्ग-विश्लेषण को ही तिलांजलि दे देने की प्रवृत्ति और 'क्लास-रिडक्शनिज्म' के परित्याग की आड़ में वर्ग-अवस्थिति से ही विचलन आज एक प्रमुख ''नववाममार्गी'' भटकाव के रूप में क्रान्तिकारी वामपंथी धारा के भीतर संक्रमित हो रहा है। नवोदित दलित मध्यवर्गीय सुविधाजीवी नेतृत्व के प्रति लल्लो-चप्पो का रवैया अपनाकर और विचारधारा के प्रश्न की अनदेखी करके दलित-मुक्ति का व्यावहारिक कार्यक्रम नहीं बन सकता और उसके बिना व्यापक जन मुक्ति का व्यावहारिक कार्यक्रम भी न तो बन सकता है न ही उसका सफल क्रियान्वयन हो सकता है। जाति प्रथा और जातिगत संस्कारों के विरुद्ध व्यापक सांस्कृतिक-सामाजिक आन्दोलन के साथ ही दलित मेहनतकश जनता को ''जनतांत्रीकरण'' और ''सुधार'' के बुर्जुआ विभ्रमों से मुक्त करना, उनके मध्यवर्गीय एवं बुर्जुआ सजातीय नेतृत्व के असली चरित्र का पर्दाफाश करना, दलित प्रश्न का सही ऐतिहासिक सामाजिकार्थिक विश्लेषण प्रस्तुत करना और यह स्पष्ट करना बेहद जरूरी है कि दलित मुक्ति जन मुक्ति के सम्पूर्ण प्रोजेक्ट का एक अनिवार्य अंग है, यह सुधार का नहीं बल्कि सामाजिक क्रान्ति का एजेण्डा है और यह कि केवल श्रम और मानव की गरिमा को सम्पूर्ण सच्चे अर्थों में बहाल करने वाली संस्कृति को गढ़ने वाला सामाजिक ढांचा ही सहस्राब्दियों पुरानी इस बर्बरता को सदा-सदा के लिए समाप्त कर सकता है।

इसी तरह नारी-मुक्ति के प्रश्न पर भी न सिर्फ नई-नई नारीवादी, उत्तर मार्क्सवादी नारीवादी, 'सबआल्टर्न' नारीवादी वगैरह, बल्कि क्रान्तिकारी वामपंथ की दुहाई देने वाले कतिपय समूह भी आज वर्ग अवस्थितियों को त्याग रहे हैं। पर्यावरण के प्रश्न को लेकर भी ऐसे विचार आज चलन में हैं।

वर्ग-संघर्ष को अलग-अलग इलाकों, समुदायों या मुद्दों और मोर्चों के आधार पर खण्ड-खण्ड विखण्डित करने और उनकी शक्ति विसर्जित करके राज्यसत्ता और व्यवस्था के सीमान्तों को आम जन की नजरों से ओझल करने का काम भी आज खूब हो रहा है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि साम्राज्यवादी देशों की वित्तदाता एजेंसियों के पैसों से ''समाज-सुधार'' और ''सामाजिक आन्दोलनों'' में लगे गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठनों के साथ प्रायः दलितवाद, नारीवाद, 'सबआल्टर्नवाद' और ''विखण्डित वर्ग-संघर्ष'' के पुरोधा-प्रस्तोता ''वामपंथियों'' का प्रगाढ़ सहकार-सम्बन्ध कायम है। इस ''पवित्र गठबंधन'' के वास्तविक चरित्र और संस्कृति को व्यावहारिक धरातल पर उजागर तो करना ही होगा, लेकिन सबसे जरूरी है ''वामपंथ'' की इस धारा के उपरोक्त सैद्धान्तिक विचलनों के विरुद्ध घनीभूत वैचारिक संघर्ष। सांस्कृतिक मोर्चे पर भी यह कार्यभार उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि राजनीतिक मोर्चे पर।

❷ इन कार्यभारों के निर्वहन के प्रयासों के साथ हमारा प्रयास यह भी होगा कि आज जो लिखा जा रहा है या जो कलात्मक सृजन (संगीत, नाटक, सिनेमा, चित्रकला—किसी भी रूप में) हो रहा है उनमें से कुछ प्रतिनिधि कृतित्वों की समालोचना के माध्यम से सोचने-विचारने के जरूरी मुद्दे उठायें। साथ ही, समकालीन आलोचना की आलोचना को भी हम एक जरूरी कार्यभार के रूप में रेखांकित करना चाहते हैं। कला की अन्य विधाओं की वैज्ञानिक आलोचना तो हिन्दी में अभी ढंग से विकसित ही नहीं हुई है। जहां तक साहित्यिक आलोचना की प्रगतिशील-वाम धारा का सवाल है, वहां पद्धति-सम्बन्धी समस्या गम्भीर है। सही द्वन्द्ववादी भौतिकवादी पद्धति की जगह सारसंग्रहवाद, लक्षणवाद और अनेकशः रूपों में आधिभौतिक यांत्रिकता का बोलबाला है। यह एक गम्भीर प्रश्न है, और इसपर गम्भीर विचार-विमर्श की जरूरत है।

❷ 'सृजन-परिप्रेक्ष्य' संस्कृति और विचार के मोर्चे पर संघर्ष के ठोस मुद्दों को रेखांकित करने और उस संघर्ष की नीति-रणनीति के निर्धारण तथा वैचारिक-सांस्कृतिक संघर्ष में भागीदारी करने के साथ ही, जनता के सांस्कृतिक मोर्चे के सेनानियों की नई कतारें तैयार करने और प्रशिक्षित करने पर विशेष बल देगा। उनके प्रति हमारा रुख 'खुद सीखते जाने और फिर सिखाते जाने' का होगा और वैचारिक बहसों से इस काम में हमें विशेष सहायता मिलेगी।

❷ कविताएं, कहानियां और अन्य रचनात्मक कृतित्व के प्रकाशन के लिए आज हिन्दी की बहुतेरी सम्मानित और महत्वपूर्ण साहित्यिक लघु पत्रिकाओं के मंच उपलब्ध हैं। इसलिए इनके प्रकाशन को हमने प्राथमिकता-क्रम में नीचे रखा है। फिर भी, अतीत की समृद्ध धरोहर से दुनिया की अन्य भाषाओं, अन्य भारतीय भाषाओं और हिन्दी की प्रतिनिधि रचनाओं का चयन हम प्रस्तुत करते रहेंगे। आज जो लिखा जा रहा है, उसमें से भी कुछ प्रतिनिधि रचनाओं को हम समय-समय पर पत्रिका में स्थान देंगे।

• • •

हमारी यह परियोजना निश्चित ही महत्वाकांक्षी है। दायित्वों और कार्यभारों का दायरा बहुत विस्तीर्ण है। जाहिरा तौर पर इन सबको हम एक साथ नहीं पूरा कर सकते। इस परिपत्र में हमने आपके समक्ष अपना बोध और अपनी परियोजना की एक सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत करने की कोशिश की है। एक ऐसी पत्रिका की सोच विगत सात-आठ वर्षों से सीझती-पकती रही है, लेकिन संसाधनों और बौद्धिक कार्यों के बोझ की दृष्टि से हम साहस नहीं जुटा पाते थे। हमारी क्षमता अपर्याप्त थी और प्राथमिकताओं का सवाल भी आड़े आता था। दूसरे, इस मसले पर हम स्वयं एक हद तक स्पष्ट हो लेना चाहते थे। अब हम समझते हैं कि पहले ही काफी देर हो चुकी है। जैसे-जैसे हम ताकत, क्षमता और सहयोग जुटाते जायेंगे, जैसे-जैसे सहयात्रियों की संख्या बढ़ती जायेगी, हम अपने घोषित दायित्वों-कार्यभारों के ज्यादा से ज्यादा बड़े हिस्से को हाथ में लेने की कोशिश करेंगे। लेकिन अभी जो सम्भव है, वहीं से हमें शुरुआत कर देनी होगी।

हम खुले दिले से आपकी आलोचना और सुझाव-परामर्श आमंत्रित करते हैं। हम आग्रहपूर्वक आपसे हर तरह के सहयोग का अनुरोध करते हैं। हम आपको आमंत्रित करते हैं कि आइये, बातचीत की जाये और जिस हद तक बोध और धारणा में सहमति हो, उस हद तक एक साथ मिलकर काम किया जाये और आगे व्यापक एकजुटता की दिशा में लगातार सचेष्ट रहा जाये।

पत्रिका का प्रवेशांक इसी वर्ष अक्टूबर तक प्रकाशित करने की योजना है। एक वर्ष में इसके कुल तीन अंक प्रकाशित होंगे। हर अंक 6.5'' X 9.5'' आकार के दो सौ से ढाई सौ पृष्ठों का होगा।

पत्रिका की विषयवस्तु की और अधिक ठोस रूपरेखा हम अगले परिपत्र में आपको भेजेंगे। तबतक कोशिश यही रहे कि आपके सुझाव हमें ज़रूर मिल जायें।

शुभकामनाओं और बिरादराना अभिवादन सहित,

कात्यायनी, सत्यम वर्मा

9 अप्रैल 2001

सम्पर्क : 81, समाचार अपार्टमेण्ट, मयूर विहार फेज-1,
दिल्ली-110091 फोन : 011-2711136
E-mail : srijan_pariprekshya@rediffmail.com
: katyayani1@rediffmail.com
: satyamvarma@rediffmail.com

लू शुन के तीन गद्यगीत

आशा

मेरा हृदय असाधारण रूप से एकाकी है।

लेकिन मेरा हृदय बहुत शान्त है, प्रेम और घृणा, आनन्द और उदासी, रंग और स्वर, सबसे शून्य।

शायद मैं बूढ़ा हो रहा हूं। क्या मेरे बाल सफेद नहीं होने लगे हैं? क्या मेरे हाथ कांपने नहीं लगे हैं? तब तो मेरी आत्मा के हाथ भी कांपने लगे होंगे। मेरी आत्मा के बाल भी सफेद होने लगे होंगे।

लेकिन ऐसा तो कई सालों से है।

उससे पहले एक समय था जब मेरा हृदय रक्ताभ गीतों, लोहा और खून, आग और विष, पुनरुज्जीवन और प्रतिशोध से लबालब होता था। फिर अचानक मेरा हृदय खाली हो गया, सिवाय उन मौकों के, जब मैं कभी-कभी इसे जानबूझकर निराधार, खुद को भुलावा देने वाली आशा से भरता था। आशा! आशामैं आशा की यह ढाल उठाता था ताकि खालीपन में अंधेरी रात के आक्रमण से बचाव कर सकूं, हालांकि इस ढाल के पीछे तब भी अंधेरी रात और खालीपन होता था। लेकिन फिर भी, मैंने धीरे-धीरे अपना यौवन बेकार कर दिया।

निश्चित ही, मैं जानता था कि मेरी नौजवानी जा चुकी है। लेकिन मैं सोचता था कि मुझसे बाहर तो यौवन अब भी मौजूद है : तारे और चांदनी, थककर गिरी तितलियां, अंधेरे में धूल, उल्लुओं के मनहूस शकुन, बुलबुल का रक्तरंजित क्रन्दन, धुंधली हंसी, प्रेम का नृत्य.... हालांकि शायद यह उदासी और निश्चितता भरा यौवन हो, लेकिन फिर भी यह यौवन ही है।

लेकिन अब इतना एकाकीपन क्यों है? क्या इसलिए क्योंकि मुझसे बाहर का यौवन भी जा चुका है और दुनिया के सारे युवा लोग बूढ़े हो गये हैं?

मुझे खालीपन में अंधेरी रात से अकेले ही जूझना है। मैंने आशा की ढाल रख दी जब मैंने शैंडोर पेतौफी (1823-49) का *आशा का गीत* सुना :

आशा क्या है? एक वेश्या!
सबको लुभाती है, सबकी हो जाती है,
जब तक तुम न्योछावर नहीं कर देते अपना अनमोल खजाना
अपनी जवानीफिर वह तुम्हें छोड़ जाती है।

हंगरी के इस महान कवि और देशभक्त को अपनी पितृभूमि के लिए कज्जाकों से लड़ते हुए शहीद हुए पचहत्तर साल बीत चुके हैं। उसकी मृत्यु दुखद है, पर यह और भी दुखद है कि उसकी कविता की मृत्यु अब भी नहीं हुई है।

लेकिन जीवन इतना कमबख्त है कि पेतौफी जैसे निडर और दृढ़ व्यक्ति को अन्त में अंधेरी रात के सामने ठहरना और सुदूर पूरब की ओर देखना पड़ा।

उसने कहा, ''हताशा भी आशा की तरह, बस एक मिथ्याभास है।''

फिर भी अगर मुझे इस मिथ्याभास में जीना है, जो न प्रकाश है न अंधेरा, तो मैं उदासी और अनिश्चितता भरा वह यौवन पाना चाहूंगा जो मुझे छोड़कर जा चुका है लेकिन मुझसे बाहर मौजूद है। क्योंकि जैसे ही मुझसे बाहर का यौवन भी गायब हो जायेगा, मेरी यह बूढ़ी उम्र भी मुरझा जायेगी।

लेकिन न तारे हैं न चांदनी, न थक कर गिरी तितलियां, न धुंधली हंसी, न प्रेम का नृत्य। युवा लोग बड़ी शान्ति से हैं।

इसलिए मुझे खालीपन में अंधेरी रात से अकेले ही जूझना है। भले ही मैं अपने बाहर के यौवन को न पा सकूं, कम से कम मैं अपने बुढ़ापे में जवानी की एक आखिरी झोंक तो ला ही सकता हूं। लेकिन कहां है अंधेरी रात? अब न तो तारे है न चांदनी, न धुंधली हंसी, न प्रेम का नृत्य।

युवा लोग बड़ी शान्ति से हैं, और मेरे सामने वास्तविक अंधेरी रात भी नहीं है।

हताशा भी आशा की तरह, बस एक मिथ्याभास है।

नववर्ष दिवस, 1925

योद्धा

ऐसा योद्धा जरूर होगा!

वह चमकती माउजरों से लैस अफ्रीकियों जैसा अज्ञानी नहीं है, न ही वह आटोमेटिक पिस्तौलें लेकर चलते चीनी हरी पताका वाले सिपाहियों* सा निरुत्साही है। वह सांड़ के चमड़े या रद्दी लोहे के बने कवच पर भरोसा नहीं करता। उसके पास खुद के सिवा कुछ नहीं है और हथियार के नाम पर बर्बर युग का भाला है।

वह चलता हुआ शून्यता की कतारों में आता है जहां उससे

* किङ वंश के राज में हान सैनिक, जो खराब योद्धा थे, हरी पताकाओं से पहचाने जाते थे

मिलने वाले सभी एक ही ढंग से उसे सिर नवाते हैं। वह जानता है कि यह नमन दुश्मन का एक हथियार है, जो जान ले लेता है खून की एक बूंद भी गिराये बिना, और जिससे कितने ही योद्धा मारे गये हैं। तोप के गोले की तरह यह वीरों की शक्ति को बेकार कर देता है।

उनके सिरों के ऊपर हर तरह के झण्डे और पताकायें टंगी हैं जिन पर अंकित हैं हर तरह की उपाधियां : समाजसेवी, विद्वान, लेखक, बुजुर्ग, युवा, कलाविलासी, भद्रजन... नीचे हैं हर तरह के लबादे जिन पर अंकित हैं हर किस्म के सुन्दर नाम : विद्वता, नैतिकता, राष्ट्रीय संस्कृति, जनमत, तर्कशास्त्र, न्याय, पौर्वात्य सभ्यताा...

लेकिन वह अपना भाला उठाता है।

सब मिलकर शपथपूर्वक कहते हैं कि उनके दिल उनके सीनों के बीचोबीच हैं, दूसरे पूर्वाग्रही लोगों की तरह एक किनारे नहीं। वे अपने सीनों पर लगी नामपट्टिकाओं से सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि उन्हें खुद विश्वास है कि उनके दिल उनके सीनों के बीचोबीच हैं।

लेकिन वह अपना भाला उठाता है।

वह मुस्कराता है और अपना भाला किनारे की ओर फेंकता है और वह उनके दिल को चीर देता है।

सब भुरभुरा कर धरती पर गिर जाते हैं सिवाय एक लबादे के जिसके भीतर कुछ नहीं है। शून्यता भाग निकली है और जीत गई है क्योंकि योद्धा अब समाजसेवी और बाकियों को मार डालने वाला अपराधी बन गया है।

लेकिन वह अपना भाला उठाता है।

लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ वह शून्यता की कतारों से गुजरता है और फिर देखता है वही नमन, वही पताकायें और लबादे...

लेकिन वह अपना भाला उठाता है।

आखिर वह बूढ़ा हो जाता है और शून्यता की कतारों में बुढ़ापे से मर जाता है। आखिरकार वह योद्धा नहीं रहा और शून्यता जीत गई।

ऐसी जगह कोई युद्ध का आह्वान नहीं सुनाई देता, बल्कि शान्ति व्यापी है।

शान्ति....

लेकिन वह अपना भाला उठाता है!

14 दिसम्बर, 1925

जागना

स्कूल जाते विद्यार्थियों की तरह रोज सुबह बमवर्षक विमान पीकिङ के ऊपर से उड़ान भरते हैं।* और हर बार जब मैं उनके इंजनों को हवा पर हमला बोलते सुनता हूं तो मुझे हल्के से तनाव का अहसास होता है, जैसे मैं मौत के आक्रमण का प्रत्यक्षदर्शी हो रहा हूं, हालांकि इससे जीवन के अस्तित्व की मेरी चेतना बढ़ जाती है।

एक-दो दबे-दबे धमाकों के बाद जहाज भनभनाते हुए धीमी रफ्तार से वापस उड़ जाते हैं। शायद कुछ लोग हताहत होते हैं, पर दुनिया सामान्य से ज्यादा शान्त लगने लगती है। खिड़की के बाहर पापलर की नाजुक पत्तियां धूप में गाढ़े सोने सी चमकती हैं; फूलों से भरा आलूचे का पेड़ कल से भी ज्यादा भव्य लगता है। जब मैं अपने बिस्तर पर चारों ओर बिखरे अखबारों को समेट देता हूं और पिछली रात मेज पर जमा हो गई हल्की धूसर धूल को पोंछ देता हूं तो छोटा सा चौकोर कमरा वैसा लगने लगता है जिसके लिए कहते हैं, ''उजास भरी खिड़कियां और बेदाग मेज।''

किसी कारणवश, मैं यहां जमा हो गई युवा लेखकों की पाण्डुलिपियों को सम्पादित करने लगता हूं। मैं उन सबको पढ़ना चाहता हूं। मैं उन्हें कालक्रमानुसार पढ़ता हूं और इन युवा लोगों की आत्मायें बारी-बारी से मेरे सामने आने लगती हैं जो किसी भी तरह की मुलम्मेबाजी से नफरत करते हैं। वे बहुत अच्छे हैं, उनमें ईमानदारी हैलेकिन, आह!
वे कितने उदास हैं, ये मेरे प्यारे युवा, वे शिकायत करते हैं, गुस्सा होते हैं और अन्ततः रूखे बन जाते हैं।

उनकी आत्मायें हवा और धूल के थपेड़े सहकर रूखी हो जाती हैं क्योंकि उनकी आत्मा मनुष्य की आत्मा है, ऐसी आत्मा जो मुझे प्यारी है। मैं खुशी-खुशी इस रूखेपन को चूमूंगा जिससे खून टपक रहा है पर जो आकारहीन और रंगहीन है। खूबसूरत, दूर तक मशहूर दुर्लभ फूलों से भरे बागीचों में शर्मीली और नाजुक लड़कियां अलसाती हुई समय गुजार रही हैं, बगुले चीखते हुए गुजर रहे हैं और घने, सफेद बादल उठ रहे हैं.... यह सब बेहद लुभावना है लेकिन मैं नहीं भूल सकता कि मैं मनुष्यों की दुनिया में रह रहा हूं।

और यह अचानक मुझे एक घटना की याद दिलाता है : दो या तीन साल पहले, मैं पीकिङ विश्वविद्यालय के स्टाफ रूम में था कि एक विद्यार्थी, जिसे मैं नहीं जानता था, भीतर आया। उसने मुझे एक पैकेट दिया और एक भी शब्द बोले बिना चला गया। और जब मैंने उसे खोला तो *'छोटी घास'* * पत्रिका की एक प्रति मिली। उसने एक शब्द भी नहीं कहा था लेकिन वह मौन कितना मुखर था, और यह तोहफा कितना अनमोल! मुझे दुख है कि *'छोटी घास'* अब नहीं प्रकाशित हो रही है; लगता है इसने बस *'डूबी घंटी'*** के पूर्वगामी की भूमिका अदा की। और *'डूबी घंटी'* इंसानी सागर में नीचे गहराई में, हवा और धूल की कन्दराओं में अकेली बज रही है।

जंगली घास को कुचल डालने पर भी उसमें एक नन्हा सा फूल उगता है। मुझे याद आता है कि ताल्सताय इससे कितने उद्वेलित हो उठे थे कि उन्होंने इस पर एक कहानी लिख दी। निश्चित रूप से, जब सूखे, बंजर रेगिस्तान में पौधे अपनी जड़ें जमीन के नीचे गहराई में ले जाकर पानी खींच लाते हैं और एक हरा जंगल खड़ा कर देते

(शेष पृष्ठ 71 पर)

* अप्रैल 1926 में, जब जनरल फेङ यूजियाङ उत्तरी युद्ध सरदारों झांग जुओलिन और ली जिङलिन से लड़ रहा था तो युद्ध सरदारों के विमानों ने कई बार पीकिङ पर बमबारी की।

* युवा लेखकों द्वारा 1924 में शुरू की गई एक त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका
** 1925 के शिशिर में निकली एक साप्ताहिक साहित्यिक पत्रिका

कौन उबारेगा नेपाल को संकट से

आलोक रंजन

नेपाल की राजनीति और सत्ता समीकरणों से एक हद तक परिचित हर व्यक्ति पहले से ही यह जानता था कि नये नेपाल नरेश ज्ञानेन्द्र के आदेश से गठित जांच आयोग विगत एक जून को शाही राजमहल में हुए सामूहिक हत्याकाण्ड के बारे में उस कहानी से अलग कोई निष्कर्ष नहीं निकाल पायेगा जो हत्याकाण्ड के तुरन्त बाद प्रचारित हुई थी। यानी, खुद युवराज दीपेन्द्र ही अपने माता-पिता, भाई-बहनों सहित अन्य की हत्या का जिम्मेदार है। लेकिन इस हत्याकाण्ड के पीछे किसी गहरे राजनीतिक षड्यंत्र होने की जो आशंकायें प्रकट की जा रही हैं, वे पूरी तरह निराधार हैं, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह हत्याकाण्ड जिस समय हुआ, वह बहुत महत्वपूर्ण है। खासकर, यह देखते हुए कि नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) द्वारा जारी जनयुद्ध से निपटने के सवाल पर नेपाली शासक वर्ग बुरी तरह बंटा हुआ था। प्रधानमंत्री गिरिजा प्रसाद कोइराला और वर्तमान नरेश ज्ञानेन्द्र, जो दिवंगत नरेश वीरेन्द्र के राजनीतिक सलाहकार भी थे, जनयुद्ध को कुचलने के लिए सेना के इस्तेमाल के हिमायती थे, जबकि नरेश वीरेन्द्र की इस पर हिचक थी।

दिवंगत नरेश वीरेन्द्र की सेना के इस्तेमाल को लेकर यह हिचक नेपाली शासक वर्गों के अन्य धड़ों और जाहिर है साम्राज्यवादियों तथा नेपाल के हर उस पड़ोसी शासक वर्ग के लिए परेशानी का सबब थी, जो जनयुद्ध के बढ़ते प्रभाव-विस्तार को अपने ''राष्ट्रीय'' हितों पर खतरे के रूप में सूंघ रहा था। इन ताकतों की बेचैनी कुछ माह पहले सम्पन्न ने.क.पा. (माओवादी) के दूसरे राष्ट्रीय सम्मेलन के बाद खास तौर पर बढ़ गयी थी।

इस महत्वपूर्ण सम्मेलन में पिछले पांच वर्षों से जारी जनयुद्ध का समाहार करते हुए उसे अगली मंजिल में पहुंचाने की रणनीति बनायी गयी थी। ने.क.पा. (माओवादी) ने सम्मेलन के अन्त में जनयुद्ध को अग्रवर्ती छलांग देने के लिए मुख्य रणनीतिक नारे इस रूप में सूत्रबद्ध किये कि ''आधार क्षेत्रों और स्थानीय जनसत्ता को सुदृढ़ करो एवं उसका विस्तार'' तथा ''केन्द्रीय जन सरकार का निर्माण करने के लिए आगे बढ़ो''। पार्टी की इस रणनीति से अधिक वह सूझबूझ भरा रणकौशलात्मक प्रस्ताव शासक वर्गों के लिए भीषण दुविधा और बेचैनी का कारण बना हुआ है जिसमें देश के मौजूदा संकट के राजनीतिक समाधान के लिए एक अन्तरिम सरकार के गठन का आह्वान किया गया था।

माओवादी क्रान्तिकारियों ने यह प्रस्ताव प्रेस के जरिये सार्वजनिक किया कि वे सभी राजनीतिक पार्टियों, संगठनों एवं जनसंगठनों के प्रतिनिधियों के एक सम्मेलन का आह्वान करते हैं जो एक अन्तरिम सरकार का चुनाव करे। प्रस्ताव में यह भी कहा गया है कि इस अन्तरिम सरकार के नेतृत्व में जनता के एक नये संविधान की गारण्टी ही देश की मौजूदा संकट से घिरी परिस्थिति का राजनीतिक समाधन निकाल सकती है। इस प्रस्ताव से नेपाली सत्ताधारियों की स्थिति सांप-छछूंदर की हो गयी है। प्रस्ताव को न उगलते बन रहा है न निगलते। इस प्रस्ताव के बाद दिवंगत नरेश वीरेन्द्र पर नेपाली शासक वर्गों के अन्य धड़ों और अमेरिकी साम्राज्यवादियों सहित उनके सभी सरपरस्तों का दबाव बढ़ गया था।

दरअसल, सेना के इस्तेमाल को लेकर यह खींचतान नेपाल में संसदीय ताकतों (यानी बुर्जुआ ताकतों) और राजतंत्र की शक्तियों (जो अपने सामन्ती विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखना चाहती हैं) के बीच की खींचतान है। संसदीय ताकतों का नेतृत्व फिलहाल नेपाली कांग्रेस पार्टी कर रही है। शाही सेना की कमान फिलहाल राजशाही ताकतों के हाथ में है जिसे अपने हाथ में लेने के लिए संसदीय ताकतें प्रयासरत हैं। नेपाल की इस बंटी हुई राज्यसत्ता का माओवादी क्रान्तिकारियों ने चतुराई से लाभ उठाया है। सेना के इस्तेमाल पर दिवंगत नरेश की हिचक इस कारण भी थी क्योंकि गिरिजा प्रसाद कोइराला सरकार के भ्रष्टाचार के खिलाफ सेना के एक हिस्से में (खासकर आम सिपाहियों में) नफरत की भावना व्याप्त है और गरीब-भूमिहीन किसानों के ही बेटे होने के कारण अन्दर ही अन्दर जनयुद्ध के प्रति समर्थन की भावना भी उनमें व्याप्त है।

लेकिन, इसके बावजूद नरेश वीरेन्द्र की हत्या से कुछ ही अरसा पहले संसदीय ताकतों और राजशाही की ताकतों के बीच किसी तरह का समझौता हो चुका था, जिसके तहत चोर दरवाजे से सेना की तैनाती की रणनीति बना ली गयी थी। एक ''समेकित आन्तरिक सुरक्षा एवं विकास कार्यक्रम'' के नाम पर 80 में से 75 जिलों में सेना तैनात कर दी गयी थी। जाहिर है यह तैनाती माओवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन को कुचलने के लिए ही की गयी है।

यही थे वे हालात जब शाही राजमहल में नरसंहार हुआ। इन हालात के मद्देनजर अगर नरसंहार के पीछे राजनीतिक षड्यंत्र की आशंकायें प्रकट की जा रही हैं तो उन्हें पूरी तरह निराधार नहीं कहा जा सकता। नेपाली जनता भी जांच आयोग के निष्कर्षों को पचाने के मूड में नहीं दिख रही है। अच्छा-खासा हिस्सा तो इस षड्यंत्र में सीधे ज्ञानेन्द्र के लिप्त होने के बारे में सन्देह जाहिर कर रहा है।

बहरहाल, हत्याकांड की सच्चाई तो अब शायद ही उजागर हो सके। हत्याकाण्ड और उसके बाद उभरी परिस्थितियों का विकास नेपाल को किस ओर ले जायेगा यह फिलहाल सबसे अहम सवाल है। पहले से ही संकटग्रस्त नेपाल का शासक वर्ग नयी परिस्थिति से कैसे निपटता है और इस परिस्थिति को माओवादी क्रान्तिकारी नेपाल की क्रान्ति के पक्ष में कितनी सफलतापूर्वक मोड़ पाते हैं, नेपाल के भविष्य का निर्धारण इन्हीं पर निर्भर करता है।

नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) ने ऊपर उल्लिखित दूसरे सम्मेलन में पिछले पांच वर्षों से जारी जनयुद्ध के अनुभवों का विचारधारात्मक संश्लेषण करते हुए जो निष्कर्ष निकाले हैं, उन पर दुनिया भर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच कुछ असहमतियां हो सकती हैं लेकिन यह बात निर्विवाद है कि इन पांच वर्षों में नेपाली जनता ने जो बेमिसाल कुर्बानियां दी हैं और पार्टी को जिन प्रचण्ड

संघर्षों (पार्टी के भीतर और बाहर दोनों मोर्चों पर) से गुजरना पड़ा है, उसने पार्टी के विचारधारात्मक-राजनीतिक नेतृत्व को काफी परिपक्व बनाया है और संघर्षरत जनता को भीतर कठिनतम परिस्थितियों में भी लगातार आगे बढ़ते रहने के जीवट से सम्पन्न किया है। इस जमीन पर खड़े होकर यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि संकट से जूझ रहे देश को एक बेहतर भविष्य की ओर ले जाने में नेपाल के माओवादी क्रान्तिकारी पूरी तरह सक्षम हैं।

इस विश्वास का सबसे महत्वपूर्ण आधार यह है कि नेपाल के माओवादी इस सच्चाई में दिलोजान से आस्था रखते हैं कि ''इतिहास का निर्माण जनता करती है''। इसी आस्था के आधार पर क्रान्तिकारी जनदिशा पर अमल करते हुए माओवादी पार्टी ने शोषक-उत्पीड़क व्यवस्था को उखाड़ फेंकने और एक नया समाज बनाने का न केवल स्वप्न नेपाल के मेहनतकश अवाम के दिलों में पैदा कर दिया है बल्कि उसकी पहलकदमी और सर्जनात्मकता को जागृत करते हुए संघर्ष और नव निर्माण के नये-नये क्रान्तिकारी प्रयोगों के लिए उसे गोलबन्द भी किया है।

नेपाल के माओवादियों ने अब तक जनता के दुश्मनों के खिलाफ छापामार कार्रवाइयों में जो सफलतायें अर्जित की हैं उसका मूलभूत कारण भी यही है कि जनता के क्रान्तिकारी साहस में उनका अटूट भरोसा है। क्रान्ति के तीन चमत्कारी हथियारोंक्रान्तिकारी पार्टी, संयुक्त मोर्चा और हथियारबन्द सेनाका कुशलतापूर्वक इस्तेमाल करते हुए सैन्यवादी भटकाव से मुक्त रहते हुए उन्होंने न केवल क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व और प्राधिकार को संघर्ष के दौरान स्थापित किया है वरन सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में अन्य मेहनतकश जनसमुदायों किसानों, छात्रों, स्त्रियों, उत्पीड़ित मद्धेशी समुदाय और करनाली क्षेत्र की जनता एवं बुद्धिजीवियों को एक व्यापक संयुक्त मोर्चे में गोलबन्द करने में महत्वपूर्ण सफलताएं अर्जित की हैं।

दुश्मन के ठिकानों पर सैन्य हमलों के साथ-साथ नेपाली भूभाग के एक तिहाई से भी अधिक हिस्से में व्यापक मेहनतकश आबादी माओवादी पार्टी की अगुवाई में विभिन्न स्तरों की जनसमितियों के तहत उत्पादन और राजकाज सहित समाज के सम्पूर्ण ढांचे पर अपना नियंत्रण कायम करने का व्यावहारिक प्रशिक्षण लेते हुए सम्पूर्णतः अपनी नियति का नियन्ता बनने की ओर अग्रसर है। चीन में सम्पन्न महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के अनुभवों को आत्मसात करते हुए पार्टी को सच्चे अर्थों में जनसमुदाय के साथ घुलमिल जाने की दिशा में सचेत प्रयास किये जा रहे हैं। 'जनता से सीखो' की नीति पर अमल करते हुए जनता की आलोचनाओं के प्रति पार्टी का न केवल गंभीर रुख है बल्कि जन-आलोचनाओं के लिए प्रोत्साहित भी किया जा रहा है।

जनसमुदाय के प्रति माओवादियों के इसी गंभीर और संवेदनशील रुख का नतीजा है कि हर जनआह्वान सफलताएं अर्जित कर रहा है। पिछली 12 मई को शिक्षा के व्यावसायीकरण के खिलाफ माओवादी छात्र संगठनों की हड़ताल की शानदार सफलता इसका सबसे ताजा प्रमाण है।

नेपाल की माओवादी क्रान्तिकारी पार्टी में स्त्रियां न केवल अच्छी-खाासी तादाद में शामिल हैं वरन वे हर मोर्चे पर शौर्य और कुर्बानियों की नयी-नयी मिसालें कायम करते हुए स्त्रियों के बारे में प्रचलित पुरुष स्वामित्ववादी मिथकों को ध्वस्त कर रही हैं। वे छापामार दस्तों में शामिल हैं, राजनीतिक विभागों में और प्रचार विभागों में सक्रिय हैंयानी हर मोर्चे पर पुरुष कामरेडों के साथ कंधे से कंधा मिलाते हुए चल रही हैं। पिछले 31 मार्च को जेल में बन्द छह स्त्री कार्यकर्ता तमाम सुरक्षा उपायों को धता बताते हुए जिस तरह सुरंगे खोदकर फरार हो गयीं और फिर से अपनी टुकड़ियों से जा मिलीं, वह किसी चमत्कार से कम नहीं था। इन सभी कार्यकर्ताओं की उम्र 20 से 25 वर्ष के बीच थी। जेल में सुरंगे खोदने की शुरुआत माओ त्से-तुङ के जन्मदिवस 26 दिसम्बर 2000 को हुई थी और मूल योजना के अनुसार नेपाल में जनयुद्ध की शुरुआत की वर्षगांठ 13 फरवरी 2001 को फरारी का दिन तय था। लेकिन कुछ जरूरी एहतियातों के मद्देनजर यह 31 मार्च को सम्भव हो सका। विश्व सर्वहारा की इन बहादुर सन्तानों ने जो चमत्कारी करतब कर दिखाया है वह दुनिया भर में शोषण-उत्पीड़नकारी सत्ताओं के खिलाफ संघर्षरत क्रान्तिकारियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा।

नेपाल में जारी क्रान्तिकारी संघर्ष के इस संक्षिप्त ब्यौरे से ही इस विश्वास की ताईद हो जानी चाहिए कि क्यों माओवादी पार्टी नेपाल को मौजूदा संकट से उबारने में सक्षम है। शाही राजमहल में नरसंहार के बाद गद्दी पर आसीन नये नरेश ज्ञानेन्द्र की फौरी प्राथमिकता तो यही होगी कि राजशाही के खिलाफ दरकती विश्वास की जमीन को पाटते हुए सत्ता का सुदृढ़ीकरण किया जाये। यह तय है कि आने वाले दिनों में नेपाल के क्रान्तिकारी संघर्ष को संसदीय सरकार और राजशाही के जबर्दस्त प्रतिक्रान्तिकारी हमलों का मुकाबला करना होगा। इसकी भूमिका दिवंगत नरेश वीरेन्द्र बना गये थे। इसके संकेत भी मिलने शुरू हो गये हैं। ने.क.पा. (माओवादी) के वरिष्ठ नेता बाबूराम भट्टराई का एक लेख छापने पर राजद्रोह के आरोप में नेपाल के एक महत्वपूर्ण दैनिक 'कान्तिपुर' के सम्पादक युवराज धिमिरे की गिरफ्तारी इसका साफ संकेत है। काठमाण्डू सहित कई जिलों में घोषित-अघोषित गिरफ्तारियों का दौर शुरू हो चुका है। क्रान्तिकारी संघर्ष के प्रभाव वाले इलाकों में सेना की व्यूह रचना की खबरें आ रही हैं। जाहिर है दमनचक्र की तैयारी जारी है।

लेकिन नेपाली शासक वर्ग भी दुनिया के अन्य प्रतिक्रियावादी शासक वर्गों की ही तरह नेपाली जनता की शक्ति को कम करके आंक रहा है। नेपाली शासक वर्गों और नेपाल की जनता के बीच छिड़े इस न्यायपूर्ण युद्ध में जीत न्याय के पक्ष की ही होगीयानी नेपाली जनता ही विजयिनी बनेगी। इतिहास का यही सच है। ●

राहुल फाउण्डेशन से शीघ्र प्रकाश्य

तीन बेहद जरूरी किताबें :

- **सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास, पृष्ठ 400**
- **माओ त्से-तुङ: कला साहित्य विषयक एक भाषण और पांच निबन्ध, पृ. 48**
- **माओ त्से-तुङ : दर्शन विषयक पांच निबन्ध, पृष्ठ 124**

प्रतियों के लिए सम्पर्क करें :
जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226010
email : janchetna@rediffmail.com

चीन में उठते बवण्डर नव बुर्जुआ शासकों को एक पल भी चैन नहीं लेने दे रहे

अरविन्द सिंह

''पूंजीवादी पथगामी अगर समाजवाद को पराजित कर सत्ता में आ भी गये तो वे कभी भी चैन की सांस नहीं ले सकेंगे।''

चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान एक बार माओ त्से-तुङ ने यह भविष्यवाणी की थी। 1976 में माओ त्से-तुङ की मृत्यु के बाद प्रतिक्रान्तिकारी तख्तापलट के जरिये जब से पूंजीवादी पथगामी सत्तासीन हुए हैं तब से सचमुच वे पल भर भी चैन से नहीं बैठ सके हैं। सर्वहारा वर्ग के इस महान नेता और युगदृष्टा की भविष्यवाणी पूरी तरह सच साबित हुई है।

देङ सियाओ-पिङ के प्रतिक्रियावादी गिरोह के सत्ता में आने के साथ ही मजदूरों-किसानों के विरोधों-विद्रोहों का जो सिलसिला शुरू हुआ था वह न केवल जारी है वरन अधिक प्रचण्ड और व्यापक रूप लेता जा रहा है। जैसे-जैसे चीनी शासक पूंजीवादी रास्ते पर आगे बढ़ते जा रहे हैं वैसे-वैसे पूंजीवादी विकास से पैदा होने वाले तमाम सामाजिक विभेद और असमानतायें सतह पर आ ही जा रही हैं और इसी के साथ इनके खिलाफ विरोध और विद्रोह भी मुखर होते जा रहे हैं। मीडिया पर सख्त सरकारी बन्दिशों और विरोध-प्रदर्शनों पर तगड़ी सेंसरशिप के बावजूद छन-छनाकर जो खबरें आती रही हैं उनसे यह पूरी तरह स्पष्ट है कि चीनी समाज में भीतर ही भीतर आक्रोश का लावा दहक रहा है जो रह-रहकर फूट पड़ रहा है।

पूंजीवाद विकास की पिछली एक चौथाई सदी में चीनी समाज में धनी-गरीब, शहर-देहात, स्त्री-पुरुष और मानसिक-शारीरिक श्रम के बीच अन्तर लगातार चौड़ा होता गया है। तथाकथित ''समाजवादी बाजार अर्थव्यवस्था'' के तहत विदेशी पूंजी के लिए दरवाजे खोलने और राजकीय उद्यमों के निजीकरण की नीतियों के कारण आज चीनी समाज में छंटनी-तालाबन्दी-बेरोजगारी से मेहनतकश जनता की जिन्दगी पर भीषण कष्टों का पहाड़ टूट पड़ा है। इसके साथ ही स्वास्थ्य सहित तमाम जनसुविधाओं में भारी कटौतियों, तरह-तरह के टैक्सों के बोझ और सरकारी तंत्र के भ्रष्टाचार ने कोढ़ में खाज का काम किया है। कुल मिलाकर चीन भी उसी राह पर तेजी के साथ भाग रहा है जिस पर भूमंडलीकरण की 'नवउदार' नीतियों पर अमल करते हुए एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के तमाम बुर्जुआ शाासक भाग रहे हैं। चीन की अर्थव्यवस्था को पूरी तरह विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में समेकित करने की दिशा में चीनी शासक बहुत करीब तक पहुंच चुके हैं। बचे-खुचे अवरोधों को दूर कर और विश्व पूंजीवाद के चौधरियों के साथ सौदेबाजी कर बेहतर शर्तो के साथ विश्व व्यापार संगठन में शामिल होने के लिये चीन उतावला है।

चीन की बेहतर विकास दर, जो निजीकरण-उदारीकरण के रास्ते पर चल रहे तीसरी दुनिया के शासकों और बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों के लिए आदर्श और ईर्ष्या का विषय बनी हुई है, उसके एवज में चीनी मेहनतकश जनता को भारी सामाजिक कीमतें चुकानी पड़ रही हैं। यही वजह है कि जनता के जनवाद और समाजवाद के 27 वर्षों के अनुभवों से गुजर चुकी चीनी जनता को जीवन की दुस्सह दशायें लगातार विद्रोहों और विरोधों के लिए प्रेरित कर रही हैं, जिनके थपेड़ों ने चीनी शासकों को बेचैन कर रखा है।

चीन में जारी किसानों के विद्रोहों और मजदूरों की हड़तालों-प्रदर्शनों के बारे में अब तक कई रिपोर्टें वामपंथी और बुर्जुआ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। चीन में जन-प्रतिरोध की खबरों का पूंजीवादी मीडिया द्वारा 'ब्लैक आउट' करने के बावजूद यह रुझान इतनी प्रबल है कि **'टाइम'** जैसी अमेरिका पत्रिका को भी चीनी जनता के आन्दोलनों की खबरों को जगह देनी पड़ी है। 31 जुलाई 2000 को इस पत्रिका में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार ''देश भर में श्रमिकों के विरोध मशरूम की तरह फैलते जा रहे हैं। पिछले दो हफ्तों में ही 1000 मजदूरों ने चेङ डू स्थित जनमुक्ति सेना के वर्दी कारखाने को बन्द किये जाने की सम्भावनाओं को देखते हुए उसका घेराव किया और दस हजार शिक्षकों ने कम मेहनताने का विरोध करने के लिए पेईचिङ जाकर प्रदर्शन करने की धमकी दी।''

लगभग छह-सात वर्षों पहले, 'फानशेन', 'शेनफान' और 'द ग्रेट रिवर्सल इन चाइना' जैसी पुस्तकों के सुप्रसिद्ध लेखक **विलियम हिण्टन** ने चीन प्रवास के अपने अनुभवों के आधार पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लिखे गये अपने कई लेखों में यह जानकारी दी थी कि चीन के विभिन्न हिस्सों में नये शासकों की नीतियों के विरुद्ध जनविरोध की घटनायें सामने आ रही हैं। कुछ माह पहले भारत आने पर आयोजित विभिन्न गोष्ठियों-मीटिंगों में भी विलियम हिण्टन ने इनका ब्यौरा दिया था।

आज से पांच वर्षो पहले चीन में जारी जन-प्रतिरोधों का एक विस्तृत ब्यौरा *'फिलहाल'* पत्रिका (31 अक्टूबर 1995) में प्रकाशित अपने लेख 'चीन में उदारीकरण और जन प्रतिरोध' में प्रख्यात अर्थशास्त्री *दिलीप एस.स्वामी* ने दिया था। सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री *एजाज अहमद* ने भी *फ्रंटलाइन* पत्रिका (3 मार्च 2000) में प्रकाशित एक लेख में बताया था कि चीन में मेहनतकशों द्वारा गत दो वर्षों के भीतर 2,00,000 विरोध कार्रवाइयां हुई हैं।

अमेरिका में रह रहे भारतीय पत्रकार *बटुक बोरा* ने चीन यात्रा से लौटने के बाद वहां जारी जनसंघर्षों का एक ब्यौरा *मेनस्ट्रीम* साप्ताहिक पत्रिका (18 नवम्बर 2000) में प्रस्तुत किया है। इस लेख में प्रस्तुत तथ्यों के अनुसार 1995 में चीन के पचास शहरों में राजकीय, निजी ओर विदेशी उपक्रमों के खिलाफ हुए प्रदर्शनों में लगभग ग्यारह लाख श्रमिकों ने हिस्सा लिया। 1998 तक विरोध-प्रदर्शनों में भाग लेने वाले मजदूरों की संख्या बढ़कर 36 लाख तक जा पहुंची थी। मजदूरों के आक्रोश का मुख्य कारण था उनके बकाये मेहनताने का भुगतान नहीं किया जाना और रिटायर होने वाले मजदूरों के पेंशनों का भुगतान रोकना। साथ ही, बड़े पैमाने

पर छंटनी की जा रही थी और शेष की छुट्टियां रद्द की जा रही थीं तथा विभिन्न संयुक्त उपक्रमों में उनसे जबर्दस्ती घंटों ओवरटाइम कराया जा रहा था।

'फाइनेंशियल टाइम्स' के अनुसार, अगस्त 1994 में लियाओनिङ प्रान्त में बकाये वेतन का भुगतान न होने के विरोध में 300 खनिकों ने प्रदर्शन किया। पुनः 1996 में उसी सवाल पर उसी जगह फिर से प्रदर्शन हुआ। सिचुआन प्रान्त में 1997 में एक हजार मजदूरों ने चिकित्सा भत्ता और बकाये मजदूरी का भुगतान रोके जाने के विरोध में जबर्दस्त प्रदर्शन किया। आनशान शहर में 300 पेंशनयाफ्ता श्रमिकों ने 1998 में तीन महीनों तक पेंशन का भुगतान न होने के खिलाफ प्रदर्शन किया। प्रदर्शनकारियों का पुलिस के साथ संघर्ष भी हुआ।

निजीकरण, विदेशी पूंजी निवेश, छंटनी–तालाबन्दी और मजदूरों के ताजा संघर्ष

चीन में जब तक समाजवाद वास्तव में कायम था तब तक मजदूरों की जिन्दगी ''पालने से कब्र तक'' सुरक्षित थी और मजदूरों के विरोध प्रदर्शनों की कोई खबर तक नहीं थी। यदि उनके बीच आन्दोलन जैसी कोई स्थिति थी तो वह ''सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति'' के दौरान पूंजीवादी पथगामियों के विरुद्ध ही थी। लेकिन अब यह वस्तुतः उस पार्टी की सत्ता के विरुद्ध केन्द्रित है जो सर्वहारा की पार्टी होने का दावा करती हुई वस्तुतः मुट्ठी भर अभिजातों के वर्चस्व वाली नव पूंजीपतियों की पार्टी है। पूंजीवादी पुनस्थार्पना के बाद 'बाजार समाजवाद'' के पाखण्डपूर्ण नारे की आड़ में निजीकरण-उदारीकरण की जिन नीतियो पर चीन के सामाजिक फासीवादी शासक चल रहे हैं उनका नतीजा है कि पिछले दो दशकों के दौरान, राजकीय उपक्रमों की संख्या 2,40000 से घटकर सिर्फ 40,000 रह गयी हे।

चीन के नये शासकों द्वारा विदेशी पूंजी के लिए दरवाजा खोलने की नीति के बाद विदेशी पूंजी किस तरह अपनी पैठ बना रही है और चीनी जनता के खून-पसीने के दम पर खड़े किये गये राजकीय उद्यमों को लील रही है इसे समझने के लिए एक उदाहरण काफी है।

तियानजिङ में आज से दस साल पहले राजकीय स्वामित्व वाले उद्यम 'मेइते पैकेजिंग कम्पनी' को अमेरिका के कोलेरेडो शहर स्थित कम्पनी बॉल कारपोरेशन के साथ साझीदारी की मंजूरी देकर एक संयुक्त उद्यम में बदल दिया गया। खाद्य एवं पेय पदार्थों की पैकेजिंग करने वाली इस कम्पनी में एक हजार मजदूर काम करते थे। धीरे-धीरे सरकार अपना शेयर कम करती गयी और संयुक्त स्वामित्व वाली कम्पनी पूर्ण रूप से बॉल कारपोरेशन के स्वामित्व में आ गयी। नतीजतन, मजदूरों की छंटनी का सिलसिला शुरू हुआ। इसके खिलाफ आक्रोश में विगत 25 अगस्त को 70 मजदूरों ने कम्पनी के छह अधिकारियों को (इनमें एक अमेरिकी, दो मलयेशियाई और तीन हांगकांग निवासी अधिकारी थे) 40 घण्टे तक बन्धक बनाये रखा। विरोध की शुरुआत अगस्त के पहले हफ्ते से ही हो गयी। मजदूर प्रतिदिन कम्पनी के गेट पर खड़े होकर मालों की डिलीवरी और कम्पनी के भीतर आवाजाही को बाधित किये हुए थे।

आज बॉल कारपोरेशन के पास सिर्फ तियानजिङ में चार पूर्ण स्वामित्व वाली पैकेजिंग कम्पनियां हैं। कुल मिलाकर चीन में पिछले पन्द्रह वर्षों के दौरान इसने 17 पूर्ण स्वामित्व या संयुक्त स्वामित्व वाली कम्पनियां खोल ली हैं। बॉल कारपोरेशन तियानजिङ की अपनी चार कम्पनियों को मिलाकर अब एक कम्पनी में तब्दील करने और उसे 'विशेष आर्थिक विकास क्षेत्र' में स्थानान्तरित करने के लिए प्रयासरत है क्योंकि इन क्षेत्रों में सरकार ने कम्पनियों को करों में भारी छूट दे रखी है।

राजकीय उद्योगों को देशी-विदेशी पूंजीपतियों को सौंपने का काम चीन में भी बिल्कुल उसी ढर्रे पर हो रहा है जैसे हमारे देश में माडर्न फूड या बाल्को के मामले में हुआ। सरकार, पार्टी और राजकीय उद्यमों के अधिकारी देशी-विदेशी निजी खरीदारों को उद्यमों की परिसम्पत्तियां कौड़ियों के मोल बेच रहे हैं और अकूत कमीशन खा रहे हैं। निजीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप हो रही छंटनी-तालाबन्दी के खिलाफ पिछले दो वर्षों में जबर्दस्त विरोध प्रदर्शन हुए हैं।

विगत वर्ष की दूसरी छमाही में कई उग्र विरोध-प्रदर्शन हुए। एक शहर में हजारों छंटनीशुदा खनिकों ने एक प्रमुख रेलमार्ग को तब तक जाम रखा जब तक छंटनीशुदा मजदूरों के लिए निर्धारित बकाये वेतन का भुगतान नहीं किया गया। एक दूसरी घटना में स्थानीय अधिकारियों के भ्रष्टाचार के खिलाफ प्रदर्शन कर रहे हजारों मजदूरों और पुलिस के बीच तीखी झड़पें हुईं। दिसम्बर 1999 में 1000 सिल्क मिल मजदूरों ने दक्षिण-पश्चिम चीन में एक राजमार्ग को जाम कर दिया। इन मजदूरों को साल भर से वेतन नहीं मिला था। आक्रोश इतना जबर्दस्त था जाम हटवाने आयी पुलिस पर मजदूरों ने पत्थरों और बोतलों की बरसात कर दी। कुछ मजदूर हाथ में बैनर लिये हुए थे, जिस पर लिखा था, ''हम भोजन चाहते हैं, हमारे बच्चे स्कूल जाना चाहते हैं।''

एक अन्य रिपोर्ट के अनुसार 1999 के शुरुआती महीनों में मध्य चीन के हुनान प्रान्त में 500 मजदूरों ने एक अत्यन्त प्रमुख पुल को जाम कर दिया। यह कई शहरों को जोड़ने वाला एक महत्वपूर्ण पुल था। ये मजदूर चाङदे शहर की चाङदे काटन मिल में काम करते थे। ये भी बकाये वेतन और प्लांट के मैनेजमेण्ट के भ्रष्टाचार के खिलाफ विरोध कर रहे थे। यह मिल पहले इस शहर का सबसे बड़ा राजकीय उद्यम था जिसमें 10,000 मजदूर काम करते थे, जिनमें से 3000 की छंटनी की जा चुकी है। पुल जाम करने वाले मजदूर इन्हीं छंटनीशुदा मजदूरों में से थे।

इन चन्द घटनाओं के ब्यौरों से ही यह स्पष्ट है कि आज चीन में मजदूरों ने किस तरह अपने शासकों की नींद हराम कर रखी है। यह सिलसिला अनवरत जारी है।

अफसरशाही की लूट–खसोट और तरह–तरह के करों से तबाह–बदहाल किसानों के विद्रोह

मजदूरों के साथ-साथ चीन की किसान जनता ने भी तरह-तरह के टैक्सों और अफसरशाही की लूटखसोट के खिलाफ विद्रोह का झंडा उठाकर अपने हुक्मरानों की नाक में दम कर रखा है।

पिछले साल अगस्त महीने में मध्य चीन में 20,000 किसानों ने भारी कराधान के खिलाफ जबर्दस्त विरोध प्रदर्शन आयोजित किया। यह क्याङसी के उस ऐतिहासिक पर्वतीय क्षेत्र में हुआ जहां माओ त्से-तुङ और लाल सेना ने 1920 के दशक में पहला क्रान्तिकारी आधार क्षेत्र कायम किया था।

यह विद्रोह 100,000 आबादी वाले युआन्डू कस्बे में केन्द्रित था। किसानों ने लाठी-डंडे और बल्लम-भाले के साथ एक सरकारी इमारत को घेर लिया। अगले दस दिनों में यह

विरोध प्रदर्शन अन्य निकटवर्ती कस्बों में फैल गया। इस विद्रोह के बारे में स्थानीय अधिकारियों के हवाले से रायटर ने लिखा, ''हिंसा पर उतारू किसानों द्वारा सरकारी दफ्तरों में तोड़फोड़ मचाने और धनिकों के घरों में लूटपाट शुरू कर देने के बाद वहां सशस्त्र अर्द्ध सैनिक बलों की टुकड़ियों को रवाना करना पड़ा। यह देश के भीतर पनप रहे किसान असन्तोष से सरकार पर मंडरा रहे खतरे को उजागर करता है।''

चीनी अधिकारियों ने बताया कि संघर्ष को शान्त करने के लिए मिलीशिया के 2,000 से अधिक सिपाहियों को भेजना पड़ा, कई दर्जन गिरफ्तारियां हुईं और हालात पर काबू पाने में पांच दिन लगे।

किसानों के बीच पनपे इस असन्तोष का कारण लागतों की कीमतें बढ़ने से खेती का लगातार में घाटे में जाना, तरह-तरह के टैक्सों का बोझ और अधिकारियों का भ्रष्टाचार है। एक समाचार रिपोर्ट में किसानों के हवाले से बताया गया कि वे साल भर में एक एकड़ की खेती से 400 युआन (चीनी मुद्रा) कमाते हैं जबकि उन्हें 180 युआन प्रति एकड़ टैक्स भरना पड़ता है। खाद आदि दूसरी खेती की लागतों को जोड़ दिया तो सिर्फ 100 युआन प्रति एकड़ ही आमदनी हो पाती है। इसके अतिरिक्त किसानों को राज्य द्वारा संचालित बाढ़ रोकथाम एवं सिंचाई कार्यक्रमों के लिए बेगार भी करनी पड़ती है। इसके अलावा कई अन्य शुल्क, (जैसे - मकान बनवाने और निजी भूखंड पर खेती करने के लिए) भी अदा करने पड़ते हैं। एक किसान ने बताया कि 1995 में उसके इलाके में रहने वाले 85 प्रतिशत किसान कुछ बचत कर लेते थे लेकिन आज 85 प्रतिशत कर्ज में डूब गये हैं।

किसानों पर लगे टैक्सों का आलम यह है कि उन्हें हर सुअर के वध पर शुल्क देना पड़ता है, इसके अतिरिक्त हर परिवार को साल में एक बार ''पशुवध टैक्स'' अलग से देना पड़ता है, चाहे उनके पास सुअर हो या न हो। कुछ ''विशेष उत्पादों'', जैसे अखरोट के उत्पादन पर भी शुल्क देना पड़ता है। किसानों को पशु टीकाकरण के लिये, स्कूल के लिए, विवाह की अनुमति के लिए और यहां तक कि बच्चे पैदा करने के बदले भी शुल्क अदा करना पड़ता है। फिर बिजली उत्पादन और स्कूल आदि परियोजनाओं के लिए किसानों पर विशेष लेवी भी लगायी जाती है। यह तो हुई कानूनी लूट, अधिकारियों की घूसखोरी अलग से।

टैक्सों के इस बोझ और घूसखोरी से आजिज किसान दाओलिन शहर में 1999 की शुरुआत में बगावत पर उतर आये। 8 जनवरी को 10,000 से अधिक किसानों ने एक सरकारी दफ्तर को घेर लिया। उन्होंने मांग की कि बेजा करों को खत्म किया जाये और भ्रष्ट अधिकारियों के खिलाफ कार्रवाई की जाये। इस बगावत को कुचलने के लिए 30 मील दूर चाङशा की प्रान्तीय राजधानी से बुलाकर सैकड़ों सशस्त्र पुलिस के जवानों और गैस मास्क, ढाल, लाठियों और आंसू गैस से लैस विशेष दंगारोधी दस्तों को तैनात किया गया। प्रत्यक्षदर्शियों के अनुसार किसान नेताओं ने भाषण देना शुरू ही किया था कि पुलिस ने भीड़ को तितर-बितर करने के लिए आंसू गैस के गोले दागने शुरू कर दिये। 110 किसानों को गिरफ्तार किया गया, कई बुरी तरह जख्मी हुए और एक किसान की जान भी चली गयी।

बढ़ती बेरोजगारी

यह एक तथ्य की बात है कि 1976 तक माओकालीन समाजवादी चीन में बेरोजगारी का पूरी तरह खात्मा किया जा चुका था। बुर्जुआ आंकड़ेबाज भी इस सच्चाई को उस समय झुठला नहीं सके थे। लेकिन पूंजीवादी पुनर्स्थापना की चौथाई सदी बाद आज हालत यह है कि चीन में शहर और देहात के बेरोजगारों को मिलाकर कुल 20 करोड़ लोग बेरोजगार हो चुके हैं। स्वयं चीन का श्रम मंत्रालय इस बात को स्वीकार कर चुका है कि इस समय देश में बेरोजगारी वृद्धि की दर 3.1 प्रतिशत है। लेकिन इसमें छंटनीशुदा मजदूर नहीं शामिल हैं। सरकारी आंकड़ों में चीन के गांवों से काम की तलाश में गैरकानूनी ढंग से शहरों में आये एक करोड़ आप्रवासी गरीब आबादी भी दर्ज नहीं है। देहाती क्षेत्रों में व्याप्त बेरोजगारी की गणना भी सरकारी अधिकारी नहीं करते जहां भी बेरोजगारों की तादाद करोड़ों में है।

निजीकरण और राजकीय उद्यमों को ''कार्यकुशल'' और ''लाभदायक'' बनाने के नाम पर कितने बड़े पैमाने पर छंटनी की जा रही है इसका अनुमान सिर्फ कुछ तथ्यों से ही लगाया जा सकता है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार वर्ष 2000 की शुरुआत तक राजकीय उद्यमों से एक करोड़ 10 लाख मजदूरों की छंटनी की जा चुकी थी। अगर विदेशी पूंजीपतियों को बेचे जा चुके उद्यमों में हुई छंटनी को जोड़ दिया जाये तो यह संख्या लगभग चार गुनी यानी चार करोड़ से भी अधिक हो जायेगी। विश्व बैंक के एक अनुमान के अनुसार जल्दी ही राजकीय स्वामित्व वाले उद्यमों में कार्यरत 14 करोड़ मजदूरों के 35 प्रतिशत हिस्से की छंटनी कर दी जायेगी, यानी लगभग 5 करोड़ मजदूर निकाले जायेंगे। इस तरह अगर इन सभी छंटनीशुदा मजदूरों को भी जोड़ दिया जाये जल्दी ही चीन में बेरोजगारों की तादाद लगभग 30 करोड़ हो जायेगी। यदि बेरोजगारी की मौजूदा सरकारी वृद्धि दर से ही हिसाब लगायें तो मौजूदा दशक खत्म होते-होते चीन की आधी आबादी बेरोजगार हो जायेगी। चीन की ''समाजवादी बाजार'' अर्थव्यवस्था मेहनतकश जनता की जिन्दगी को किस रसातल में धकेल रही है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

अमीरी-गरीबी की बढ़ती खाई

चीन के राजकीय सांख्यिकीय ब्यूरो द्वारा 1999 के अन्त में किये गये एक सर्वेक्षण के नतीजे स्वयं अमीरी-गरीबी के बीच बढ़ती खाई को जाहिर कर देते हैं। जबकि माओकालीन चीन में जनता के जीवनस्तर में और समानता में लगातार हर मायने में बढ़ोत्तरी होती गयी थी और समाज धीरे-धीरे सभी सामाजिक विभेदों को दूर करने की दिशा में आगे बढ़ रहा था। 1976 के बाद यह दिशा उलट जाने पर जो तस्वीर उभरी है वह इन तथ्यों के आइने में साफ दिखायी दे रही है।

सरकारी सर्वेक्षण के अनुसार सबसे ऊपर के बीस प्रतिशत धनी परिवार देश की कुल आय के 42 प्रतिशत के स्वामी हैं। इन परिवारों में औसत प्रति व्यक्ति वार्षिक 120 अमेरिकी डालर (लगभग पांच हजार छ सौ पचास रुपये) है। जबकि सबसे गरीब 20 प्रतिशत आबादी कुल राष्ट्रीय आय के सिर्फ 6.5 प्रतिशत पर ही गुजारा करती है, जिनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय सबसे धनी बीस प्रतिशत आबादी का आठवां हिस्सा है। सबसे नीचे की 10 प्रतिशत आबादी कुल राष्ट्रीय आय के सिर्फ 2.2 प्रतिशत पर ही जीवनयापन करती है। सबसे धनी एक प्रतिशत आबादी की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 24000 अमेरिकी डालर (11,28000 रुपये) है। अमीरी-गरीबी की यह खाई लगातार बढ़ती ही जा रही है।

ट्रेड यूनियन अधिकारों का अपहरण

गौरतलब यह भी है कि पिछले दिनों चीन में हुए मजदूरों के सभी विरोध-प्रदर्शन गैर कानूनी थे। उदारतावाद का ढोल पीटते हुए 1982 में चीन में जो नया संविधान लागू हुआ था उसमें मजदूरों से हड़ताल का अधिकार छीन लिया गया था। मजदूरों के लिए यह अनिवार्य बना दिया गया था कि किसी तरह की विरोध कार्रवाई के लिए वे सुरक्षा ब्यूरो से इजाजत लें। आम तौर पर इजाजत मांगने वाली ऐसी सभी अर्जियां खारिज कर दी जाती हैं। मजदूरों के भारी दबाव के चलते, लाज बचाने के लिए ए.सी.एफ.टी.यू. (अखिल चीनी ट्रेड यूनियन संघ) ने हड़ताल का अधिकार फिर से बहाल करने की मांग की और एक नया ट्रेड यूनियन कानून बना भी, लेकिन मजदूरों को विरोध कार्रवाइयों को अपना छिना हुआ अधिकार वापस नहीं मिला। आज के ''उदार'' चीन में मजदूरों को विरोध करने का अधिकार नहीं है, फिर भी बिना इजाजत के चौतरफा विरोध कार्रवाइयां जारी हैं। जनता कहीं भी, कभी भी अन्याय का विरोध करने के लिए हुक्मरानों की इजाजत नहीं मांगती। और फिर चीन के मेहनतकशों को तो माओ ने काफी पहले ही यह नारा दिया था : **''विद्रोह करना न्यायसंगत है''**

वसन्त का वज्रनाद?

आज के ''उदारवादी'' चीन की कम्युनिस्ट नामधारी पार्टी का बुर्जुआ नेतृत्व यह भलीभांति समझ रहा है कि अपनी आर्थिक मांगों को लेकर आन्दोलन कर रहे चीन के मेहनतकश धीरे-धीरे राजनीतिक संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। अखबारों में प्रकाशित रपटों में उल्लिखित ये तथ्य गौरतलब हैं कि आन्दोलनकारी कई जगहों पर ऐसे राजनीतिक नारे लगा रहे थे : **''नये पैदा हुए बुर्जुआ वर्ग का नाश हो,'' ''हमें पूंजीवाद नहीं समाजवाद चाहिए'', ''मजदूर हैं कारखानों के असली मालिक''** आदि।

क्या इन नारों में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति (1966-76) के दौर के नारों की अनुगूंजें नहीं सुनायी दे रहीं?

आज यह तो नहीं कहा जा सकता कि चीन में बहुत जल्दी ही समाजवादी क्रान्ति का कोई नया संस्करण सम्भावित है। कारण कि चीन के नये शासकों के पीछे देशी नव बुर्जुआओं के साथ ही साम्राज्यवाद की पूरी ताकत मुस्तैद खड़ी है। चीन की निरंकुश सामाजिक फासिस्ट सत्ता की जड़ता की शक्ति अभी काफी मजबूत है। दूसरी ओर, सर्वहारा क्रान्ति की नेतृत्वकारी ताकतें अभी कमजोर हैं और बिखरी हुई हैं। जन-विद्रोह और जन-उभार क्रान्ति के विज्ञान से लैस पार्टी के नेतृत्व के बगैर, अपने-आप क्रान्ति में नहीं बदल सकते। फिर भी, चीन के पुराने पार्टी-कार्यकर्ता और किसान-मजदूर सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर के अनुभवों एवं शिक्षाओं को एकदम भुला चुके हों, यह असम्भव है। इसलिए, विश्व मजदूर क्रान्ति के नये चक्र में चीनी मेहनतकश भी लबों पर नये बुर्जुआ वर्ग के नाश का नारा लिये हुए अगली कतारों में होगा, इस सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता। अगर कुछ वर्षों में नहीं, तो कम से अपने वाले कुछ एक दशकों में तो अवश्य ही, फिर से गूंज सकता है वसन्त का वज्रनाद! ●

लू शुन के गद्यगीत

(पृष्ठ 65 का शेष)

हैं तो वह महज अपने अस्तित्व के लिए जूझ रहे होते हैं। लेकिन थके-हारे, प्यासे मुसाफिरों के दिल उन्हें देखकर उछल पड़ते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि वे ऐसी जगह पहुंच गये हैं जहां थोड़ी देर आराम किया जा सकता है। निश्चित ही, यह गहरी कृतज्ञता और उदासी का भाव पैदा करता है।

पाठकों को सम्बोधित करते हुए ''बिना शीर्षक'' शीर्षक से डूबी घंटी के सम्पादकों ने लिखा है :

> कुछ लोग कहते हैं, हमारा समाज एक रेगिस्तान है। अगर ऐसा होता, तो सूनेपन से भरा ही सही पर आपको शान्ति का अहसास होता, वीरानगी ही सही पर आपको अनन्तता का अहसास होता। यह इतना अराजक, विषादपूर्ण और सबसे बढ़कर इतना परिवर्तनशील नहीं होता, जैसा कि यह है।

हां, युवा लोगों की आत्मायें मेरे सामने उभरी हैं। वे रूखी हो गई हैं या रूखी हो जाने वाली हैं। लेकिन मैं इन आत्माओं को प्यार करता हूं जो चुपचाप खून के आंसू रोती हैं और बर्दाश्त करती हैं, क्योंकि वे मुझे यह अहसास कराती हैं कि मैं मनुष्यों की दुनिया में हूंमैं मनुष्यों के बीच जी रहा हूं।

मैं सम्पादन के काम में जुटा हूं; सूरज ढल गया है और मैं लैम्प की रोशनी में काम करता रहता हूं। हर तरह के युवा मेरी आंखों के सामने से कौंध जाते हैं, हालांकि मेरे चारों ओर शाम के झुटपुटे के सिवा कुछ भी नहीं है। थका हुआ, मैं एक सिगरेट सुलगाता हूं, धीमे से अपनी आंखें बन्द करता हूं, यूं ही कुछ सोचते हुए, और एक लम्बा, बहुत लम्बा सपना देखता हूं। मैं झटके से जागता हूं। चारों ओर कुछ नहीं बस झुटपुटा है; ठहरी हुई हवा में सिगरेट का धुआं गर्मी के आकाश में बादल के नन्हें टुकड़ों की तरह तैर रहा है और धीरे-धीरे अबूझ आकार ग्रहण कर रहा है।

10 अप्रैल 1926

अनुवाद : **सत्यम**

उन नौजवानों की पत्रिका जिन्होंने
जीवन और संघर्ष में उम्मीदें नहीं छोड़ी हैं

आह्वान **कैम्पस टाइम्स**

समाज परिवर्तन की क्रान्तिकारी राह पर चलने वाले
छात्रों-नौजवानों की त्रैमासिक पत्रिका

सम्पादकीय कार्यालय: **संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर-273001** मूल्य: **6** रु., वार्षिक: **24** रु. (डाकखर्च 8 रु.)
email : ahwancampustimes@rediffmail.com

जम्हूरियत के जन्नत की जहन्नुमी हकीकत

अमेरिका की आपराधिक न्याय व्यवस्था और अपराध का राजनीतिक अर्थशास्त्र

मीनाक्षी

पिछले बीस वर्षों में अमेरिकी जेलों में कैदियों की बेतहाशा बढ़ती आबादी, विभिन्न किस्म के सामाजिक अपराधों में हो रही बढ़ोत्तरी, अमेरिकी न्याय व्यवस्था के अन्यायों और उग्र होते नस्लवाद की परिघटना कोई अबूझ सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पहेली नहीं है। हर घटना-परिघटना की तरह इनके सुनिश्चित कारण हैं। अपराधों का भी एक राजनीतिक अर्थशास्त्र होता है। इनके कारण आज के अमेरिकी समाज के बुनियादी अन्तरविरोधों में तलाशे जाने चाहिए।

संयुक्त राज्य अमेरिका की जेलों में इस समय लगभग 20 लाख कैदी हैं और लगभग 40 लाख लोग जेल के बाहर पेरोल पर या पुलिस अधिकारियों की निगरानी (प्रोबेशन) में हैं।* यानी, दुनिया की 5 प्रतिशत आबादी वाले देश में दुनियाभर के कुल कैदियों की संख्या का 25 प्रतिशत है। इन कैदियों में से अधिकांश काले लोग, एशियाई, लैटिनो या आप्रवासी मजदूर हैं जिन्हें बेहद मामूली या फर्जी अपराधों में फंसाकर जेल की सींखचों में डाल दिया गया है।

पिछले चार-पांच वर्षों के भीतर पुलिस हिरासत में या सरेआम सड़कों पर 2000 से अधिक बेगुनाहों या छोटे-मोटे अपराधों में शामिल लोगों की बर्बर हत्यायें की जा चुकी हैं। ये सभी मारे गये लोग अश्वेत हैं। इनमें भी अधिकांश किशोर वय के हैं।

दुनिया के तमाम जनतंत्रप्रेमी लोगों की अपीलों को अनुसुना करते हुए क्रान्तिकारी पत्रकार मूमिया अबू-जमाल की मृत्युदण्ड की सजा पर पुनर्विचार करने के लिए नये सिरे से सुनवाई को अभी तक मंजूरी नहीं मिल सकी है। मूमिया अबू-जमाल के ऊपर एक पुलिस अधिकारी की हत्या का फर्जी आरोप मढ़कर जहरीला इंजेक्शन लगाकर मौत की नींद सुला देने का फैसला सुना दिया गया था। उन पर यह अभियोग भी लगाया गया कि जब वे ब्लैक पैंथर पार्टी के सदस्य थे तो उन्होंने अपने एक भाषण में यह खतरनाक वाक्य बोला था कि 'राज्यसत्ता का जन्म बन्दूक की नली से होता है। लेकिन, समूची अदालती कार्रवाई के दौरान अभियोजन पक्ष इस हत्या को सिद्ध नहीं कर सका, फिर भी उनकी मौत की सजा बरकरार है।

पिछले छह दिसम्बर को एक अन्रूय क्रान्तिकारी पत्रकार सी. क्लार्क किसिंगर को प्रोबेशन कानूनों का उल्लंघन करते हुए फिलाडेल्फिया में रिपब्लिकन पार्टी के राष्ट्रीय कन्वेन्शन के दौरान मूमिया अबू-जमाल के समर्थन में और मृत्युदण्ड के खिलाफ भाषण देने के जुर्म में अदालत ने 90 दिन की जेल की सजा सुना दी है।

सी. क्लार्क किसिंगर पर प्रोबेशन कानून के तहत यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया है कि न्यूयार्क शहर से बाहर जाने के लिए उन्हें सम्बन्धित प्रोबेशन अधिकारी से अनुमति लेनी होगी। उन पर यह प्रतिबन्ध इसलिए लगाया गया है क्योंकि वह मूमिया अबू-जमाल की रिहाई के लिये आन्दोलन संगठित करने वालों में पहली कतार में रहे हैं। प्रतिबन्ध लगने के बाद न्यूयार्क से बाहर जाने की छह अर्जियां किसिंगर ने दीं लेकिन व्यक्तिगत कारणों से बाहर जाने की तीन अर्जियों को छोड़कर बाकी तीन खारिज कर दी गयीं क्योंकि वे राजनीतिक कार्यक्रमों में शामिल होने के बारे में थीं। इस कारण पिछले एक अगस्त को उन्हें प्रोबेशन कानूनों की अवहेलना कर रिपब्लिकन पार्टी के राष्ट्रीय सम्मेलन के दौरान भाषण देने जाना पड़ा क्योंकि वह अमेरिकी जनतंत्र के पाखण्ड को दुनिया के सामने उजागर करने के इस महत्वपूर्ण अवसर को गंवाना नहीं चाहते थे। इसी अपराध में उनपर मुकदमा चलाया गया और 90 दिन कैद की सजा सुनायी गयी।

फिलाडेल्फिया की संघीय अदालत में मुकदमे की कार्रवाई जिस ढंग से संचालित की गयी वह न केवल इस सच्चाई का एक नंगा प्रमाण है कि कथित रूप से उदार बुर्जुआ जनतंत्रों में भी न्यायपालिका राज्यसत्ता के अन्य उपकरणों की ही तरह अन्ततोगत्वा शासक वर्गों के शोषण-शासन का उपकरण ही होती है। वरन इसने अमेरिकी न्यायव्यवस्था के बारे में प्रचलित मिथकों को एक बार फिर चकनाचूर कर दिया है।

किसिंगर के मुकदमे की सुनवाई कर रहे जज रैपोर्ट महाशय का रवैया इस कदर दुश्मनाना था जैसे वह जज नहीं बल्कि अभियोग पक्ष का वकील हो। उसने बचाव पक्ष की एक भी दलील सुनने से ही इन्कार कर दिया। किसिंगर के वकीलों का तर्क था कि प्रोबेशन कानूनों के उल्लंघन पर विचार करने से पहले इसपर विचार किया जाना चाहिए कि किसी व्यक्ति के राजनीतिक अधिकार, भाषण की स्वतंत्रता पर रोक लगायी जा सकती है या नहीं। जज इस पर कान देने का राजी नहीं हुआ। उसने और सरकारी वकील ने यही रट लगाये रखी कि सुनवाई सिर्फ इस पर होगी कि किसिंगर ने प्रोबेशन का उल्लंघन किया ही नहीं। लेकिन सरकारी वकील ने अपनी ही बात रिपब्लिकन पार्टी के राष्ट्रीय सम्मेलन में दिये गये किसिंगर के भाषण के इस अंश से शुरू की : *''जार्ज डब्ल्यू. बुश एक खींसें निपोरने वाला धूर्त मुखबिर है, सी.आई.ए. के भूतपूर्व मुखिया का बेटा है, जो आगे चलकर तेल व्यापार का सटोरिया बना,*

* टिप्पणी में उल्लिखित आंकड़े 1999 में 'वर्सो' से प्रकाशित क्रिश्चियन पैरेण्टी की चर्चित पुस्तक '*लॉकडाउन अमेरिका : पुलिस एण्ड प्रिजन्स इन द एज आफ क्राइसिस*' से लिये गये हैं।

और वहां से आगे बढ़कर रक्त-सना जल्लाद बन गया और आज वह पूरी दुनिया पर हुकूमत करना चाहता है।'' सरकारी वकील ने अदालत का इस पर ध्यान दिलाया कि किसिंगर ने रिपब्लिकन पार्टी के राष्ट्रीय कन्वेंशन को ''जल्लादों का जमावड़ा'' कहा और मूमिया अबू-जमाल की हिफाजत करने की प्रतिज्ञा की।

बचाव पक्ष के वकील ने जब अदालत से किसिंगर को फिलाडेल्फिया जाने की अनुमति न देने का कारण जानना चाहा तो जज उदण्डता से बोला, *''सौभाग्य से मेरे पास इसका स्पष्टीकरण देने के लिए कुछ नहीं है और ऐसा मेरा इरादा भी नहीं है।* लेकिन जब वकील ने एक न्यायिक निर्णय का हवाल देते हुए कहा कि जज को प्रोबेशन कानूनों के उल्लंघन के मामले में सजा सुनाते समय साक्ष्य देना अनिवार्य है तो जज तमतमाकर बोला, *''पिछला व्यवहार बताता है कि उसका (क्लार्क किसिंगर का) भाषण नागरिक अवज्ञा के आह्वान से खत्म होता है। आप कारण जानना चाहते हैं न। यह रहा आपका उत्तर। क्या आप इसके अलावा भी कुछ जानना चाहते हैं? .... वह यहां (फिलाडेल्फिया में) अपना वही पुराना काम करने आना चाहता था।... उसने पहले यह किया है। क्या मैं यह मान लेता कि वह दुबारा ऐसा नहीं करेगा।''*

जज के इस उत्तर के बाद बचाव पक्ष के वकील रॉन कूबी ने यह जानते हुए भी कि उनकी दलीलें बेमानी हैं अदालत के कमरे में मौजूद लोगों को परोक्षतः सम्बोधित करते हुए कहा, *''मेरे जीवन का यह पहला मुकदमा है जब मैं एक व्यक्ति को फिलाडेल्फिया, जिसे स्वतंत्रता का पालना कहा जाता है, आने और मृत्युदण्ड जैसे आज के सबसे अहम मुद्दे पर भाषण देने के लिए जेल भेजने के बारे में गम्भीरतापूर्वक विचार करते देख-सुन रहा हूं। ... इस अहम मुद्दे पर फिलाडेल्फिया आकर भाषण देना अत्यधिक महत्वपूर्ण था। यहां रिपब्लिकन पार्टी का राष्ट्रीय कन्वेंशन हो रहा था। दुनिया की नजरें इस पर टिकी थीं। यहीं पर मूमिया अबू-जमाल को मौत की सजा सुनायी गयी थी।''*

लेकिन, स्थानीय प्रशासन ने इस बात का जबर्दस्त बन्दोबस्त किया था कि इस अदालती कार्रवाई को कम से कम लोग देख सुन सकें। जिस कमरे में सुनवाई हो रही थी, उसमें बमुश्किल बीस-पच्चीस लोग बैठ सकते थे। अदालत के बाहर मूमिया अबू-जमाल और क्लार्क किसिंगर के समर्थकों का हुजूम इकट्ठा था जिसे खदेड़ने के लिए पुलिस ने कई बार बल प्रयोग किया।

यह है जम्हूरियत के जन्नत की जहन्नुमी हकीकत! धर्मोपदेशकों की मुद्रा में दुनिया को जनवाद, 'बहुलवाद' और मानवाधिकारों की सीख देने वाला अमेरिका आज जनतांत्रिक अधिकारों के अपहरण, राजनीतिक विरोधियों के दमन, पुलिस बर्बरता, सामाजिक अपराधों और नस्ली भेदभाव का अगुवा बना हुआ है।

नस्ली भेदभाव अमेरिकी न्यायव्यवस्था तक में गहराई तक व्याप्त है। एक आंकड़े के अनुसार अफ्रीकी मूल के 13 प्रतिशत अमेरिकी मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं लेकिन इस अपराध में गिरफ्तार लोगों में उनकी संख्या 74 प्रतिशत है। जेलों में बन्द श्वेत-अश्वेत कैदियों का अनुपात 1 : 7 है। स्थिति तो यह है कि रंगभेदवादी शासन के दौरान दक्षिण अफ्रीका की जेलों में बन्द अश्वेतों से 4 गुना अधिक लोग आज अमेरिकी जेलों में बन्द हैं।

जेलों में इन कैदियों को किन अमानुषिक दशाओं में रखा जाता है, किस-किस ढंग से यातनायें दी जाती हैं, इसके ब्यौरे से अधिक सजीव टिप्पणी हमें मूमिया अबू-जमाल की पुस्तक **''फांसीघर से आंखों देखा हाल''** ('लाइव फ्रॉम द डेथ रो', जेल में लिखी मूमिया की इस पुस्तक के प्रकाशन पर सरकार ने रोक लगा रखी है।) के इस छोटे से अंश से मिलती है, यहां है *''दिल दहला देने वाला आलम... रोजमर्रा की छोटी-छोटी घटनाओं में... हर पल आत्मा को बींध देने वाले प्रहार।''*

पिछले बीस वर्षों में अमेरिकी जेलों में कैदियों की बेतहाशा बढ़ती आबादी, विभिन्न किस्म के सामाजिक अपराधों में हो रही बढ़ोत्तरी, अमेरिकी न्याय व्यवस्था के अन्यायों और उग्र होते नस्लवाद की परिघटना कोई अबूझ सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पहेली नहीं है। हर घटना-परिघटना की तरह इनके सुनिश्चित कारण हैं। अपराधों का भी एक राजनीतिक अर्थशास्त्र होता है। इनके कारण आज के अमेरिकी समाज के बुनियादी अन्तरविरोधों में तलाशे जाने चाहिए।

इनके कारण बुनियादी तौर पर अमेरिकी और विश्व पूंजीवाद के उस ढांचागत संकट में निहित हैं जो पिछले दो दशकों के दौरान अधिकाधिक तीखा होता गया है। अमेरिकी वित्तीय पूंजी का द्वितीय विश्वयुद्धोत्तरकालीन वैभव तो साठ के दशक के उत्तरार्द्ध से ही पराभव की ओर उन्मुख हो चुका था, लेकिन विगत दो दशकों के दौरान इसकी रफ्तार तीव्रतर होती हुई आज वहां पहुंच चुकी है जहां अब वह सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में निरंकुश नंगनाच करके ही अपने अस्तित्व को बचाने की कोशिश कर सकती है। ढलान पर लुढ़कने की इस प्रक्रिया पर एक सरसरी नजर डालने से इस तथ्य की पुष्टि हो जायेगी।

अमेरिका और यूरोप की युद्धविध्वस्त अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण ने अमेरिकी उद्योग जगत को जिस तीखी प्रतिद्वंद्विता में झोंक दिया था उसने स्वाभाविक तौर से पूंजीवादी अति उत्पादन को जन्म दिया। अमेरिकी पूंजी अभी संकट के इस नये दौर के रूबरू ही हुई थी कि साठ के दशक के उत्तरार्द्ध में उभरे नागरिक अधिकार आन्दोलन और युद्ध विरोधी सरगर्मियों ने अमेरिकी मजदूर वर्ग को भी नये सिरे से जागृत कर दिया। नतीजतन बाजार में श्रम की कीमते बढ़ी और इसी समय उठे पर्यावरण आन्दोलनों ने भी पूंजीपतियों को मजबूर किया कि वे पर्यावरण नियंत्रण उपायों पर काफी मंहगा निवेश करें। विश्व पूंजीवादी तंत्र और घरेलू संकट के जटिल प्रभावों का नतीजा यह हुआ कि 1965 में रही औसत 10 प्रतिशत मुनाफे की दर लुढ़ककर 4.5 प्रतिशत तक पहुंच गयी।

इसके बाद से अमेरिकी पूंजी के हमलावर तेवर का जो नया दौर शुरू हुआ वह लगातार उग्रतर होता गया है। पहला हमला रैडिकल आन्दोलनों पर हुआ। अश्वेत आबादी के विद्रोह को बर्बरतापूर्वक कुचलने की शुरुआत हुई। एक व्यापक एवं मारक खुफियातंत्र विकसित किया गया। ब्लैक पैंथर पार्टी की तीस से अधिक कार्यकर्ताओं की हत्याओं को इसी कड़ी में जोड़ा जा सकता है। कानून व्यवस्था को बचाने की जो चीखपुकार उन दिनों मचायी गयी थी उसके पीछे असली मंशा क्या थी यह तत्कालीन राष्ट्रपति निक्सन के मुख्य सहायक एच.आर. हाल्डेमान की डायरी का यह अंश साफ तौर पर उजागर कर देता है।

''(राष्ट्रपति निक्सन) *का इस बात पर जोर था कि सारी समस्या के मूल में ये काले लोग हैं। मुख्य बात यह है कि एक ऐसी तरकीब निकाली जाये जो इस सच्चाई को तो ध्यान में रखे लेकिन यह उजागर न हो सके।''*

निक्सन काल में सोची गयी यह तरकीब आज अपने अमली रूप में सामने है। इसे अमली रूप देने की जरूरतें भी पिछले दो दशकों में काफी विकसित हो चुकी हैं।

80 के दशक में 'रीगनामिक्स' के आक्रामक दौर में 'कल्याणकारी' कार्यक्रमों में कटौतियां, छंटनी-तालाबन्दी का जो सिलसिला शुरू हुआ था वह '90 के दशक में, भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर की शुरुआत के साथ नयी आक्रामकता के साथ शुरू हुआ है। आज अमेरिकी पूंजी अपने मुनाफे की दर बढ़ाने के लिए अमेरिका के भीतर और बाहर कम मजदूरी वाले क्षेत्रों में तेजी के साथ अपने मैन्युफैक्चरिंग कारोबार को शिफ्ट कर रही है। नतीजतन भारी पैमोन पर रोजगार छिन रहे हैं। खासकर काली और लैटिनी आबादी पर इसका सर्वाधिक बुरा असर पड़ रहा है। अमेरिका के भीतर आज आप्रवासी मजदूरों को काम रखने का चलन जोरों पर है क्योंकि उनसे देश से बाहर निकाल देने का खौफ दिखाकर बेहद कम मजदूरी में काम कराया जा सकता है। पूंजीवादी उत्पादन के नजरिये से आज शहरी झुग्गी झोपड़ियों में रहने वाली काली और लैटिनो आबादी ''फाजिल'' ''सामाजिक कबाड़'' हो गयी है। इसके साथ ही इनके लड़ाकूपन का भी एक इतिहास रहा है। इसलिए, अमेरिकी पूंजी इन्हें सम्भावनासम्पन्न ''सामाजिक डायनामाइट'' के रूप में देखती है जो आज उसकी नयी अर्थव्यवस्था के सर्वाधिक लाभप्रद क्षेत्रोंवित्तीय, बीमा, 'रीयल एस्टेट' और संचार के शहरी केन्द्रों के लिए जबर्दस्त खतरा है। अमेरिका में आज नये सिरे से मची कानून-व्यवस्था की चीखपुकार और अपराधविरोधी अभियान अमेरिकी वित्तीय पूंजी की इसी जरूरत की देन है। इसी के साथ अमेरिकी मजदूरों द्वारा पहले अर्जित सुविधाओं और जरूरतों में कटौती से जो असन्तोष घनीभूत हो रहा है उसे मोड़ने के लिए एक आसन्न राजनीतिक जरूरत भी पैदा हो गयी है। नस्लवादी भावनाओं को तरह-तरह से भड़काने की कोशिशें इसी जरूरत की उपज हैं।

क्रिश्चियन पैरेण्टी ने अपनी एक ताजा उल्लेखनीय पुस्तक '**लॉक डाउन अमेरिका** : पुलिस एंड **प्रिजंस इन द एज आफ क्राइसिस** में अमेरिकी पूंजी की इस राजनीतिक जरूरत को इन शब्दों में व्यक्त किया है :

''जैसे-जैसे आर्थिक अन्तरविरोध गहराते जा रहे हैं, रैडिकल हो रहा है वर्गआप्रवासी, शहरी भिखारी, जालसाज, अश्वेत आबादी, 'चोर' और ''खूंखार अपराधी''आर्थिक रूप से (श्वेत) परेशानहाल मध्यवर्ग और मजदूरों के दिमाग में पहले हमेशा से अधिक हौवा बन रहे हैं। (क्योंकि) कारपोरेट व्यवस्था व्यापक गरीब और मेहनतकश जनसमुदाय की जरूरतों को न पूरा करना चाहती है और न कर सकती है, इसलिए (राजनीतिज्ञ) अनिवार्यतः अपराधों पर चीख पुकार मचाने और नस्लवाद के प्रेत को जगाने के हथकंडों का इस्तेमाल वाजिब राजनीतिक आकांक्षाओं से ध्यान भटकाने और गढ़े गये दुश्मनों के खिलाफ भड़काने और गोलबन्द करने के लिए कर रहे हैं।

आज अमेरिका के सभी राजनीतिक दलों में कानून-व्यवस्था पर खतरे और बढ़ते अपराधों पर चीख पुकार मचाने की होड़ मची हुई है और इसकी आड़ में एक से बढ़कर एक नये दमनकारी उपाय किये जा रहे हैं। पेरेंटी ने इनका एक संक्षिप्त ब्यौरा भी अपनी पुस्तक में दिया है जैसे :

पुलिस स्पेशल वेपन्स एंड टैक्टिक्स टीमें (SWAT) : 1966 में लास एंजेल्स में पहली 'स्वाट' टीम का गठन हुआ था। आज ऐसी 30 हजार टीमें गठित हो चुकी हैं। 'स्वाट' पुलिस का सैन्यीकरण करने में अगुवा की भूमिका निभा रहा है, उसे 'असाल्ट रायफलों', बख्तरबन्द गाड़ियों, शिकारी कुत्तों और हेलिकाप्टरों से लैस कर रही है। साथ ही, पुलिस के भीतर एक ऐसी कमांडो मानसिकता भी कूट-कूट कर भर रही है जो हर काले या लैटिनो व्यक्ति को अपना दुश्मन समझती है।

अपराध विरोधी कानून : पिछले एक दशक के दौरान हजारों भीषण दमनकारी कानून पास किये गये हैं जिनके तहत पुलिस को असीमित अधिकारों से लैस किया गया है।

आप्रवासियों का अपराधीकरण : कानून लागू करने वाली एजेंसियों के बीच और यहां तक कि कभी-कभार सेना के साथ भी एक नया अभूतपूर्व तालमेल विकसित कर आप्रवासियों को तरह-तरह से उत्पीड़ित किया जा रहा है। पैरेण्टी लिखते हैं कि अमेरिका-मेक्सिको सीमा पर ''पुलिस जिस आक्रामक और सर्वसत्तावादी ढंग से व्यवहार कर रही है, वैसा पहले कभी नहीं देखा गया था। सीमा के चेक पोस्ट पर नस्लवादी भेदभाव का आलम यह है कि कोई भी श्वेत तो बेरोकटोक आ-जा सकता है लेकिन हर अश्वेत को निरपवाद रूप से रोककर अपमानित और उत्पीड़ित किया जाता है। भूमण्डलीकरण की नीतियों से तबाह अर्थव्यवस्था के कारण रोजगार की तलाश में अमेरिका आने वाले आप्रवासियों को अमेरिका में रोजगार में कमी होने के लिए दोषी ठहराया जा रहा है। इस तरह, राजनीतिज्ञों को *''सस्ता बलि का बकरा मिल गया है और नियोक्ताओं को बेजुबान श्रम।*

''जीवन की गुणवत्ता'' के नाम पर :

''जीवन की गुणवत्ता'' बढ़ाने और ''शून्य सहनशीलता'' (जीरो टॉलरेंस) के नारों की आड़ में समूची अश्वेत आबादी के भीतर कानून का आतंक पैदा किया जा रहा है और दीवार पर नारे लिखने, बिना टिकट यात्रा करने, बीयर की बोतलों को खोल देने जैसे मामूली ''अपराधों'' के लिए पुलिस बर्बरता के नये-नये कीर्तिमान कायम कर रही है। ऐसा शहरों में रहने वाली सुखी-सम्पन्न मुट्ठी भर आबादी के लिए निरापद क्षेत्र बनाने के लिए किया जा रहा है।

पैरेंटी के पुस्तक में अमेरिका में तेजी से विकसित हो रहे **''जेल-औद्योगिक काम्प्लेक्स''** की तथ्यात्मक जानकारी दी गयी है। उनके अनुसार अमेरिका प्रतिवर्ष 40 अरब डालर नयी जेलों को बनाने और उन्हें संचालित करने पर खर्च कर रहा है। लगभग पांच लाख से अधिक ''सुधार'' अधिकारी काम कर रहे हैं। जेलों के भीतर विशेष ''सुपरमैक्स'' कोठरियां बनायी जा रही हैं, जिनमें कथित रूप से खूंखार अपराधी रखे जा रहे हैं। लेकिन सच्चाई यह है कि इनमें ज्यादातर राजनीतिक कार्यकर्ता व विद्रोही ठूंसे जा रहे हैं। जेलों के भीतर बनी इन जेलों में 24 में से 23 घंटे ताले बन्द रहते हैं, इनमें इलेक्ट्रान खुफिया उपकरण लगे रहते हैं और इनमें बन्द कैदियों से किसी को मिलने नहीं दिया जाता।

दैत्य के दुर्ग में उठने लगे हैं तूफान :

अमेरिका में बरपा हो रहे दमन के कहर और पुलिस बर्बरताओं को लोग चुपचाप बर्दाश्त कर रहे हों, ऐसा नहीं है। ऐसा हो भी नहीं सकता। अभी पिछले दो जून को सिनसिनाटी शहर में एक अश्वेत युवक की पुलिस द्वारा की गयी बर्बर हत्या के विरोध में सिनसिनाटी शहरों सहित कई शहरों में (डेट्रायट, अटलांटा, न्यूयार्क आदि) विरोध प्रदर्शन हुआ। इसी तरह पिछले सात अप्रैल को सिनसिनाटी शहर में ही पुलिस द्वारा एक और अश्वेत युवक टिमोथी थामस की हत्या के विरोध में सिनसिनाटी और आसपास के कई शहरों में हिंसक विरोध भड़क उठा। कई दिनों तक जारी व्यापक प्रदर्शनों को नियंत्रित करने के लिए पूरे क्षेत्र में आपात स्थिति की घोषणा करनी पड़ी और भारी संख्या में पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों को तैनात करना पड़ा।

(शेष पृष्ठ 79 पर)

अमेरिका का विश्वव्यापी कम्प्यूटर जासूसी तंत्र

निजता, सामूहिक और राजनीतिक स्वतंत्रता पर एक और हमला

सत्यप्रकाश

पिछली सदी के अंतिम दशक में स्वतंत्रता के नये प्रतीक, बन्धनों से मुक्त संवाद-संचार के माध्यम के रूप में इंटरनेट का गुणगान किया जा रहा था। पर नई सदी की शुरुआत होते-होते यह मिथक टूट चुका है। एक बार फिर यह साबित हुआ है कि पूंजीवाद वैयक्तिक और सामूहिक स्वतंत्रता, निजता और अभिव्यक्ति की आजादी का सबसे बड़ा शत्रु है।

पिछले महीने यूरोपीय संसद की एक जांच समिति ने एक वर्ष की जांच-पड़ताल के बाद अपनी रिपोर्ट में इस बात की पुष्टि कर दी कि अमेरिका और उसके सहयोगी देश लम्बे समय से दुनिया भर में ई-मेल, फैक्स और फोन संदेशों को चोरी-छिपे पढ़ते और सुनते रहे हैं। पिछले वर्ष ही कुछ अखबारों ने भण्डाफोड़ किया था कि 'एकेलॉन' (Echelon) नामक एक अति गोपनीय विश्वव्यापी जासूसी तंत्र कई दशकों से इस हरकत में लगा हुआ है। इसमें अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड शामिल हैं। इस भण्डाफोड़ के बाद अमेरिका बेशर्मी के साथ झूठ बोलता रहा कि ऐसा कुछ भी नहीं है। और अब जबकि यूरोपीय संसद की समिति ने साक्ष्यों सहित एकेलॉन के अस्तित्व को साबित कर दिया है तो अमेरिका और उसके सहयोगी देशों ने ढिठाई भरी चुप्पी साध ली है।

रिपोर्ट के मुताबिक द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही एकेलॉन का जाल फैलना शुरू हो गया था। संचार माध्यमों के उन्नत होते जाने के साथ अमेरिका ने इसमें जमकर पैसा लगाया ताकि ई-मेल, फैक्स आदि को भी जासूसी के दायरे में लाया जा सके। अभी यूरोपीय देशों में भी इसकी मौजूदगी के साक्ष्य मिले हैं लेकिन यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि तीसरी दुनिया के देशों में भी एकेलॉन का अदृश्य जाल जरूर फैला होगा। रिपोर्ट के मुताबिक अमेरिका ने सहयोगी देशों की मदद से अनेक देशों में अपने खुफिया केन्द्र स्थापित किये हैं जहां से वह यूरोप और अमेरिका में कहीं से कहीं भी भेजे जाने वाले सभी ई-मेल और फैक्स संदेशों को बीच में ही पढ़ सकता है और फोन कालों को सुनकर रिकार्ड कर सकता है। ऐसे खुफिया केन्द्र किसी न किसी छद्म नाम से काम करते हैं। प्रायः किसी तकनीकी संस्थान या रेडियो स्टेशन या ऐसे ही आवरण का इस्तेमाल किया जाता है। ब्रिटेन जैसे देशों में खुद सरकार की मदद से ऐसा किया जा रहा है।

आम धारणा के ठीक उलट हकीकत यह है कि पश्चिम के पूंजीवादी देशों में निजी जिन्दगी में राज्य का दखल बढ़ता गया है। एक-एक नागरिक का पूरा रिकार्ड सरकारी एजेंसियों के पास होता है और उनकी गतिविधियों पर राज्य हर समय नजर रखे रहता है। जार्ज ऑरवेल ने अपने उपन्यास '1984' में समाजवादी देशों में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को विकृत ढंग से पेश करने के लिए ''बिग ब्रदर इज वॉचिंग यू'' की जो तस्वीर पेश की थी वह आज पूंजीवादी देशों पर पूरी तरह लागू होती है। अमेरिका ही नहीं, यूरोप के ज्यादातर मुल्कों में सरकारें बुर्जुआ 'प्राइवेसी' के तमाम उसूलों को धता बताते हुए अपने नागरिकों के निजी जीवन में ताक-झांक करती रहती हैं। किसी भी तरह की व्यवस्था विरोधी गतिविधियां, रैडिकल विचार रखने वाले लोग, क्रान्तिकारी राजनीतिक कार्यकर्ता और बुद्धिजीवी उनका असली निशाना होते हैं। आज अगर यूरोपीय संसद ने खुद ही इस साजिश का भण्डाफोड़ किया है तो इसकी वजह यह है कि एकेलॉन का इस्तेमाल यूरोपीय कम्पनियों की गोपनीय जानकारियां चुराकर उन्हें अमेरिका और सहयोगी देशों की कम्पनियों को मुहैया कराने के लिए भी किया जा रहा था जिसके चलते अरबों डालर के सौदे यूरोपीय कम्पनियों के हाथ से निकल गये। यह भण्डाफोड़ लुटेरों के आपसी टकराव का नतीजा भर है।

•

ऐसे खुफिया जालों का इस्तेमाल महज व्यापारिक सूचनायें चुराने के लिए नहीं हो रहा है, यह उस कुत्सित जासूसी तंत्र से साफ जाहिर है जिसे अमेरिका खुद अपने नागरिकों के खिलाफ इस्तेमाल कर रहा है। कार्निवोर (मांसभक्षी) नामक यह तंत्र अमेरिका की कुख्यात खुफिया एजेंसी एफ.बी.आई. चला रही है। पिछले वर्ष कुछ अखबारों में भण्डाफोड़ होने के बाद भी पहले क्लिंटन और अब बुश प्रशासन पूरी ढिठाई के साथ इसे जारी रखने पर आमादा है। सरल ढंग से कहें तो यह किसी की टेलीफोन पर बातचीत चोरी से सुनने जैसा ही है। पर फर्क यह है कि कार्निवोर के जरिए अमेरिका में किसी नागरिक द्वारा भेजे या प्राप्त किये गये समस्त ई-मेल सन्देश पढ़े जा सकते हैं, वह कौन सी वेबसाइट खोलता है, किस चैट रूम में जाता है, यानी इंटरनेट पर उसकी एक-एक कार्रवाई को बाकायदा दर्ज किया जा सकता है।

इसके बारे में अबतक मिली थोड़ी-बहुत जानकारी के मुताबिक एफबीआई चोरी-छिपे इंटरनेट सेवा प्रदाताओं (आई एस पी) के कम्प्यूटर सर्वर में कार्निवोर प्रणाली के ''ब्लैक बाक्स'' लगाती रही है। इनमें अमेरिका ऑन लाइन और माइक्रोसाफ्ट जैसी इंटरनेट कम्पनियां, विश्वविद्यालय, औद्योगिक कम्पनियां और सरकारी एजेंसियां शामिल हैं। इन 'ब्लैक बाक्स' से एफबीआई के जासूस किसी भी आईएसपी के सर्वर से गुजरने वाले समस्त ई-मेल को अपने कम्प्यूटरों में 'कॉपी' कर सकते हैं। इसके बाद वे विशेष साफ्टवेयर से किसी भी ई-मेल संदेश या पते को ढूंढ़ सकते हैं।

दुनिया में लगभग डेढ़ अरब ई-मेल संदेश रोज भेजे जाते हैं। इनकी सबसे बड़ी संख्या अमेरिका में होती है। वहां हर तरह के आपसी संवाद के लिए इंटरनेट पर चलने वाले चर्चा समूहों और ई मेल का इस्तेमाल बढ़ता जा रहा है। राजनीतिक विमर्श और राजनीतिक कार्रवाइयों की योजनाएं बनाने के लिये भी इनका इस्तेमाल बहुत अधिक हो रहा है। पिछले कुछ वर्षों में खासकर अमेरिका में विशाल विरोध

प्रदर्शनों और आन्दोलनों को संगठित करने के लिए ई मेल और इंटरनेट चर्चा समूहों के इस्तेमाल से पुलिस और खुफिया एजेंसियां परेशान रही हैं। एफबीआई का यह जाल इसी का जवाब है।

सरकार की नीयत में खोट इस मुद्दे पर उसके बार-बार के झूठों से साफ जाहिर है। पहले तो एफबीआई ऐसी किसी चीज से ही इंकार करती रही और जब इसका भण्डाफोड़ हो गया तो वह दावा करने लगी कि इसका इस्तेमाल बहुत चुनिन्दा मामलों में और अदालत की अनुमति से ही किया जायेगा। लेकिन हर तरह के झूठ, धोखाधड़ी और संगीन अपराधों के लिए कुख्यात एफबीआई के ऐसे दावों पर किसी को यकीन नहीं है। कार्निवोर के भण्डाफोड़ के बाद से ही अमेरिका में विभिन्न क्रान्तिकारी संगठन, नागरिक अधिकार संगठन और प्रगतिशील बुद्धिजीवी इसके खिलाफ अभियान चला रहे हैं। यहां तक कि कुछ छोटी इंटरनेट कम्पनियों ने ब्लैक बाक्स लगाने की एफबीआई की कोशिश के खिलाफ अदालत का दरवाजा भी खटखटाया है।

दूसरी ओर राष्ट्र-राष्ट्र चिल्लाने वाले भाजपाइयों की सरकार ऐसी कुख्यात एजेंसी को भारत में दफ्तर खोलने के लिए लाल गलीचा बिछा रही है। पिछले वर्ष तमाम विरोध को दरकिनार करते हुए सरकार जिस सांख्यवाहिनी परियोजना को लागू करने पर आमादा थी, उसके पीछे अमेरिकी रक्षा प्रतिष्ठान से जुड़ी संदेहास्पद कम्पनियां लगी हुई थीं। देश भर के कम्प्यूटर नेटवर्कों को जोड़ने वाली इस परियोजना में जबर्दस्त घपलों के साथ-साथ साम्राज्यवादियों के और भी हित जुड़े हुए थे। विरोध के बाद जिस तरह अचानक यह योजना ठण्डे बस्ते में डाल दी गयी उसने संदेह को और पुख्ता ही किया है।

भूमण्डलीकरण के दौर में सिर्फ विदेशी पूंजी और तकनीक ही देश में नहीं आ रही है। इस व्यवस्था के विरोधियों से निपटने और उन पर नजर रखने के लिए भी साम्राज्यवादी देश भारत के शासकों की भरपूर मदद कर रहे हैं। इजरायल की हत्यारी खुफिया एजेंसी मोस्साद से लेकर अमेरिका तक के खुफिया अधिकारी भारतीय पुलिस को प्रशिक्षण देने आ रहे हैं। जनान्दोलनों को तोड़ने ओर उनका दमन करने की नई-नई तकनीकें सिखायी जा रही हैं। आश्चर्य नहीं कि जल्दी ही देशी पुलिस भी

(शेष पृष्ठ 79 पर)

कौन उठाता है करों का बोझ

राकेश

ज्यादातर मध्यवर्गीय लोगों के दिमाग में यह भ्रम जड़ जमाये हुए है कि उनके और अमीर लोगों के चुकाये हुए करों की बदौलत ही सरकारों का कामकाज चलता है। प्रायः कल्याणकारी कार्यक्रमों या गरीबों को मिलने वाली थोड़ी-बहुत रियायतों पर वे इस अन्दाज में गुस्सा होते हैं कि सरकार उनसे कर वसूलकर, लुटा रही है।

करों के बोझ के बारे में यह भ्रम सिर्फ आम लोगों को ही नहीं है। तमाम विश्वविद्यालयों के अर्थशास्त्र विभागों में भी प्रोफेसरान इस किस्म के अमूर्त आर्थिक मॉडल पेश करते हैं जिनमें यह मानकर चला जाता है कि गरीब कोई कर नहीं चुकाते और सिर्फ सरकारी दान बटोरते रहते हैं जिसके लिए पैसा अमीरों पर कर लगाकर जुटाया जाता है।

सच्चाई इसके ठीक विपरीत है। हकीकत यह है कि आम मेहनतकश आबादी से बटोरे गये करों से पूंजीपतियों को मुनाफा पहुंचाया जाता है और समाज के अल्पसंख्यक उपभोक्ता वर्ग को सहूलियतें मुहैया करायी जाती हैं। कर न केवल बुर्जुआ राज्य की आय का मुख्य स्रोत है बल्कि यह आम जनता के शोषण और पूंजीपतियों को मुनाफा पहुंचाने का एक और जरिया भी है। सरकार के खजाने में पहुंचाने वाले करों का तीन-चौथाई से ज्यादा हिस्सा आम आबादी पर लगाये गये करों से आता है जबकि एक चौथाई से भी कम निजी सम्पत्ति और उद्योगों पर लगे करों से।

भारत में कर राजस्व का भारी हिस्सा परोक्ष करों से आता है। केन्द्र सरकार के कर राजस्व का 70 प्रतिशत से ज्यादा परोक्ष करों से आता है। राज्य सरकारों के कुल कर संग्रह का 95 प्रतिशत से भी ज्यादा परोक्ष करों से मिलता है। इस तरह केन्द्र और राज्य सरकारों, दोनों के करों को मिलाकर देखें तो कुल करों का 82 प्रतिशत परोक्ष कर (बिक्रीकर, उत्पादकर, सीमा शुल्क आदि) हैं जबकि सिर्फ 18 प्रतिशत प्रत्यक्ष कर (आयकर, सपत्तिकर आदि)।

कुछ लोग तर्क देते हैं कि अमीर या उच्च मध्य वर्ग के लोग ही परोक्ष करों का भी ज्यादा बोझ उठाते हैं क्योंकि वे उपभोक्ता सामग्रियों पर ज्यादा खर्च करते हैं। पर सच यह है कि लगभग 85 प्रतिशत आम आबादी अपनी रोजमर्रा की चीजों की खरीद पर जो कर चुकाती है उसका कुल परिमाण मुट्ठीभर ऊपरी तबके द्वारा चुकाये करों से कहीं ज्यादा होता है। इससे भी बढ़कर यह है कि आम मेहनतकश लोगों की आय का खासा बड़ा हिस्सा करों के रूप में सरकार और पूंजीपतियों-व्यापारियों के बैंक खातों में वापस लौट जाता है।

इसपर तुर्रा यह है कि सरकार पूंजीपतियों को तमाम तरह के विशेषाधिकार और छूटें देती है। उन पूंजीपतियों को जो तमाम तरह की तिकड़मों, फर्जी लेखे-जोखे आदि के जरिए अपनी कर-योग्य आय का भारी हिस्सा छुपा लेते हैं। इसके लिए वे मोटी तनख्वाहों पर वकीलों और कर विशेषज्ञों को रखते हैं। उसके बाद बनने वाले करों का भुगतान भी वे प्रायः कई-कई साल तक लटकाये रखते हैं और अकसर उन्हें पूर्णतः या अंशतः माफ कराने में भी कामयाब हो जाते हैं।

आम लोगों को शिक्षा, चिकित्सा, आदि के लिए दी जाने वाली सब्सिडियों को लेकर मचाये जाने वाले तमाम शोर-शराबे के बावजूद वास्तविकता यह है कि आज भी भारी पैमाने पर सब्सिडी उद्योगों को दी जाती है। इसके अलावा आम लोगों से उगाहे गये करों से पूंजीपतियों के लाभार्थ अनुसन्धान कार्य होते हैं, उनके प्रतिनिधिमण्डलों के विदेशी दौरे कराये जाते हैं, मुख्यतः उनकी सुविधा के लिए सड़कें और रेलें बिछायी जाती हैं, रेलों में माल ढुलाई पर भारी छूट दी जाती है, आदि। उन्हें जो कर चुकाने पड़ते हैं उसकी वसूली भी वे चीजों के दाम बढ़कर आम जनता से कर लेते हैं।

इसका उदाहरण पिछले बजट में देखा जा सकता है। उत्पाद शुल्क दरों को "युक्तिसंगत" बनाने के नाम पर पहले से चली आ रही 8, 16 और 24 प्रतिशत दरों को मिलाकर सभी वस्तुओं पर एक समान 16 प्रतिशत की दर लागू कर दी गई। पहली नजर में इसमें कुछ गड़बड़ नहीं दिखाई पड़ती है क्योंकि औसत दर बनाये रखी गई है लेकिन

(शेष पृष्ठ 79 पर)

बंधुआ मुक्ति से मुक्त बाजार व्यवस्था की गुलामी तक

शरद कुमार

झारखण्ड के देवघर जिले में सुप्रीम कोर्ट के आदेश से मुक्त कराये गये सैकड़ों बंधुआ मजदूर आज फिर अपने पुराने मालिकों के खेतों या ईंट-भट्ठों पर काम कर रहे हैं। उन्हें कोई जबरन पकड़ कर या धमका कर नहीं लाया है, वे अपनी मर्जी से काम कर रहे हैं।

पुराने मालिक की बर्बर दासता से मुक्त होते समय इन बंधुआ मजदूरों ने सोचा था कि वे अब आजादी की खुली हवा में सांस ले सकेंगे। अपनी मर्जी से काम करेंगे। लेकिन जल्दी ही उन्होंने खुद को एक नई गुलामी की दमघोंटू हवा में हांफते हुए पाया। वे अब आजाद थे मुक्त बाजार व्यवस्था में लुटने-पिटने और भूखों मरने के लिए।

एक एन.जी.ओ. की याचिका पर सुप्रीम कोर्ट के आदेश से देवघर के करीब 2600 बंधुआ मजदूर 1992 में मुक्त करोय गये थें इनमें से करीब 150 अपने पुराने मालिक-किसानों या भट्ठा मालिकों के पास बेहद कम मजदूरी पर काम करने के लिए लौट गये हैं। बाकी में से ज्यादातर देवघर और आसपास में दिहाड़ी कर रहे हैं। बंधुआगीरी के समय मिलने वाले दो किलो धान के बदले अब उन्हें 20 रुपये की दिहाड़ी मिलती है। और माना जाये तो उनकी स्थिति पहले से बेहतर है क्योंकि तकनीकी रूप से अब वे एक ज्यादा ''उदार'' व्यवस्था के हिस्से हैं जहां उन्हें कोई काम करने के लिए मजबूर नहीं कर सकतावे अपनी मर्जी से काम करते हैं और नकद मजदूरी पाते हैं।

(अंग्रेजी साप्ताहिक 'आउटलुक' की एक रिपोर्ट के मुताबिक बसुमाडीह गांव के काशी महरा के पुरखे 100 साल से गांव के जमींदार के खेतों पर काम करते आ रहे थे। अचानक 1992 में एक दिन उसे पता चला कि अब मालिक के लिए काम करना उसकी मजबूरी नहीं रह गयी है। उस दिन काशी बहुत खुश और उत्साहित था। उसे विश्वास था कि चार जनों के अपने परिवार को पेट भर खाना खिलाने का उसका सपना अब पूरा हो जायेगा। लेकिन यह तब की बात थी। आज काशी टूट चुका है। उसकी आजादी प्रच्छन्न दासता में बदल चुकी है। चार साल में काशी और उसके परिवार ने दासतामुक्तिप्रच्छन्न दासता का चक्र पूरा कर लिया है। 1992 में वे मुक्त कराये गये और 1996 में वापस पुराने दुबेजी के भट्ठे और खेत में काम करने लौट आये। आज वह और उसकी पत्नी दुबे के भट्ठे पर 40 रुपये रोज पर काम करते हैं। कटाई के मौसम में दोनों दुबे के खेतों में मजदूरी करते हैं। काशी कहता है, ''बंधुआ थे तो पेट तो चलता था पर अब तो फ्री होने पर पेट भी नहीं चलता है। काम ही नहीं मिलता है। खाली पेट मुक्ति कैसी?'' महीने के ज्यादातर दिनों में काशी और उसकी पत्नी को काम नहीं मिलता और बच्चों सहित पूरा परिवार खाने को भी मोहताज रह जाता है। यह व्यथा-कथा अकेले काशी की नहीं है।

लेकिन आज हालत यह है कि जो लोग पुराने मालिकों के पास नहीं लौटे हैं वे भूखों मरने की हालत में हैं। देवघर की दो मजदूर मण्डियोंआजादपुर चौक और बजाला चौक में सैकड़ों की तादाद में ये ''मुक्त'' मजदूर रोज सुबह सात बजे से काम की तलाश में भीड़ लगाये रहते हैं। कुछ ही को रोज 45 रुपये की दिहाड़ी मिल पाती है। बाकी या तो वापस लौट जाते हैं या 20 रुपये रोज पर पुराने मालिकों के वहां वापस खटने चले जाते हैं।

सतरा गांव का बासुदेव महरा पिछले दस साल से हर रोज बजाला चौक पर अपना श्रम बेचने आता है। इससे पहले वह अपने मालिक नंदूजी का बंधुआ मजदूर था और सिर्फ डेढ़ किलो अनाज के बदले उनके खेत पर काम करता था। आज बासुदेव मुक्त है लेकिन अकसर उसे 45 रोज की दिहाड़ी भी नहीं मिलती। कभी-कभी बीस रुपये रोज पर बीड़ी बनाने का काम मिल जाता है। बासुदेव अपने मालिक के पास फिर नहीं लौटना चाहता। लेकिन वह कहता है, ''पापी पेट के लिए करना ही पड़ेगा।'' ऐसी हालत सिर्फ देवघर के इन ''मुक्त'' हुए मजदूरों की हो, ऐसा नहीं है। सामन्ती अर्द्धदासता या जमीन के छोटे से टुकड़े के बन्धन से मुक्त होकर श्रम के मुक्त बाजार में पहुंचे करोड़ों मजदूर ऐसे ही अस्तित्व के संकट से लड़ रहे हैं। पहले ग्रामीण क्षेत्र में इन मजदूरों को साल में सात-आठ महीने काम मिल जाता था। लेकिन आजकल खरपतवार नाशक रसायनों, रासायनिक खादों, ट्रैक्टर, थ्रेशर, ट्यूबबेल, हार्वेस्टर आदि के आ जाने से बड़ी मुश्किल से साल में एक-उेढ़ महीने ही काम मिल पाता है। इस पर भी मजदूरी की दर 25 से 30 रुपये से ज्यादा नहीं है जबकि खेतों में 10 से 12 घण्टे तक काम करना पड़ता है। यह मुसीबत इसलिए और भी बढ़ जाती है कि जो थोड़ा-बहुत काम मिलता भी है वह ज्यादातर मध्यम किसानों के यहां मिलता है जो खुद ही पूंजीवादी खेती के कारण तबाह और तंगहाल है। खाद-बीज-जोताई-बोवाई-सिंचाई-मड़ाई-ढुलाई आदि की महंगाई से मध्यम किसानों की कमर भी टूटी हुई है। हरियाणा और पंजाब के खेतों में भी अब पिछड़े इलाकों के मजदूरों के लिए काम पहले से काफी कम रह गया है।

ग्रामीण क्षेत्र के ईंट भट्ठा जैसे उद्योगों

आखिर ये तमाम ''मुक्तिदाता'' और ''उद्धारक'' करोड़ों मेहनतकशों की लूट और शोषण के विरुद्ध उंगली भी क्यों नहीं उठाते? बंधुआ मजदूरी के खिलाफ देश-विदेश में प्रचार अभियान चलाने और यहां-वहां कुछ सौ बंधुआ मजदूरों को ''मुक्त'' करा कर अखबारी शोशा उछालने के बजाय वे अपनी ताकत का एक छोटा सा भी हिस्सा पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के खिलाफ लोगों को संगठित करने में क्यों नहीं खर्च करते?

में भी मजदूरों का क्रूर शोषण होता है। पथेरा, ईंट पकाने वाले रेजा, कुली, मिस्त्री, गधों पर ईंट ढोने वाले आदि मेहनतकशों की मजदूरी भी बस जिन्दा रखने भर होती है। और इनमें भी काम मिलना मुश्किल होता जा रहा है।

रोजगार की तलाश में गांवों से कस्बों-शहरों और महानगरों की ओर जाने वाले मजदूरों की भारी तादाद के चलते वहां भी महीने भर दिहाड़ी मिलना दूभर हो गया है। देश भर के औद्योगिक क्षेत्रों में नर्क से भी बदतर हालात में जीते हुए करोड़ों मजदूर 40-45 रुपये की दिहाड़ी पर 12 से 16 घण्टे तक कमरतोड़ मेहनत करने को मजबूर हैं। लगातार बढ़ती बेरोजगार मजदूरों की भीड़ मालिकान को कम से कम मजदूरी पर ज्यादा से ज्यादा निचोड़ने का मौका दे रही है।

यह है मुक्त बाजार व्यवस्था की बर्बर, अमानवीय दुनिया में बंधुआ मुक्ति जैसे कार्यक्रमों की असलियत। वैसे तो बंधुआ रखने वाले मालिक भी पुराने सामन्त नहीं पूंजीवादी कुलक या फार्मर बन चुके हैं लेकिन पूंजीवाद को आज मुक्त श्रम की जरूरत है ताकि श्रम बाजारों में बढ़ती भीड़ उसे सस्ती से सस्ती दरों पर श्रमशक्ति मुहैया कराये। आरम्भिक पूंजीवाद के दिनों में यूरोप में बाड़ाबन्दी जैसे कदमों से सामन्तों की अर्द्धदासता से भारी संख्या में श्रमशक्ति को मुक्त कराया गया था ताकि शहरों के उद्योगों में 18-18 घंटे खटने के लिए मजदूर मुहैया हो सकें।

और बात सिर्फ इतनी ही नहीं है। हर पूंजीवादी व्यवस्था को भ्रम पैदा करने के लिए, अपनी असलियत पर पर्दा डालने के लिए और जनअसंतोष के दबाव को कम करते रहने वाले सेफ्टीवाल्व के रूप में काम करते रहने के लिए कुछ सुधारकर्मियों की जरूरत पड़ती ही रहती है। साम्राज्यवादियों के पैसे से चलने वाली स्वयंसेवी संस्थायें और सुधारवादी संगठन तथा सरकार के सुधारवादी कार्यक्रम यही करते हैं। यूनेस्को, यूनिसेफ और आई एल ओ भी यही कहते हैं पूंजीवादी सरकारें भी ''कल्याणकारी राज्य'' के दायित्वों का पालन करते हुए यही करती हैं। स्वामी अग्निवेश और दूसरे बंधुआ मुक्ति वालों से हमारा यह सवाल है कि क्या उन्होंने मुक्त कराये गये मजदूरों के हश्र के बारे में जानने की कोशिश की? क्या उन्होंने यह पता किया कि खुली बाजार व्यवस्था और आर्थिक नवउपनिवेशवादी नीतियों ने उन मजदूरों को लूट और बर्बर शोषण के किस नये दुश्चक्र में धकेल दिया है? क्या उन्होंने बंधुआ मुक्ति के अपने कार्यक्रम को पूंजी की इस नई गुलामी का समूल नाश करने की दिशा में आगे बढ़ाने के बारे में सोचा? आखिर ये तमाम ''मुक्तिदाता'' और ''उद्धारक'' करोड़ों मेहनतकशों की लूट और शोषण के विरुद्ध उंगली भी क्यों नहीं उठाते? बंधुआ मजदूरी के खिलाफ देश-विदेश में प्रचार अभियान चलाने और यहां-वहां कुछ सौ बंधुआ मजदूरों को ''मुक्त'' करा कर अखबारी शोशा उछालने के बजाय वे अपनी ताकत का एक छोटा सा भी हिस्सा पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के खिलाफ लोगों को संगठित करने में क्यों नहीं खर्च करते?

बंधुआ मजदूरी के बिकाऊ माल से अपनी दुकानें चमकाने में लगे लोगों से इसकी उम्मीद भी नहीं की जा सकती। लेकिन उन क्रान्तिकारी शक्तियों को क्या कहा जाये जो बंधुआ मुक्ति को सामन्तवाद विरोधी संघर्ष के रूप में देख रहे हैं और मुक्त बाजार व्यवस्था के सर्वव्यापी राज में भी भूमिहीनों को जमीनों के छोटे-छोटे टुकड़े बांटने को ही अपने भूमि कार्यक्रम का सर्वोपरि कार्यभार बनाये हुए हैं।

यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि हम बंधुआ मजदूरी को बनाये रखने का समर्थन नहीं कर रहे हैं। देश में आज भी कई जगहों पर खेतों-भट्ठो-पत्थर-खदानों में हजारों बंधुआ मजदूर अमानवीय हालात में काम कर रहे हैं। उन्हें इस दासता और बर्बर आर्थिक और आर्थिकेतर शोषण व अपमान से मुक्त कराना ही होगा। लेकिन यह काम अलग-थलग नहीं बल्कि मेहनतकशों की मुक्ति की व्यापक लड़ाई के एक अंग के रूप में ही हो सकता है।

जिस नंगी सच्चाई को एक व्यावसायिक पत्रिका का पत्रकार देख ले रहा है उसे अपने कठमुल्ला सूत्रों का दृष्टिरोधी चश्मा चढ़ाये हमारे ये क्रान्तिकारी बंधु नहीं पकड़ पा रहे हैं। खुली बाजार व्यवस्था में आज छोटे और मझोले किसान भी पूंजी की मार से उजड़कर भारी संख्या में ग्रामीण और औद्योगिक मजदूरों की कतारों में शामिल हो रहे हैं। आज अगर बंधुआ या भूमिहीन मजदूरों को जमीन के छोटे टुकड़े मिल भी जायें तो वे कितने दिनों तक उन्हें अपने पास रख पायेंगे। खाद-बीज-पानी-जोताई-बोवाई आदि के बढ़ते दामों के बावजूद अगर वह परिवार सहित जी-तोड़ मेहनत के दम पर खाने भर अनाज पैदा भी कर ले तो भी दूसरी आवश्यकताओं के लिए उसे बाजार में जाना ही पड़ेगा। और एक खराब फसल या प्राकृतिक आपदा उसे कर्ज के जाल में ऐसे धकेलेगी जिससे वह जमीन बेचकर ही निकल सकेगा। यह कहानी आज देश भर के गांवों में दोहराई जा रही है और इसे न देख पाने वाले लोग ग्रामीण क्षेत्रों में पूंजी और श्रम के बढ़ते ध्रुवीकरण को धीमा करने की कोशिशों के सिवा और कुछ नहीं कर रहे।

आज हमें श्रम की गुलामी के सभी रूपों के खिलाफ लड़ना है। और यह लड़ाई निजी सम्पत्ति की समूची व्यवस्था को मटियामेट करने की ही लड़ाई हो सकती है। गुलामी के एक नर्क से निकालकर दूसरी गुलामी के नर्क में छोड़ देने या श्रम की कतारों से कुछ को निकालकर थोड़े समय के लिए निजी मालिकाने के खेमे में डाल देने से किसका हित सध रहा है, इस पर सोचने की जरूरत है। ●

मुद्रा के लिए सर्वत्र होने वाली इस हाथापाई में छोटे लोग, छोटे दस्तकार या छोटे किसान ही सबसे ज्यादा घाटे में रहते हैं; होड़ में वे बड़े व्यापारियों या धनी किसानों से सदा पीछे रह जाते हैं। छोटे आदमी के पास कभी कुछ बचा नहीं होता। वह आज की कमाई को आज ही खाकर जीता है। पहला ही संकट, पहली ही दुर्घटना उसे अपनी आखिरी चीज तक गिरवी रख देने के लिए या अपने पशु को मिट्टी के मोल बेच देने पर लाचार कर देती है। किसी कुलक या साहूकार के हाथ में एक बार पड़ जाने पर वह शायद ही अपने को उसके चंगुल से निकाल पाए। बहुधा उसका सत्यानाश हो जाता है। हर साल हजारों-लाखों छोटे किसान और दस्तकार अपने झोपड़ों को छोड़कर, अपनी जमीन को मुफ्त में ग्राम समुदाय के हाथ सौंपकर उजरती मजदूर, खेत-बनिहार, बे-हुनर मजदूर, सर्वहारा बन जाते हैं। लेकिन धन के लिए इस संघर्ष में धनी का धन बढ़ता जाता है। ....जनता की गरीबी को दूर करने का एक ही रास्ता है—मौजूदा व्यवस्था को नीचे से ऊपर तक सारे देश में बदलकर उसके स्थान पर समाजवादी व्यवस्था कायम करना।

—लेनिन (गांव के गरीबों से)

विश्वव्यापी जासूसी तंत्र...

(पृष्ठ 76 का शेष)

'कार्निवोर' जैसी जासूसी शुरू कर दे।

इंटरनेट आज दुनिया में व्यापार, सूचना और मनोरंजन के लिए ही इस्तेमाल नहीं हो रहा है, साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के खिलाफ जगह-जगह संघर्षरत शक्तियां भी इसका ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल कर रही हैं। मेक्सिको में चियापास के जंगलों में जपाटिस्टा विद्रोही इसके जरिए दुनिया भर में अपनी बात पहुंचा रहे हैं। अनेक देशों में संघर्षरत भूमिगत संगठन इंटरनेट के माध्यम से लोगों तक पहुंच रहे हैं। तमाम मुल्कों के क्रान्तिकारियों के बीच संवाद भी बढ़ रहा है। खासकर विकसित देशों में आन्दोलनों-विरोध प्रदर्शनों आदि के लिए तालमेल करने में इसकी भूमिका बढ़ती जा रही है। इन देशों में बढ़ती बेरोजगारी, वर्गीय ध्रुवीकरण और आन्तरिक संकट गहराते जाने के साथ ही सरकारें ज्यादा से ज्यादा आक्रामक होती जा रही हैं। बुर्जुआ लोकतंत्र और स्वतंत्रता के तमाम मुखौटे उतर रहे हैं।

इंटरनेट पर तरह-तरह की बन्दिशें लगाने की तैयारी की जा रही है। पोर्नोग्राफी रोकने के नाम पर सख्त कानून बनाने और सरकारी दखल व सेंसरशिप लागू करने के लिए माहौल बनाया जा रहा है। पर यह तय है कि इंटरनेट पर पोर्नोग्राफी न केवल जारी रहेगी बल्कि बढ़ती जायेगी क्योंकि इस जहर के फैलाव में तो व्यवस्था का हित है। पर पोर्नोग्राफी के नाम पर बने कानूनों का इस्तेमाल आम लोगों की 'प्राइवेसी' में दखल देने और जनान्दोलनों व क्रान्तिकारी विचारों को दबाने-कुचलने के लिए किया जायेगा। उत्पीड़क व्यवस्था में हर काला कानून ऐसा ही होता है। हड़ताली मजदूरों और बेकसूर अल्पसंख्यकों पर टाडा लगाया जाता है, आन्दोलनकारी छात्रों को रासुका में बन्द किया जाता है पर हत्यारे, देशद्रोही, तस्कर, बलात्कारी छुट्टा घूमते रहते हैं।

पिछली सदी के अंतिम दशक में स्वतंत्रता के नये प्रतीक, बन्धनों से मुक्त संवाद-संचार के माध्यम के रूप में इंटरनेट का गुणगान किया जा रहा था। पर नई सदी की शुरुआत होते-होते यह मिथक टूट चुका है। एक बार फिर यह साबित हुआ है कि पूंजीवाद वैयक्तिक और सामूहिक स्वतंत्रता, निजता और अभिव्यक्ति की आजादी का सबसे बड़ा शत्रु है। ●

अमरीका की आपराधिक न्याय व्यवस्था

(पृष्ठ 74 का शेष)

टिमोथी पिछले पांच साल में इस शहर में पुलिस के हाथों मारा जाने वाला पन्द्रहवां अश्वेत युवक था। इस हिंसक विरोध ने 1992 में रोडनी किंग की हत्या के बाद लास एंजेल्स में भड़के उग्र विरोध प्रदर्शनों की याद दिला दी।

पिछले पांच वर्षों से पूरे अमेरिका में हर साल पांच अक्टूबर को पुलिस बर्बरता और दमन विरोधी राष्ट्रीय दिवस के रूप में मनाया जाता है जिसमें हजारों लोग प्रदर्शन और सभाओं में शामिल होते हैं। पिछले साल इस दिन साठ शहरों में प्रदर्शन हुए जिनमें हजारों की तादाद में काली आबादी, लैटिनों, आप्रवासी मजदूर और जनतंत्रप्रेमी श्वेत नागरिक भी शामिल हुए।

माओ ने कहा था कि ''जहां उत्पीड़न है प्रतिरोध भी वहीं हैं।'' आज अमेरिकी समाज इस सच्चाई का सबसे ज्वलन्त उदाहरण बना हुआ है। आने वाले दिनों में दैत्य के इस दुर्ग में और भी प्रचण्ड तूफान उठेंगे ही, यह निश्चित है।

- मीनाक्षी

फार्म 4

(नियम 8 के अन्तर्गत)

पत्रिका का नाम	- दायित्वबोध
प्रकाशन का स्थान	- गोरखपुर
प्रकाशन अवधि	- त्रैमासिक
मुद्रक का नाम	- विश्वनाथ मिश्र
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- एमआईजी 134, राप्तीनगर फेज एक, गोरखपुर
प्रकाशक का नाम	- विश्वनाथ मिश्र
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- एमआईजी 134, राप्तीनगर फेज एक, गोरखपुर
संपादक का नाम	- विश्वनाथ मिश्र
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- एमआईजी 134, राप्तीनगर फेज एक, गोरखपुर
उन व्यक्तियों के नाम	- विश्वनाथ मिश्र
व पते जो समाचारपत्र के स्वामी हों तथा समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	- एमआईजी 134, राप्तीनगर फेज एक, गोरखपुर

मैं, विश्वनाथ मिश्र, एतद् द्वारा घोषणा करता हूं कि मेरी अध्कितम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार सत्य ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

हस्ताक्षर
विश्वनाथ मिश्र
प्रकाशक

दिनांक : 1.3.2001

कौन उठाता है करों का बोझ

(पृष्ठ 76 का शेष)

व्यवहार में इसका नतीजा क्या हुआ? कार, एअरकंडीशनर, रंगीन टीवी, वीसीआर, फ्रिज जैसी विलासिता की चीजों पर उत्पाद शुल्क 24 से घटकर 16 प्रतिशत पर आ गया जबकि साबुन, मंजन, सस्ते वाशिंग पाउडरों से लेकर कई खाद्य पदार्थों जैसी आम इस्तेमाल की चीजों पर शुल्क 8 प्रतिशत से दोगुना बढ़कर 16 प्रतिशत हो गया।

पिछले एक दशक में उदारीकरण की नीतियों के तहत एक ओर जनता पर करों का बोझ तमाम तिकड़मों से बढ़ाया जाता रहा है, दूसरी ओर मीडिया में आक्रामक और झूठ से भरे प्रचार से ऐसा माहौल बनाया जा रहा है मानो देश की आर्थिक दुरवस्था का कारण शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि आदि में दी जाने वाली सब्सिडी ही हो। लेकिन इसकी कीमत पर हर बजट में देशी-विदेशी पूंजीपतियों को तरह-तरह की रियायतें और छूटें परोसी जा रही हैं। एक ओर सरकारी विशेषज्ञ और बुर्जुआ कलमघसीट दलील दिये जा रहे हैं कि सरकार का काम सरकार चलाना है, स्कूल, रेल, बस और अस्पताल चलाना नहीं, इसलिए इन सबको निजी पूंजीपतियों के हाथों में सौंप देना चाहिए। दूसरी ओर सरकार दोनों हाथों से आम लोगों से कर वसूलने में लगी हुई है। ●

साहित्य जन–जन के लिए

बोधि घरेलू पुस्तकालय योजना-2001

पुस्तकों को घर-घर तक पहुंचाने के संकल्प के साथ बोधि प्रकाशन प्रतिष्ठित लेखकों की स्तरीय साहित्यिक पुस्तकों का सेट 'आमंत्रण मूल्य' पर उपलब्ध करा रहा है। पाठक केवल 500 रुपये में अपना घरेलू पुस्तकालय बना सकते हैं और भविष्य में भी आधे मूल्य पर पुस्तकें प्राप्त कर इसे समृद्ध कर सकते हैं।

और जानकारी के लिए लिखें या मिलें :

बोधि प्रकाशन, 64, शान्ति निकेतन कालोनी
किसान मार्ग, बरकत नगर, जयपुर-302015, फोन 0141-591087

Capitalism and the Information Age

The Political Economy of the Global Communication Revolution

Edited by Robert W. McChesney, Ellen Meiksins Wood and John Bellamy Foster

Pages 256, Price Rs. 150 (PB), Rs. 250 (HB)
Payment by MO/DD only, Payable to :

Cornerstone Publications
P.O. Hijli Cooperative, Kharagpur-721306 (WB)

दायित्वबोध को शुभकामनाओं सहित

"समाज की दो आधार-शिलायें हैं, अर्थ का विभाजन और स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध। इनमें से यदि एक की भी स्थिति में विषमता उत्पन्न होने लगती हैं, तो समाज का सम्पूर्ण प्रासाद हिले बिना नहीं रह सकता।" – महादेवी वर्मा

प्रिमिता जैन

70, आर. के. पुरम
(राजलोक अस्पताल के सामने)
गाजियाबाद

"जब तब मानव-मानव का सुखभाग नहीं सम होगा
शमित न होगा कोलाहल, संघर्ष नहीं कम होगा।"

दायित्वबोध को शुभकामनाओं सहित

रूपम सिंह

रुस्तमपुर ढाला
गोरखपुर

हमारे नये प्रकाशन 2000–2001

कहानी-संग्रह

मैं नारी हूँ - 1 वर्तमान	विष्णु प्रभाकर	200.00
मैं नारी हूँ - 2 अतीत	विष्णु प्रभाकर	200.00
आखिर क्यों	विष्णु प्रभाकर	100.00
इक्कीस कहानियाँ	सूर्यबाला	200.00
इक्कीस कहानियाँ	रूपसिंह चंदेल	200.00
इक्कीस कहानियाँ	ज्ञानप्रकाश विवेक	200.00
दोपहर की धूप	अनिल कुमार सिन्हा	150.00
मुस्कान का जन्म	श्याम शर्मा	150.00
चर्चित कहानियां	कमलेश्वर	200.00
चर्चित कहानियां	निर्मल वर्मा	100.00
चर्चित कहानियां	रामदरश मिश्र	100.00
चर्चित कहानियां	राजेन्द्र अवस्थी	100.00

बीसवीं शताब्दी की हिंदी कहानियां (12 खंडों में) :

1 - स्वर्ग की झलक	सं॰ महेश दर्पण	250.00
2 - ध्रुव धारणा	सं॰ महेश दर्पण	250.00
3 - जुलेखा पुकार रही है	सं॰ महेश दर्पण	250.00
4 - धर्मयुद्ध	सं॰ महेश दर्पण	250.00
5 - बदलते रंग	सं॰ महेश दर्पण	250.00
6 - सहारा	सं॰ महेश दर्पण	250.00
7 - इंद्रधनुष	सं॰ महेश दर्पण	250.00
8 - सुरक्षा	सं॰ महेश दर्पण	250.00
9 - अपना रास्ता लो बाबा	सं॰ महेश दर्पण	250.00
10- पार्टीशन	सं॰ महेश दर्पण	250.00
11- सब कुछ करीने से	सं॰ महेश दर्पण	250.00
12- प्रमाण-पत्र	सं॰ महेश दर्पण	250.00

उपन्यास

खिड़की से झांकता है कौन?	राजकुमार सैनी	150.00
आवां (पुरस्कृत)	आलोक मेहता	250.00
सेनापति पुष्यमित्र-1 अभिषेक	सुशील कुमार	350.00
सेनापति पुष्यमित्र-1 अश्वमेघ	सुशील कुमार	350.00

पत्रकारिता

भारत : एक अंतहीन यात्रा	राजेन्द्र माथुर	200.00
सिंहासन का न्याय	आलोक मेहता	250.00
आस्था का आंगन (पुरस्कृत)	आलोक मेहता	150.00
इक्कीसवीं सदी और हिंदी पत्रकारिता	सं. अमरेंद्र कुमार निशांत सिंह	200.00

सभी पुस्तकों पर 20% की छूट, क्रय आदेश के लिए लिखें : फोन : (011) 3282733, 3270715

सामयिक प्रकाशन 3320-21 जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

प्रकाशन सिर्फ व्यवसाय नहीं, देश के सांस्कृतिक और शैक्षिक विकास में भागीदारी भी है

शिक्षा की पुस्तकें

बारबियाना स्कूल के बच्चे
अध्यापक के नाम पत्र 150.00

कृष्ण कुमार
शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व 125.00

रवींद्रनाथ ठाकुर
रवींद्रनाथ का शिक्षादर्शन 150.00

जोनाथन कोज़ोल
क्रांति की बारह खड़ी 200.00

पाओलो फ्रेरे
प्रौढ़ साक्षरता 125.00

मार्टिन कारनॉय
सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और शिक्षा 350.00

जॉन डिवी
शिक्षा और लोकतंत्र 300.00

नरिंदर सिंह
संस्कृति, शिक्षा और लोकतंत्र 125.00

गैरेथ बी. मैथ्यूज
बच्चों से बातचीत 125.00

जार्ज डैनीसन
बच्चों का जीवन 225.00

मरिया मांटेसरी
ग्रहणशील मन 225.00

बीट्रीस एवॉलास
गरीब बच्चों की शिक्षा 200.00

रामशरण जोशी
आदिवासी समाज और शिक्षा 200.00

मूनिस रज़ा
शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम 200.00

पाओलो फ्रेरे
उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र 150.00

सिल्विया एश्टन वॉरनर
अध्यापक 150.00

न्गुगी वॉ थ्योंगो
औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति 185.00

सुसांत गुणतिलक
पंगु मस्तिष्क 450.00

अंतोन मकारेंको
शिक्षा की महागाथा (तीन का सेट) 985.00

साधना सक्सेना
शिक्षा और जन आंदोलन 275.00

अनिल सद्गोपाल
शिक्षा में बदलाव का सवाल 425.00

परमेश आचार्य
देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प 275.00

कृष्ण कुमार
शिक्षा और ज्ञान 150.00

जेम्स ब्रिटन
भाषा और अधिगम (प्रकाश्य)

विस्तृत जानकारी के लिए लिखें
ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, जी-82, विजय चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092

''महान काम सामने हैं, किन्तु करने वालों का टोटा है। चरणों में यह गूंज पहुंचने दीजिये कि टूटी पतवार, फटी बादबान और बिना फल की आशा के यह जर्जर नौका बीच धार में डाल दी गयी है। यह देखते हुए कि बहाव जोरदार है, भंवर बड़े हैं और दो टिमटिमाती लालटेनों के सिवाय साथ में कुछ नहीं है। यदि आप वृद्ध हैं तो परामर्श लेकर, यदि आप युवक हैं तो बल लेकर आइये। इसलिए दौड़िये कि इस नौका में आपका सबकुछ रखा है और यदि आवश्यक है तो इसे डूबने न दीजिये।''

माखन लाल चतुर्वेदी

('कर्मवीर' के पहले अग्रलेख में, 1920)

दायित्वबोध के एक शुभचिन्तक की ओर से

दायित्वबोध के मिशन का एक हमसफर

ऋतुम

डी-9, मीरा मार्ग, बनी पार्क

जयपुर

दायित्वबोध

हिन्दी में अपने ढंग की अकेली पत्रिका

हर अंक में संग्रहणीय सामग्री

पिछले अंकों में प्रकाशित कुछ महत्वपूर्ण सामग्री

नवम्बर'95–फरवरी'96

• साम्राज्यवाद आज भी कागजी बाघ है (भूमंडलीकृत पूंजीवाद के चरित्र और उसके अन्तर्निहित संकट का विस्तृत विश्लेषण) • सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति : *लेनिन* • जनवादी केन्द्रीयता का सवाल : *माओ त्से-तुङ* • शिखर पर रुदन : आत्मविश्लेषण और आत्म आलोचना से आत्म-भर्त्सना तक पश्चिम की विचारयात्रा • आइजेंस्टाइन और '*पूंजी*' पर फिल्म बनाने की योजना • माओ और सुरजीत पातर की कविताएं

मार्च–अगस्त 1996

• *रेमण्ड लोट्टा का महत्वपूर्ण लेख :* माओवादी नियोजन का सिद्धान्त और व्यवहार : एक स्वप्नदर्शी और व्यावहारिक समाजवाद के पक्ष में • भाषा, इतिहास और वर्ग संघर्ष • आज के दौर में नारीवादी लेखन : कुछ अहम सवाल, कुछ बुनियादी समस्याएं • *हावर्ड फास्ट के विश्वविख्यात उपन्यास* 'दि अमेरिकन' के अंश

सितम्बर–अक्टूबर 1996

• मार्क्स और पर्यावरण • क्रान्ति का विज्ञान • विज्ञान, कला और अधिरचना—*एमिल बर्न्स* • ताचाई की कहानी • 'जनवाद' का विभ्रम और सर्वहारा अधिनायकत्व

नवम्बर'96–फरवरी'97

समाजवाद के सिद्धान्त और प्रयोग, समस्याओं और चुनौतियों पर *विशेष सामग्री*

• माओ के अमर अवदान और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की युगान्तरकारी शिक्षाएं • स्तालिन : एक मूल्यांकन • स्तालिन के समय में सोवियत समाजवाद • रूसी क्रान्ति का मूलभूत अभिप्राय—*रोजा लक्ज़ेमबर्ग* • सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति क्या, क्यों और किस प्रकार • सोलहसूत्रीय सर्कुलर • सांस्कृतिक क्रान्ति के सैद्धान्तिक आधार के बारे में—*जार्ज थामसन* • कला में विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु और यथार्थवाद पर मार्क्स-एंगेल्स • पाब्लो नेरूदा और माओ त्से-तुङ की कविताएं

मार्च–जून 1997

• मजदूर आन्दोलन पर कुछ सवाल
• पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएं
• सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे • सूचना क्रान्ति का सच

जुलाई–अक्टूबर 1997

• एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी • *रेमण्ड लोट्टा का लेख :* माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य
• *चाङ चुन-चियाओ का लेख:* बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में
• *सेर्गेई आइजेंस्टाइन का लेख:* कला का मनोविज्ञान • मार्क्सवाद के विरोध में ''नव'' दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद के नये-नये मिथक

नवम्बर '97–फरवरी '98

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की अट्ठाइस कविताएं व ब्रेष्ट पर मोहन थपलियाल का लेख • गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों का असली चरित्र • मदर टेरेसा और उनके उत्तराधिकारियों का ''मिशन'' : सेवा का सच • महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज • माओ त्से-तुङ की कविताएं

मार्च–जून 1998

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांगेस में प्रस्तुत रिपोर्ट • 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की 150वीं वर्षगांठ पर

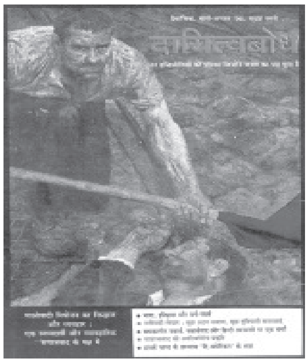

विशेष लेख • ग्राम्शी का लेख 'बुद्धिजीवी' • पूंजीवाद की पूंजीवादी समालोचना के निहितार्थ
• मदर टेरेसा : मिथक और यथार्थ
• शशि प्रकाश की पच्चीस कविताएं

जुलाई–दिसम्बर 1998

ब्रेष्ट, लोर्का और रॉबसन की जन्मशती के अवसर पर विशेष सामग्री :
• बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थियेटर
• लोर्का की कविताएं • लोर्का पर नेरूदा की कविता • रॉबसन पर नाजिम हिकमत की कविता
• पीकस्किल में पॉल रॉबसन
• उत्तर- औपनिवेशिक सिद्धान्त और 'उत्तर' -अवस्था : *एजाज अहमद*
• गैर सरकारी संगठनों का असली मिशन • भूण्डलीकरण और सामाजिक विज्ञान • माओकालीन चीन में मार्क्सवाद : *जार्ज थामसन*
• हेनरिख हाइने, फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ, जार्ज वेयेर्थ और पाब्लो नेरूदा की कविताएं

जुलाई–सितम्बर 1999

• स्वयंसेवी संगठनों और दाता-एजेंसियों का नेटवर्क : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र
• तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढांचा • भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न • कम्युनिस्ट लीग (1847-1852) का इतिहास • बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति 'थियेटर का एक संक्षिप्त तर्कशास्त्र'

अक्टूबर–दिसम्बर 1999

• जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियां • ''उदारीकरण'' के आठ वर्ष • *चीनी क्रान्ति की अर्द्धशती पर* 'बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता'
• बुर्जुआ से सर्वहारा क्रान्ति की ओर : *जार्ज थामसन* • मूलाधार और अधिरचनाओं के सम्बन्ध के बारे में : *वी.एन. वोलोशिनोव* • भारत, बांग्लादेश, पाकिस्तान के विद्रोही कवि काजी नजरुल इस्लाम
• *इस्तवान मेस्जारोस* की चर्चित कृति 'बियॉण्ड कैपिटल' की समीक्षा

जनवरी–मार्च 2000

• कम्युनिस्ट घोषणापत्र की स्मृति में : *अंतोनियो लाब्रियोला* और *रेमंड लोट्टा* के महत्वपूर्ण लेख • जार्ज लुकाच के विरोध में : ब्रेष्ट • कहां हैं हमारी भाषा के वे कारीगर हाथ : *आलोक श्रीवास्तव* • माओवादी चीन में स्त्रियां • महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज और लेख
• नजरुल की कविता 'विद्रोही'
• नये वर्ष में हड़तालों की लहर और इसकी विफलता के सबक

जुलाई–सितम्बर 2000

आपातकाल के कुछ अनुत्तरित यक्ष-प्रश्न और हमारा समय *हांस आइसलर* का लेख एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता समाजवादी काल में वर्ग संघर्ष के नियम • स्त्री मुक्ति का राजनीतिक अर्थशास्त्र • महत्वपूर्ण होती है आम जनता : एक गणितज्ञ की आस्था

जनवरी–मार्च 2001

इतिहास के लिए कुछ कार्य-स्थगन प्रस्ताव • हिटलर के वंशजों का खतरनाक अभियान •औपनिवेशिक भारत में लोकभाषाओं एवं लिपियों का शिक्षा व्यवस्था से निष्कासन
•सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याओं पर माओ का लेख • राष्ट्रीय सवाल पर जार्ज थामसन का लेख • हांस आइसलर का विचारोत्तेजक इंटरव्यू 'मजदूर वर्गीय संगीत की समस्याएं'
• इतिहास कुण्डलाकार गति से आगे बढ़ता है

पत्रिका के पुराने अंकों के लिए लिखें :

प्रसार व्यवस्थापक
दायित्वबोध
81, समाचार अपार्टमेंट
मयूर विहार फेज-1
दिल्ली-110091

प्रत्येक अंक का मूल्य : पन्द्रह रुपए

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकें

मां
मक्सिम गोर्की का अमर उपन्यास
पृष्ठ 448 ● 70 रुपये

शहीदेआजम की जेल नोटबुक
एक महान विचारयात्रा का दुर्लभ साक्ष्य ● भारतीय इतिहास का एक दुर्लभ दस्तावेज ● भगतसिंह की शहादत के 68 वर्ष बाद हिन्दी में पहली बार प्रकाशित ❑ पृष्ठ 200 ● 50 रुपये

विचारों की सान पर
भगतसिंह और उनके साथियों के चुने हुए दस्तावेज़, पत्र और वक्तव्य ❑ पृष्ठ 104 ● 20 रुपये

माओ त्से-तुङ की कविताएं
राजनीतिक पृष्ठभूमि सहित विस्तृत टिप्पणियों के साथ
अनुवाद एवं सम्पादन : ***सत्यव्रत*** ❑ पृष्ठ 96 ● 20 रुपये

चिरस्मरणीय
कय्यूर के किसान आन्दोलन के शहीदों पर लिखा **निरंजन** का प्रसिद्ध कन्नड़ उपन्यास, अनुवाद : ***रामकृष्ण पाण्डेय*** ❑ पृष्ठ 168 ● 35 रुपये

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट : इकहत्तर कविताएं और तीस छोटी कहानियां
मूल जर्मन से अनुवाद : ***मोहन थपलियाल*** ❑ पृष्ठ 148 ● 60 रुपये

लहू है कि तब भी गाता है
(**पाश** के सभी संग्रहों से चयनित प्रतिनिधि कविताओं का संकलन)
संपादक : ***चमनलाल एवं कात्यायनी*** ❑ पृष्ठ 176 ● 75 रुपये

चुनी हुई कहानियां : मक्सिम गोर्की (पहला खण्ड)
पृष्ठ 168 ● 35 रुपये

पांच कहानियां : पुश्किन ❑ पृष्ठ 96 ● 20 रुपये

दो अमर कहानियां : लू शुन ❑ पृष्ठ 96 ● 20 रुपये

श्रेष्ठ कहानियां : प्रेमचंद ❑ पृष्ठ 96 ● 20 रुपये

तीन कहानियां : गोगोल ❑ पृष्ठ 144 ● 30 रुपये

दुर्ग द्वार पर दस्तक
कात्यायनी ❑ पृष्ठ 152 ● 50 रुपये (द्वितीय संशोधित संस्करण)

माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य
रेमण्ड लोट्टा के दो महत्वपूर्ण लम्बे लेखों का संकलन
पृष्ठ 104 ● 25 रुपये

समर तो शेष है...
इप्टा के दौर से आज तक के प्रतिनिधि क्रान्तिकारी समूहगीतों का अनन्य संकलन ❑ पृष्ठ 144 ● 35 रु. रुपये

क्रान्ति का विज्ञान
लेनी वुल्फ ❑ पृष्ठ 36 ● 10 रुपये

अब इंसाफ होने वाला है
उर्दू की प्रगतिशील कहानियों का प्रतिनिधि संकलन
संपादक : ***शकील सिद्दीकी*** ❑ पृष्ठ 248 ● 75 रुपये

मध्यवर्ग का शोकगीत
हान्स माग्नुस एंत्सेंसबर्गर की कविताएं
सम्पादन एवं अनुवाद : ***सुरेश सलिल*** ❑ पृष्ठ 72 ● 25 रुपये

राहुल फाउण्डेशन के प्रकाशन

माओ त्से-तुङ की रचनाओं के उद्धरण 35 रुपये

Quotations from Mao Tse-Tung 40 रुपये

पार्टी साहित्य और पार्टी संगठन —***लेनिन*** 15 रुपये

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद —*वी. अदोरात्सकी* 15 रुपये

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (दो खण्डों में)
(दि शंघाई टेक्स्टबुक आफ पोलिटिकल इकॉनमी) प्रत्येक खण्ड : 60 रुपये

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र
—*कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स* 10 रुपये

बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में —*चाङ चुन-चियाओ* 3 रुपये

मई दिवस का इतिहास —*अलेक्जेण्डर ट्रैक्टनबर्ग* 3 रुपये

अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन —*एल्बर्ट रीस विलियम्स* 75 रुपये

दायित्वबोध पुस्तिका श्रृंखला

अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं
—*दीपायन बोस* 10 रुपये

समाजवाद की समस्याएं, पूंजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति —*शशिप्रकाश* 12 रुपये

क्यों माओवाद —*शशिप्रकाश* 10 रुपये

बिगुल पुस्तिका श्रृंखला

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा
—*वी.आई. लेनिन* 5 रुपये

मकड़ा और मक्खी —*विल्हेल्म लीब्कनेख्त* 2 रुपये

ट्रेडयूनियन काम के जनवादी तरीके
—*सर्जी रोस्तोवस्की* 2 रुपये

राहुल फाउण्डेशन एवं परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकों के मुख्य वितरक :

जनचेतना

डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन (0522) 788932
email : janchetna@rediffmail.com
(व्यक्तिगत प्रतियों के लिए 17 रुपए रजिस्ट्री शुल्क जोड़कर ड्राफ्ट या एम.ओ. भेजें या वीपी से मंगायें)